मनोजगत् की सैर

मनमोहन चौधरी

सर्व सेवा संघ प्रकाशन
राजघाट, वाराणसी

प्रकाशक मन्त्री, सर्व सेवा संघ
राजघाट, वाराणसी-१
संस्करण पहला
प्रतियाँ ३ अप्रैल, १ ६१
मुद्रक ओमप्रकाश कपूर
ज्ञानमण्डल लिमिटेड
वाराणसी (बनारस) ६७८ २१

Title M NOJAGAT KI SAIR
Autho Manmohan Choudhury
Subject Psychology
Publisher Secretary
Sarva Seva Sangh
Rajghat Varanasi
Price Rs [illegible].00

लेखक का निवेदन

यह किताब लिखने के बारे मे मेरे मन मे एक बडी उलझन थी। मनोविज्ञान, समाज-विज्ञान आदि मे मेरी दिलचस्पी पैदा हुई और उनका अध्ययन मैं करता गया, तो अपने नित्य-जीवन मे तथा सार्वजनिक सेवा के क्षेत्रो मे इन विज्ञानो की उपयोगिता और महत्त्व मेरे मन मे अधिक दृढ और गहरा होता गया। मुझे लगा कि इनकी रोशनी हरएक के पास पहुचनी चाहिए। इसके लिए मनोविज्ञान पर एक किताब लिखने की प्रेरणा हुई।

पर साथ-साथ मै जानता था कि मै इस विषय का अधिकारी नही हूँ। आजकल विज्ञान की हरएक शाखा विशाल बन गयी है। दुनियाभर मे हजारो विद्वान् उसकी एक-एक शाखा के अन्तर्गत विषयो के शोध मे लगे हुए है। इस तरह जो नित्य-नया ज्ञान एकत्रित हो रहा है, उस सारी ज्ञान-राशि को हजम करके उसमे से कुछ सार निकालना जीवनभर उसीमे लगे हुए विशेषज्ञो के लिए भी आसान काम नही है। फिर मेरे जैसे हरफन मौला का, जिसने सारे विषय को केवल ऊपर-ऊपर से ही देखा है, इस प्रकार की किताब लिखना गुस्ताखी ही न होगी ?

फिर भी मै लिखता ही रहा। आखिर उसके पक्ष मे एक विचार सूझा, जिससे सारी उलझन मिट गयी। मुझे लगा कि मनो-विज्ञान के राज्य मे अपने प्रवास का एक विवरण मुझे लिखना है। कोई मुसाफिर दुनिया देखने के लिए निकलकर किसी नये देश मे पहुचता है, तो वहाँ के अनोखे अनुभव अपने मित्रो को सुनाता है। वहाँ के बाशिन्दे, रीति-रिवाज, व्यापार, धधे, पशु-पक्षी आदि का वर्णन करके किताब लिखता है। उस देश का जितना अनुभव और जितनी तफसील की जानकारी उस देश के नागरिको और विद्वानो को होती है, उसका सौवाँ हिस्सा भी इस मुसाफिर को नही होता। उसकी मुसा-फिरी की कहानी गैजेटीयर नही होती, जिसमे उस देश के महत्त्वपूर्ण तथ्यो का अधिकृत वर्णन हो। फिर भी उसका उपयोग है। गैजेटीयर के

बनिस्बत सर-सपाट की कहानिया मे लोगो को ज्यादा रस आता है। उन कहानिया क जरिये उस दश क बारे म अन्य लोगा म कुतूहल पदा होता है। व भी वहाँ सर करन आत है तो कम-स-कम वहाँ क व्यापार धध क बढने म मदद होती है। किसीम अधिक दिलचस्पी पदा हुई ता उस दश म सवा क लिए वह बस सकता है उसक साथ व्यापार या सम्बध जोड सकता है या उसक जीवन के किसी पहलू क गहरे अध्ययन म लग सकता है।

इसी तरह मेरी यह किताब एक प्रवास की कहानी ह। मनाजगत की जा सर मन की उसकी कहानी मन दूसरा क लिए लिख डाली ह। इसम मरी अपनी दिलचस्पी क मुताबिक कोई तथ्य आया ह तो काइ छूट भी गया है। पर मुझ उम्मीद ह कि इस पढकर औरा का मनाजगत् की सर करने की इच्छा हागी और उससे उनका जरुर लाभ मिलगा। विद्वाना की किताबा की माँग भी बढ सकगी इसलिए मुझ यह भी उम्मीद ह कि वे मरी इस अनधिकार चप्टा क लिए मुझ कोसने क बदल मरा आभार मानगे।

यह किताब मन अपन देश क सामान्य नागरिक का ध्यान म रखकर लिखन की काशिश की ह। वज्ञानिक ज्ञान का फलाव इस दश म बहुत कम हुआ ह और इसलिए सामान्य नागरिक स उन विषया क जानकार हान की अपक्षा नही की जा सकती जा दूसरे उन्नत दशा म सर्वसामान्य हा इसलिए पहल दा अध्याया म मन आधुनिक विज्ञान क सन्दभ म सारी सामग्री प्रस्तुत करन की दृष्टि स एसे विषया की चर्चा की है जा सामान्यतया मनाविज्ञान की किताबा म नही हान। म मानता हू कि इसम इस विज्ञान की आधुनिक पृष्ठभूमि का समझन म मदद हागी।

मनाजगत् की सर करन म मुझ डा राधानाथ रथ डॉ पारस नाथ मिश्र आदि मित्रा स काफी मदद और सुझाव मिल है। श्री सुमन दासगुप्त और डा० विश्वबधु चटर्जी न जा प्रात्साहन दिया तथा कई मित्रा न इसम जो दिलचस्पी ली उसस मुझ बल मिला। खासकर श्री नारायणभाई दसाई क कहन पर मुझ उसम अपन बनाय हुए कुछ रेखाचित्र जाडन का विचार सूझा। इन चित्रा क कारण

किताब के प्रकाशन मे भी कुछ देर हुई । गाधी - विद्या - स्थान के श्री जी० आर० एस० राव ने बहुत मेहनत करके किताब को प्रेस के लिए तैयार किया है । सर्व सेवा सघ के सेवक सर्वश्री गायत्रीप्रसाद, सुखदेव और मणिलाल ने सारी पाडुलिपि को बार-बार टाइप किया है । गाधी-विद्या-स्थान ने इसे प्रकाशित कराने मे सहायता की है और सर्व सेवा सघ प्रकाशन ने उसे सुचारु रूप मे प्रकाशित करने मे पर्याप्त दिलचस्पी ली है । मैं इन सबका आभारी हूँ ।

—मनमोहन चौधरी

आमुख

आज के सामाजिक चितन में मनोविज्ञान का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। मनोविज्ञान पर हिन्दी में लिखी पाठ्य-पुस्तकों की सख्या तो काफी हो गयी है पर जनसामान्य की रुचि के लिए इस क्षेत्र में पठन सामग्री का अभाव है। डॉ मनमोहन चौधरी की प्रस्तुत पुस्तक मनोजगत् की सैर इसी आवश्यकता की पूर्ति में एक महत्त्वपूर्ण प्रयास है। लेखक ने डेल कार्नेगी की शैली में मनोविज्ञानिक तथ्यों को जनसाधारण तक पहुँचाने का प्रयास किया है। निश्चय ही इसमें पाठक को अपने अन्तर्मन को जानने अथवा आत्मसाक्षात्कार की दिशा में सहायता मिलेगी।

पुस्तक की विषय-सूची किसी पाठ्य-पुस्तक के आधार पर नहीं है जिससे कुछ अध्यायों के शीर्षक नये हैं। यद्यपि इन अनुभूतियों का विवेचन मनोविज्ञान की अन्य पुस्तकों में यत्र-तत्र आता है। विषयों की विविधता से सम्भवत पाठक की रुचि पुस्तक में स्वाभाविक रूप से बनी रहेगी। पुस्तक में समाविष्ट कुछ समकालीन समस्याएँ पूरे मानव-समाज की हैं तथापि भारतीय सन्दर्भ में उनका अध्ययन हमारे लिए महत्त्वपूर्ण लगता है—जैसे विरोध व तनावों का निरसन नेतृत्व की समस्या साम्प्रदायिक दंगों का प्रतिकार आदि। इन विषयों का दायित्वपूर्ण विवेचन विश्व शान्ति के उपायों में बुद्धिजीवियों के योगदान का एक रूप है।

लेखक ने सामाजिक सन्दर्भ में मानवीय व्यवहारों को समझने का प्रयत्न किया है। विभिन्न शास्त्र जैसे नीतिशास्त्र राजशास्त्र अर्थशास्त्र समाजशास्त्र मानव विज्ञान आदि ने मानव-स्वभाव सम्बन्धी कुछ मूल सिद्धान्तों को आधाररूप में ग्रहण करके अपने निष्कर्षों की स्थापना की है परन्तु स्वयं इस मानव-स्वभाव की उत्पत्ति के आधार क्या हैं इस मौलिक समस्या का अध्ययन मनोविज्ञान विशेषतया समाज मनोविज्ञान में किया जाता है। सामाजिक व्यवहारों के आधार सर्वदा मनोवैज्ञानिक हुआ करते हैं। प्रस्तुत पुस्तक में

इस मौलिक तथ्य का समझाने के लिए विभिन्न सममामयिक समस्याओं का निरूपण किया गया है। एक ओर तो मानव-व्यक्तित्व को समझने के लिए व्यक्तित्व-संरचना के कुछ महत्त्वपूर्ण पहलुओं जैसे, अनुभवों का संगठन, वृत्तियाँ और प्रेरणाएँ, अचेतन मन, आत्मरक्षा-तन्त्र, मानसिक विकार, रागात्मक वृत्तियाँ आदि का विवेचन किया गया है तो दूसरी ओर सामाजिक व्यवहारों के सन्दर्भ में कुछ महत्त्वपूर्ण विषयों का। व्यक्ति और समाज की अन्योन्याश्रितता, व्यक्ति का समाज में विकास, नेतृत्व की समस्या, विरोध और तनाव की समस्या, भीड़ आदि में समूहगत व्यवहार, सामाजिक विघटन के तत्त्व जैसे जाति, धर्म, भाषा और क्षेत्र के आधार पर विभक्तीकरण तथा साम्प्रदायिक दंगों की समस्याओं, प्रान्त के निरूपण के द्वारा राष्ट्र के सम्मुख उपस्थित जटिल समस्याओं के समाधान की तात्कालिक आवश्यकता की ओर सभी सम्बद्ध पक्षों का ध्यान पुस्तक के पठन से जायगा, ऐसी अपेक्षा की जा सकती है।

'इन्सान को हमेशा समाज की जरूरत होती है', यह धारणा और दृष्टि लेखक की रही है, जिस प्रकार किसी एक मान्यता या दृष्टि से हमारे अन्य मानसिक अनुभवों को एक विशिष्ट रंग मिलने लगता है, उसी प्रकार एक स्वस्थ सामाजिक दृष्टि रखने पर सामाजिक विज्ञानों की अध्ययन-शैली को भी एक विशिष्ट दिशा मिलने की आवश्यकता और सम्भावना है, इसे भारतीय परम्परा के अनेक विचारक अनुभव करते हैं। श्री चौधरी के 'मनोजगत्' में इस दिशा में कार्यारम्भ हुआ है। अन्य लोगों के लिए यह प्रेरणादायक होगा। अन्तर्मानवीय तादात्म्य, जिसमें भय व सन्देह न हो तथा स्वत प्रवाही एवं यथार्थ सम्बन्धों पर लेखक ने जोर दिया है। औपचारिकता, संकुचित आधारों व स्वार्थों पर बने तालमेल तथा दकियानूसी परिपाटी के बन्धनों की असामाजिकता को दिखाने का प्रयास लेखक की लोक-सेवा से विकसित व्यापक दृष्टि का सूचक है। यहाँ एक गम्भीर प्रश्न आता है कि क्या सामाजिक विचारकों को शास्त्रों के मनन के अतिरिक्त विस्तृत लोक-सम्पर्क का अनुभव आवश्यक नहीं हो जाता?

पुस्तक के कुछ निष्कर्ष सामान्यीकरणों को सैद्धान्तिक मनोवैज्ञानिक चुनौती दे सकते हैं। परन्तु जैसा लेखक ने समझा है और जो उसे

अनुभूत है वही कहा है । इससे मनोविज्ञानिक के लिए नयी समस्या उपस्थित हो जाती है कि वह जो कहता है, वह किस हद तक और किस रूप में बोधगम्य हो पाता है । ज्ञान-सचरण की इस समस्या की ओर मनोविज्ञानिक सचेष्ट हो तो अच्छा है ।

पुस्तक में भाषा प्रयोग में हिन्दी का सरलतम रूप—यहाँ तक कि बोलचाल की भाषा—लक्ष्य और साधन की सगति दर्शाता है । चित्रो रेखाचित्रो एव उदाहरणो के सहारे यथास्थल कठिन विषयो को भी सुगम ढग से उपस्थित करने के उपक्रम से उनकी बोधगम्यता बहुत बढ गयी है ।

इस प्रकार श्री मनमोहन चौधरी ने प्रस्तुत पुस्तक की रचना द्वारा भाषा शैली व विषय वस्तु की दृष्टि से एक साथ ही हिन्दी मनोविज्ञान और राष्ट्र तथा समाज की सेवा की है ।

काशी विद्यापीठ
सौर १ वैशाख स २०२६ वि

—राजाराम शास्त्री

अनुक्रम

खण्ड १. विकास

खण्ड २ मानस-प्रेरणाएँ

खण्ड ३ व्यक्ति और समाज

खण्ड ४ नेतृत्व और अपराध



मनोजगत् की सैर

१
विकास



आधुनिक विज्ञान की भूमिका : विकासवाद : १ :

आज से लगभग सौ साल पहले दुनिया में एक बडा रोचक वाद-विवाद चल रहा था। इंग्लैण्ड के कोयले की तथा पत्थरों की खानों मे काम करने-वाले मजदूरों को समय-समय पर अजीब ढग की हड्डियाँ मिलती थी, जो पत्थर की-सी थीं और उस देश के किसी जीवित जानवर की हड्डियों की शकल से उनकी शकल मिलती नही थी। कुछ तो बेहद बडी थी, इतनी बडी कि मानो किसी राक्षस की हो।

मजदूर भी अक्सर इनको आश्चर्य के साथ देखते थे, अडोस-पडोस के लोगो को दिखाते थे, फिर यह कहकर उन्हें फेक देते थे कि पुराने जमाने के राक्षसों की ही हड्डियाँ होंगी।

धीरे-धीरे ऐसे कुछ लोगो को इनका पता लगा, जिनको अजीब सनक थी। किसी सवाल के सीधे सादे जवाब से उनका समाधान नही होता था। बनी-बनायी धारणाओं को वे मानने के लिए तैयार नही थे। हर चीज की बारीकियों मे जाकर कुछ नयी रोशनी ढूँढने की कोशिश में रहते थे। इन लोगो ने इन पथरीली हड्डियों की बहुत छानबीन की। पत्थर और ककरा की भी छानबीन की। फिर बताया कि ये करोडो साल पहले के जानवरो की हड्डियाँ हैं, जिनका निशान धरती पर मिट चुका है।

फिर इन सबूतों के तथा और कई क्षेत्रों से मिले दूसरे अनेक सबूतों के आधार पर डारविन का 'विकासवाद' का सिद्धान्त खडा हुआ, जो कहता है कि करोडो साल पहले दुनिया में अत्यन्त सरल आकृति के जीवों से 'जीवन' का आरम्भ हुआ और वहाँ से बदलते-बदलते करोडों सालों में आज के अनगिनत प्रकार के जीव-जतुओं की—जानवर, परिंदे, कीडे, मकोडे, जतु आदि की—सृष्टि क्रमशः विकास के द्वारा हुई। मनुष्य का भी विकास इसी सिलसिले में हुआ। एक जमाने में मनुष्य जैसा कोई प्राणी धरती पर नहीं था। फिर ऐसा जानवर आया, जिसकी सूरत और बनावट कुछ मनुष्यों से, तो कुछ बन्दरों से मिलती थी।

जब यह विचार दुनिया के सामने रखा गया, तब इसको लेकर भयानक विरोध और अनेक वाद-विवाद खड़े हुए। जानवरों के साथ मनुष्यों का किसी प्रकार के दूर का भी आनुवंशिक सम्बन्ध है, इस विचार से कइयों के आत्म सम्मान को गहरी चोट लगी। बहुत सारे लोगों की धार्मिक मान्यता थी कि ईश्वर ने जानवरों के नर तथा मादा की जोडियाँ बनाकर दुनिया मे रख दी थीं और तभी से सृष्टि चालू

हुए। उनके धार्मिक ग्रंथों में इस प्रकार का विवरण दिया गया था। इसमें श्रद्धा रखनेवालों को लगा कि इससे हमारे धर्म की बुनियाद ही ढह रही है। यह तो ईश्वरीय ग्रंथों का अस्वीकार करना है, नास्तिकता है।

जब ऐसे धार्मिक लोगों से पूछा गया कि फिर आप ही बताइए कि ये हड्डियाँ कहाँ से आयीं, तो उनमें से कुछ होशियार और विद्वान् लोगों ने यह जवाब दिया कि ईश्वर ने हमारी श्रद्धा को जाँचने के लिए ही ऐसी लीला रची है! ईश्वर ने ऐसी चीजें यह देखने के लिए बनायी हैं कि इनको देखकर हम भुलावे में आते हैं या उन्होंने हमें जो धर्म का ज्ञान दिया है, उस पर दृढ रहते हैं।

दुनिया के किसी अँधेरे कोने में इस वाद-विवाद का कुछ शेष आज शायद रहा हो, पर विश्वव्यापी ज्ञान-विज्ञान के राज्य में विकासवाद आज सर्वमान्य हो चुका है। यद्यपि उस सिद्धान्त की कई तफसीलों की बातों के बारे में मतभेद और बहस आज चलती है—विज्ञान में ऐसा होता रहता ही है और विज्ञान के विकास की यह प्रक्रिया ही है—परंतु मूल सिद्धान्त को लेकर कोई मतभेद आज शेष नहीं है।

विकासवाद ने मनुष्य के सोचने का ढंग बदल दिया, दुनिया की दृष्टि बदल दी। उसका असर मनोविज्ञान पर भी हुआ। इससे पहले तो मनोविज्ञान का काम मनुष्य के स्वभाव का विश्लेषण तथा वर्णन करना ही था। मनुष्य में काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दोष हैं, प्रेम, करुणा, दया, क्षमा, त्याग, शौर्य आदि गुण हैं, यह दैवी संपत्ति है और वह आसुरी, यह सद्गुण है और वह दुर्गुण है—इस तरह से वर्णन किया जाता था। लेकिन किसीमें कोई सद्गुण या दुर्गुण क्यों होता है, कोई शक्ति किसीमें कम तो किसी में अधिक क्यों होती है, इसका कोई समाधानकारक जवाब उसके पास नहीं था। कुछ जिम्मेवारी पूर्व-जन्म पर, कुछ पूर्वजों की देन यानी आनुवंशिकता पर, कुछ शिक्षा पर तथा शेष ईश्वर पर डाली जाती थी। शिक्षा से गुण-विकास का प्रयत्न किया जाता तो कभी-कभी उसका परिणाम उलटा भी होता। इस तरह से मनुष्य के मन का अध्ययन विज्ञान का विषय नहीं, बल्कि कवि और दार्शनिकों का क्षेत्र था। विकासवाद के कारण एक तरफ तो निम्नतम कोटि के जीवों से लेकर मनुष्य तक विकास का सिलसिला जुड़ा हुआ है, तो दूसरी तरफ जन्म से लेकर प्रौढत्व तक व्यक्ति के मन के विकास का एक सुसंगत चित्र धीरे-धीरे स्पष्ट होता गया है। यह भी मालूम हुआ कि मनुष्य का स्वभाव कोई अलग-अलग गुण-अवगुणों का जोड़ नहीं है, उसमें एक समग्रता है, उसके अलग-अलग अंगों में परस्पर सम्बन्ध है तथा बाहरी सृष्टि की तरह उसमें भी कार्य-कारण का नियम काम करता है।

इस तरह मनुष्य का मन विज्ञान का विषय बना। विज्ञान की यह खूबी है कि उससे निसर्ग के नियमों का जो ज्ञान मिलता है, उसके सहारे निसर्ग पर नियंत्रण हासिल होता है। उसका उपयोग मनुष्य के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जा सकता है। गुरुत्वाकर्षण के नियम के ज्ञान के सहारे आज मनुष्य उसको लाँघकर महाशून्य में विहार करने तक की मंजिल तय कर सका है।

तो, मन का जो ज्ञान मिला और मिलता जा रहा है, उसका भी व्यावहारिक उपयोग सभव हुआ। मानसिक रोगियो की चिकित्सा होने लगी, बाल-शिक्षण के तरीकों में क्रातिकारी परिवर्तन हुआ। करोडो लोगो के मन को प्रभावित करने के उपाय हाथ लगे और उनका दुरुपयोग भी होने लगा, जैसे विज्ञान के और शोधो का होता रहा है। व्यापारी अपने नफे के लिए, राजनीतिज्ञ, तानाशाह अपनी महत्त्वाकाक्षाओं के निमित्त उसका उपयोग करने लगे।

लेकिन दूसरी तरफ इसके सहारे मनुष्य अपने को भी अधिक समझने मे समर्थ हुआ। समझना यानी काबू पाना और बदलने की क्षमता पाना भी होता है। मनुष्य की यह सामर्थ्य आज मनोविज्ञान की अग्र-गति के साथ बढ रही है। यह बहुत ही आशा का विषय है।

पहले विश्व-युद्ध के बाद बहुत लोगो का विश्वास था कि अब भविष्य मे इस प्रकार के युद्ध नही होंगे। लेकिन दूसरे विश्व युद्ध ने इस आशा को गहरा धक्का पहुँचाया। खासकर तरह-तरह की तानाशाहियो के प्रादुर्भाव के कारण वैज्ञानिको के दिल में यह सवाल अधिक बलवान् बनने लगा कि आखिर मनुष्य का स्वभाव क्या है। क्या सघर्ष और क्रूरता उसका अपरिवर्तनीय स्वभाव है? क्या प्रेम, दया, मैत्री आदि गौण है? अगर ऐसा ही है, तो मानव-समाज के भविष्य के लिए कौन-सी आशा अब बची रही?

आणविक अस्त्रों ने इस सवाल को अधिक तीव्र कर दिया। पिछले बीस-पचीस वर्षो मे मानव-स्वभाव को लेकर, जीवन में प्रेम तथा द्वेष के स्थान को लेकर, मनुष्य के सामाजिक गुण-दोषो को लेकर जितनी खोज हुई है, उतनी इससे पहले कभी नही हुई थी। इसमें से काफी आशा की किरण चमकती है, कुछ दिशा सूझती है।

जो लोग अहिंसक समाज परिवर्तन के काम मे लगे है, उनके लिए यह अपरिहार्य है कि वे मनोविज्ञान तथा समाज-विज्ञान की प्रगति के साथ सपर्क रखें, उन विज्ञानो की मदद अपने काम मे लें तथा उनके विकास में भी मदद करें। यह पुस्तक इस दिशा में एक प्राथमिक कदम के तौर पर है, जिससे इस विषय में दिलचस्पी पैदा हो और अधिक जानने की आकाक्षा का निर्माण हो।

विज्ञान के बारे में एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि उसके किसी विभाग का विकास अक्सर छोटी बातो से शुरू होता है। पदार्थ-विज्ञान की पढाई यहीं से शुरू होती है कि "पेड से फल टपकने पर नीचे गिरता है और सेकड-प्रति सेकड अमुक हिसाब से उसके वेग मे वृद्धि होती है।" "पानी ठडा होने पर बर्फ बनता है और गर्म करने पर भाप।" जो सबने देखा है, सब जानते है, उसीका शास्त्रीय प्रतिपादन। पर यहाँ से शुरू करके, फिर वह परमाणु की तह में गोता और महाशून्य के छोर का चक्कर लगाता है।

वैसे ही मनोविज्ञान के प्रारम्भिक भाग मे मामूली बातो का प्रतिपादन ही दिखलाई पडता है। पर वहाँ से शुरू करके यह भी दूर का चक्कर और गहराई के गोते लगाने से चूकता नहीं है। ज्योतिर्विज्ञान पदार्थ विज्ञान रसायन विज्ञान आदि की तुलना म यह तो अभी बच्चा ही है। इसलिए उसकी दौड अभी बहुत दूर तक नही है। फिर भी कुछ तो है, और अब भी असीम पथ सामने है। ●

जीवन का विकास २

क्या जीवन के विकासक्रम की कोई दिशा है? क्या कछुआ या चींटी से गाय, घोडा तथा गाय और घोडे से मनुष्य किसी सूरत में आगे बढा हुआ है? या सिर्फ विविधता म ही विकास है?

विकास के क्रम में एक चीज पहले ध्यान में आती है कि जीवो की शारीरिक गठन मे क्रमश जटिलता बढती गयी है। पानी या हवा में तैरनेवाले एक कोषीय जीव की शरीर रचना के साथ मनुष्य गाय या घोडा जैसे स्तन्यपायी जीव के शरीर की रचना की तुलना करने पर यह सहज ही पता लगेगा। एमीबा की देह मे जो एक इञ्च क हजारवे हिस्से के बराबर है, दो ही मुख्य विभाग नजर आते है—एक कोष का बाहरी भाग दूसरा उसके बीच मे जरा अधिक घना उसका केन्द्र भाग। मनुष्य का शरीर हड्डी पसली मास खून चमडा बाल आदि कितनी चीजों से बना हुआ है और उसके अन्दर तथा बाहर अग प्रत्यग कितने है! शरीर रचना की जटिलता की वृद्धि का अध्ययन हम करें तो इसके पीछे निहित एक तथ्य हमारे ध्यान मे आयेगा कि इस जटिलता मे वृद्धि के साथ-साथ जीव अपने इर्द गिर्द की परिस्थिति (environment) की मर्यादाओं से अधिक से अधिक मुक्त होता गया है तथा अपनी गतिविधि और जीवन यात्रा पर भी अधिक स्वनियत्रण प्राप्त करता गया है।



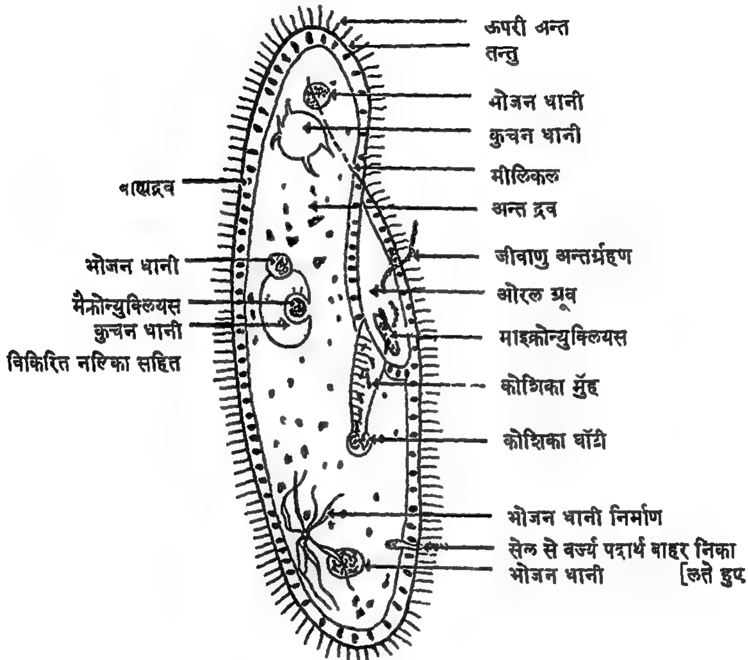
अमीबा

कहानी लम्बी और रोचक है तथा इसकी एक पूरी किताब बन सकती है। यहाँ तो हम क्रमश मुक्त रूप से दो दो चार-चार सीढी लाँघते हुए थोडी-सी झाँकी ही देने की कोशिश करेंगे।

एमीबा या किसी रोग क कीटाणु जैसे एक कोषीय जीव को हम लें तो देखेंगे कि उसका जीवन पारिपार्श्विक परिस्थिति पर पूरा पूरा निर्भरशील है। हवा की झोक या पानी का बहाव उसे जिधर ले जाय उधर जाना पडता है। अपनी कोशिश से वह बहुत ही थोडा इधर उधर हिल डुल सकता है। पानी या हवा की उष्णता थोडी-सी बढी या घटी तो उसकी जान पर खतरा आ जाता है। वैसे पानी में रहनेवाले जतु के

लिए पानी म घुले हुए रासायनिक द्रव्यो की मात्रा मे थोडा फरक हुआ, तो जीवन-मरण की समस्या खडी हो जाती है।

फिर इससे जरा आगे बढकर पैरामेसियम (Paramecium) जैसा जन्तु मिलेगा, जो एक कोषीय तो है, पर उसके शरीर में कुछ रोएँ जैसे अवयव हैं, जिनके सहारे वह थोडा-बहुत तैर सकता है। इसी तरह पूँछ के सहारे भी कई छोटे जतु तैर सकते हैं।



पैरामेसियम

फिर कई सीढी लॉघकर हम प्रवाल के पास पहुँचे तो पायेंगे कि एक-कोषीय जीवों ने इकट्ठी अपनी बस्ती सी बना ली है। पेड-पौधों के जैसे दिखनेवाले ये प्रवालपुज एक-कोषीय जीवों के द्वारा बनाये हुए चूने के (कैल्शियम कारबोनेट के) घर हैं। इसके अन्दर वे रहते है। बडे आकार के ये घर स्थिर होते हैं और इनके अन्दर अपने प्रवाल कीटों को सुरक्षितता मिलती है, फिर भी परिस्थिति की दासता तो है ही।

प्रवालपुज एक कोषीय जीवों की बसाहत है, पर हरएक जीव उसमें अलग ही जीता है। कोषों में श्रम विभाग के द्वारा बहु-कोषीय जीवो की उत्पत्ति हुई, तो उनकी सामर्थ्य म काफी वृद्धि हुई। शरीर की तथा अवयवों की आकृति में विविधता सभव हुई, अपने काम के अनुरूप वे बन सके। इसमे हड्डी के विकास का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। रावण छत्रिक (जेलीफिश) एक बहुकोषीय जीव है, पर हड्डी के अभाव मे

वह कितना कमजोर है ! पर शख, घोंघा आदि ने जो प्रवाले के अनुकरण में अपने लिए चूने के घर बना लिये उससे सुरक्षितता तो मिली पर हिलने डुलने की स्वतन्त्रता कुंठित हुई ! घोंघे (Snail) की मन्द गति तो कहावत बन गयी है। इनकी तुलना मे मछलियों के मँजे हुए शरीरों को देखिए। कितनी सामर्थ्य कितनी चुस्ती, कितनी तेजी दिखाई पडती है ! पर जब तक जीव पानी के अन्दर रहा तब तक और दो भूत—धरती और हवा—तो अविजित ही रहे। जीव पानी से उठकर पहले मेंढक, मगर साँप जैसे उभयचर के रूप मे रहने लगा तथा बाद मे कायम के लिए जमीन पर आया तो उसको अपने शरीर मे हवा से भोजन खींचने का यत्र जोडना पडा। पहले तो वह पानी से ही इसे लेता था। उसके पैर और दुम मजबूत हुए। मजे में दौडना और छलाँग मारना शुरू हुआ। पख भी पैदा हुआ और कुछ हवा मे भी उडने लगा।


घोंघा

कुछ करोड वर्ष पहले इस सरीसृप (रेप्टायल) कोटि के बहुत बडे बडे जीव दुनिया में हो गये। डेढ डेढ सौ फुट लम्बे और पचास पचास फुट ऊँचे डाइनोसौर (Dinosaur) के कद के साथ दुनिया के किसी जमाने का कोई भी प्राणी मुकाबला नहीं कर सकता। पर एक कहर थी और उसके कारण इन विराट् प्राणियों का अन्त धीरे धीरे हो गया।


डाइनोसौर

बाहर की हवा की सर्दी गर्मी कुछ भी हो हमारे शरीर की उष्णता बराबर ९७.८ डिग्री फारेनहाइट रहती है। कमोबेश हुआ तो उसे हम अस्वास्थ्य के लक्षण के रूप मे पहचानते हैं। पर इन जानवरों मे शरीर के वातानुकूलन (एयर कडीशनिंग) की वह व्यवस्था नही थी न आज भी मगर, मेंढक या साँप मे है। इसलिए बाहर की आबोहवा की उष्णता के साथ इनके शरीर की उष्णता भी बदलती है। सर्दी बढी तो खून ठण्डा हुआ गर्मी बढी तो गरम। लम्बे अरसे तक दुनिया की आबोहवा समशीतोष्ण रही बल्कि गर्मी की ओर ही जरा झुककर रही तब तक ये महाकाय जीव तो खूब पनपे पर आबोहवा मे परिवर्तन शुरू हुआ और सर्दी बेहद बढ गयी तो इनके लिए जिन्दा रहना असम्भव हो गया।

और आज भी सॉप, मेढक आदि सर्द-खूनवाले प्राणी शीतप्रधान देशो मे सर्दी के मौसम मे हायबरनेट करते हैं, याने किसी गड्ढे मे तब तक मृतवत् पडे रहते है, जब तक सर्दी न घटे। शरीर-यन्त्र की भी एक मर्यादा है, मर्यादा से अधिक ठडा हुआ, तो वह चालू नही रह सकता।

मालूम हुआ है कि उन्हीं डाइनोसौरो के जमाने मे एक कोई छोटा-सा जानवर था—उसकी आकृति चूहे से बहुत बडी नहीं होगी—जिसके शरीर मे इस वातानुकूलन का विकास हुआ और उसीकी वश परम्परा में हम सब है। इस लिफ्त की बदौलत प्राणियों की सामर्थ्य बेहद बढ गयी। पृथ्वी पर वे दूर-दूर फैल सके। न रेगिस्तान उनको रोक सके, न बर्फीले मैदान।

विकास की एक और धारा थी सतान जनन तथा उसके लालन-पालन मे। मछली, मेढक आदि जीव हजारों अण्डे इकट्ठा जनते है और उन्हे पानी मे छोड देते है। फिर उन अण्डों की कोई जिम्मेवारी उन पर रहती नहीं। दूसरे जीव उनको खाते जाते है, नैसर्गिक प्रतिकूलताओं के कारण वे स्वय भी नष्ट हो जाते है, फिर जितने बच जाते है, उतने ही विकासक्रम को चालू रखते है।

मगर तथा कछुए अपने अण्डों को बालू में गाड देते है। बस, उतनी सी सुरक्षा की व्यवस्था के बाद फिर उनकी कोई जिम्मेवारी नही। चिडियॉ घोंसले में रखकर अपने अण्डों को सेती है। बच्चे निकले, तो उनकी देखभाल करती है। परन्तु स्तन्य-पायी प्राणियो के बच्चे मॉ के गर्भ में बिलकुल सुरक्षित रहकर बढते है। इसलिए अक्सर उनके बच्चों की सख्या कम होती है। गाय, घोडा तथा मनुष्य के सामान्यतया एक बार मे एक ही बच्चा होता है। फिर जन्म के बाद मॉ के स्तन मे ही उनके लिए खुराक होती है। अरसे तक मॉ उनका लालन-पालन करती है।

दो-दो दस दस सीढियॉ लॉघकर हमने विकास की एक सरसरी झॉकी देने की यहॉ कोशिश की। इस प्रकार कई दिशाओं मे जीवो का विकास हुआ है और उनको परिस्थिति की मर्यादाओं से अधिक-से-अधिक मुक्ति मिली है। फिर भी इन मर्यादाओं का पार नहीं और उनको लॉघने के प्रयत्न में भी जीव मर्यादाओं से घिर गये हैं।

गाय घास पात खाती है, मैदान में घूमती है। कीचड में भी घूमना पड़ता है। इसीलिए उसका शरीर भी उस प्रकार से बना है। उसका पाचन-यन्त्र भी घास-पात के योग्य है। पका हुआ चावल या गेहूँ वह थोडा-सा पचा सकती है, पर ज्यादा खा लिया तो मर सकती है। बाघ के शरीर पर की काली-पीली पट्टियॉ उसे घास के जङ्गल में छिपने में मदद करती हैं, पजे की एक चोट से एक गाय को मार सकता है और उसे चीर फाडकर खाने के लिए उसके पास मजबूत नाखून और दॉत है। पर रेतीले मैदान मे जीना उसके लिए असम्भव है। पट्टियॉं उसे इतना सुस्पष्ट कर देंगी कि उसके मारे शिकार दूर से ही भाग जायेंगे। ऐसे मैदानों के लिए तो भूरा रग ठीक है—जो सिंह का होता है।

वैसे उष्ण प्रधान जंगलो का काला भालू ध्रुव प्रदेश मे जी नही सकता। न वहॉ का सफेद भालू अपने यहा के जगलो मे रह सकता है, क्योकि सर्दी से बचने के लिए अपने ही शरीर पर इतना घना कम्बल उसने पैदा जो किया है।

इस प्रकार अन्य जानवरो ने अपने शरीर मे ही अपनी जीवन यात्रा के लिए आवश्यक साधन पैदा कर लिये हैं पर उससे मर्यादा आ जाती है। शेर के नाखूनो से हिरन के खुर का काम नही होगा न खुर से नाखून का। चिडियॉ पख फैलाकर उड तो सकती हैं, पर उनसे दूसरे काम नही ले सकती।





ऊपर घास खानेवाला खरगोश और नीचे गोश्त खानेवाली बिल्ली

मनुष्य की तुलना दूसरे जानवरो से की जाय तो वह शरीर से कमजोर तथा अवयवो की सामर्थ्य मे हीन पाया जायगा। न वह हिरन के समान घण्टे मे सत्तर मील दौड सकेगा, न चील के समान साठ मील की रफ्तार से पख फैलाकर उड सकेगा। न तो शेर के समान एक चाट से एक गाय मारने की ताकत उसमे है न हाथी के समान सूड से पेड उखाडने की है। शरीर पर ऐसे रोएँ भी नही कि उत्तरी ध्रुव मे कम्बल का काम दे न पेट मे पानी का थैला ही है जिससे लम्बे लम्बे रेगिस्तान मजे मे पार कर जाय। उसके चमडे मे न मयूरपुच्छ की वर्णछटा है न कछुए के जैसा कवच।

पर इस प्रकार शरीर से कमजोर तथा विशेषताओ से रिक्त होते हुए भी मनुष्य सब प्राणियो मे सबसे अधिक समर्थ है। वह लाखो शेरो से ज्यादा सहार कर सकता है और हिरन से कई गुना तेज दौड सकता है। चील से पचास गुना ऊँचा और सौ गुना रफ्तार से उड सकता है। दक्षिणी ध्रुव से लेकर सहारा तक कहा भी मजे मे बस सकता है। और वह क्या नही खा सकता या नही खाता उसका तो पार नही!

विकास और मन : ३ :

मानव ने इस तरह कुदरत पर जो विजय हासिल की है और उसके आधार पर अपने लिए जो भौतिक सभ्यता का निर्माण किया है, वह उसके दिमाग और मन की शक्ति के द्वारा ही सम्भव हुआ है। उस मानसिक शक्ति के सहारे उसने अपने लिए शब्दों की, प्रतीको तथा विचारों की एक नयी दुनिया बना ली है। इनके सहारे वह करोडो मनुष्यों के अनुभवो को इकट्ठा करता है। उनमें आदान-प्रदान, चयन तथा समन्वय करता है तथा इस अनुभव के भडार को कायम रखकर पीढी दर पीढी हजारो साल के लिए उसे विरासत में देता जाता है।

देह से मन को अलग करके सोचने की आदत जमाने मे पडी है। कभी कभी देह, मन, आत्मा—ऐसा त्रिविध पृथक्करण भी किया जाता है। देह का सबध मिट्टी से है। वह स्थूल, तुच्छ और नश्वर है, मन और आत्मा का सबध स्थूल भोतिक जगत् से नहीं है। वे शाश्वत, पवित्र, सूक्ष्म स्वरूप हैं, इस प्रकार सोचा जाता है। कभी कभी उपर्युक्त विशेषणों का उपयोग आत्मा के लिए ही होता है और मन को शरीर के साथ अशाश्वत की कोटि मे डाला जाता है।

विज्ञान की दृष्टि से देह और मन अलग वस्तु नहीं है, जिनका कि जोड बिठाया गया हो। एक ही जैव-प्रक्रिया के ये दो पहलू हैं। शरीर का आधार छोडकर मानसिक प्रक्रियाएँ चल नहीं सकतीं। बाहर की दुनिया की जानकारी प्राप्त करने के लिए उसे ज्ञानेंद्रियों की, मस्तिष्क की तथा सारे ज्ञान-ततुओं के तत्र की मदद जरूरी होती है। पर यह भी नहीं कि मानसिक प्रक्रियाएँ सिर्फ दैहिक प्रक्रियाओं की छाया है। वे गोण नहीं हैं। प्रोफेसर जूलियान हक्सले ने बिजली की उपमा दी है। हमारे शरीर के अग-प्रत्यग काम करते हैं, तो उससे कुछ बिजली का प्रवाह भी उत्पन्न होता रहता है। इसको सूक्ष्म यत्र से पकडा जा सकता है। बिजली से तरह-तरह के काम लेने के लिए तरह-तरह के यत्रों की जरूरत होती है। जीव-शरीर में पैदा होनेवाले विद्युत्-प्रवाह को काम में लगाने के लिए इलेक्ट्रिक ईल (Electric eel) तथा टारपीडो ईल (Torpedo eel) नाम की मछलियों के शरीर में योग्य यत्रों का विकास हुआ है। इससे वे बिजली का सचय करती हैं और अपने शत्रु या शिकार को बिजली का घातक धक्का दे सकती हैं। वैसे ही जीवन की प्रक्रिया मे दैहिक क्रिया के साथ मानसिक प्रक्रिया भी चलती रही होगी। पर उसके अधिक से-अधिक उपयोग के लिए उपयुक्त दैहिक यत्रो का विकास जीव विकास के क्रम में होता गया, तो जीवन मे दैहिक प्रक्रिया के मुकाबले में मानसिक प्रक्रिया का महत्त्व बढता गया, जिसकी पराकाष्ठा मानव में हुई है।

बैक्टेरिया या बैसिलाई जैसे जन्तु में मानसिक प्रक्रिया नहीं के बराबर होती है। जिस पैरामेसियम (Paramecium) का जिक्र पहले आया है, वह पानी में तैरते-तैरते जब किसी ऐसे भाग मे पहुँचता है, जहाँ पानी में अम्लता का अश उसके साथ

हुए एक प्रकार के अनाज के दाने दिये गये। इन दानो को एक बार चुगने के बाद उन्होंने फिर उस प्रकार के अच्छे दानो को भी छुआ नही। इस तरह कई प्रकार के दानो को कडवा बनाकर प्रयोग किया गया और एक ही प्रकार का अनुभव आया। फिर ये बच्चे खुराक के बिना मर न जायँ इस डर से प्रयोग बन्द करना पडा।

मुर्गा बत्तख आदि के बच्चे जब अडे से निकलते है तब उनके सामने अपनी माँ के बदले और कोई पछी जानवर या आदमी भी हो तो वे उसे ही माँ के तौर पर स्वीकार कर लेते है, उसके पीछे पीछे चलने लगते है। फिर यह आश्रय बदलता नही।

हेरिंगल (Herring Gull) नामक चिडिया की चोच पीली और उसकी निचली चोंच के नोक पर एक लाल धब्बा होता है। प्रयोग से पाया गया है कि इस लाल धब्बे को देखकर ही उसके बच्चे उसकी चोच से खुराक लेने के लिए अपनी चोच खोलते है। कागज की चोच बनाकर देखा गया है कि ठीक स्थान पर लाल रग हो तो बच्चे खुराक के लिए चोच आगे करगे। उस चिडिया की शक्ल से कोई सादृश्य न रखनेवाली कागज की गुडिया की चोंच के ठीक स्थान पर लाल धब्बा हो तो वे बच्चे उसके सामने चोच मारेंगे लेकिन शक्ल से और सब तरह से हुबहू वही चिडिया हो पर चोच के नोक पर लाल धब्बा न हो तो उसकी ओर देखेंगे भी नहा।

इस तरह मानो अनुभव का बटन दबते ही मन म पहले से अकित अमुक प्रकार के आचरण की शृङ्खला चालू हो जाती है। इसे 'मोचक तत्र' (releaser mechanism) कहते हैं। इस तरह आचरण का जो तर्ज एक बार निश्चित हो जाता है वह उसके बाद नये अनुभवो के आधार पर कभी बदलता नही।

फिर भी इनमे सीखने की क्षमता काफी होती है। कौए की जाति की एक चिडिया को गिनना सिखाया जा सका है। यानी वह पेटियो मे से गिनकर अमुक सख्या के दाने चुग ले तो उसे इनाम मे अमुक भोजन मिलेगा इस तरह की शिक्षा उन्हे देना सम्भव हुआ है।

घोडे कुत्ते गाय बैल बिल्ली आदि यहाँ तक कि चूहा भी कितने ही विषय सीख सकते है और अनुभव से काफी काम ले सकते है। पर इनके आचरण मे भी बँधा बँधाया अश काफी होता है। घोडा या गाय के बच्चे खडा होना चलना आदि कितनी जल्दी सीख जाते हैं।

इस मामले म मनुष्य ही एक ऐसा जीव है जिसकी सीखने की गुञ्जाइश तथा क्षमता सबसे अधिक है। मनुष्य के बच्चे को करीब करीब हरएक काम सीखना पडता है। उसके मन म पहले से बँधी हुई आचरण शृखला नहीं के बराबर होती है। उसे जन्म से सिर्फ तीन चार क्रियाएँ मालूम रहती हैं। जैसे—रोना स्तन चूसना गिरने का अनुभव हो तो मुट्ठी बाँधना। बस यही वह बिना सीखे नैसर्गिक रूप से कर सकता है। प्रथम दोनो की आवश्यकता तो उसके जीवन के लिए स्पष्ट ही है। मुट्ठी बाँधना उसके पेड पर बसनेवाले पूर्वजों के बचपन की आदत का अवशेष है। बन्दरी एक पेड

दूसरे पेड पर कूदती है, तो उसका बच्चा कसे उसके रोओं को पकड़कर उससे चिपका रहता है, यह सबने देखा होगा। बस, यह हाल करोडो वर्ष पहले के अपने पूर्वजो का था। प्रयोग से देखा गया है कि कुछ दिन या महीनो का नवजात शिशु अपनी मुट्ठियो से किसी डण्डे को पकडकर अपने को लटका रख सकता है। मनुष्य म सिर्फ एक ही 'मोचक तन्त्र' मालूम हुआ है, और वह है, बच्चे के प्रति माँ की मुसकुराहट का परिणाम।

इस तरह मनुष्य के दिमाग और उसके मन म अधिक से-अधिक मुक्तता समायी हुई है, जिससे अनुभव लेने की तथा सीख सकने की शक्ति भी अधिक से अधिक होती है। इसकी कोई सीमा अब तक नजर म नहीं आयी है। बुढापे म भी नये अनुभव से सीखने की, नया सृजन करने की शक्ति का अन्त नहा होता, यह कई महापुरुषो के जीवन म देखने को मिला है। नयी परिस्थिति पैदा हो, तो नये अनुभव से तदनुकूल आचरण कर सकने की क्षमता मनुष्य मे ही सबसे अधिक है।

मानव-शिशु को सबसे ज्यादा सीखना पड़ता है, इसलिए उसका बचपन सबसे लम्बा होता है। माता पिता का आश्रय उसे सबसे अधिक जरूरी होता है। शरीर से वह कुछ वर्षा मे समर्थ हो जाता है, पर समाज म व्यवहार करने तथा अपनी रोजी कमाने के लिए उसे योग्यताएँ हासिल करने मे और भी समय लगता है। आज सभ्यता के विकास के साथ इस निर्भरता की अवधि भी बढ़ती जाती है। जगल से फल फूल सग्रह करनेवाले आदिवासी का लडका ११-१२ साल म स्वावलम्बी बन सकता है। किसान का लडका १४-१५ साल की उम्र मे हल चलाना, बोना, काटना आदि सब सीखकर तैयार हो जाता है। पर जिसे डॉक्टर, शिक्षक या इजीनियर बनना होता है, उसे तो २२-२४ साल तक तैयारी करनी पडती है। वैसे मनुष्य का सीखना जिन्दगीभर कभी समाप्त नहीं होता।

बन्दर, जो मनुष्य के अति निकट का रिश्तेदार है, उसका सीखना भी मनुष्य की तुलना म जल्दी होता है। पर उसकी मर्यादा भी शीघ्र आ जाती है। 'केलग' नामक एक मनोवैज्ञानिक अपने नवजात लडके 'डोनाल्ड' के साथ एक चिपाजी की बच्ची को भी पालने लगा। दोनों को वह बराबर खिलाता पिलाता, प्यार करता, धमकाता, सिखाता था। यह तब शुरु हुआ, जब डोनाल्ड साढे नो महीने का था और वह बन्दरी 'गुआ' सात महीने की थी। लगभग नौ महीने तक तो गुआ सब कुछ जल्दी सीखती थी और सबसे आगे थी। रस्सी फॉदना (स्किपिग), हुक्म मानना, दरवाजा खोलना, चम्मच से खाना, गिलास से पानी पीना आदि वह पहले सीख गयी। पर उसके बाद डोनाल्ड तेजी से आगे बढने लगा और गुआ को कहीं पीछे छोडकर आगे बढ गया। यानी गुआ मे परिपक्वता जल्दी आ गयी, उसकी सीखने की शक्ति की परिसीमा जल्दी आ गयी।

ज्ञान तन्तु तथा दिमाग का तन्त्र · ४ ·

किसी बडे राष्ट्र का शासन तन्त्र कितना बडा व्यापक और जटिल होता है ! देशभर में हजारों परिस्थितियों में हजारों प्रकार के निर्णय लेने की जरूरत होती है, हजारों काम किये जाते हैं। इसके लिए हजारों जगह से जानकारी इकट्ठी करने की व्यवस्था रहती है तथा सरकारी हुक्म जगह जगह जल्द से जल्द पहुँचाने का इन्तजाम भी रहता है।

इसके लिए हर गाव म एक मुखिया या सरपञ्च होता है। हर थाने पर डाक घर तारघर तथा टेलीफोन रहता है। हर महकमे तथा जिले मे बडे बडे दफ्तर होते हैं। फिर राज्य का प्रधान दफ्तर, सेक्रेटेरियट और उसके ऊपर मन्त्रिमण्डल होता है।

मन्त्रिमण्डल या प्रधानमन्त्री देश के शासन के लिए जिम्मेवार होता है। उसके हाथ मे सारी सत्ता होती है। पर फर्ज कीजिए कि प्रधानमन्त्री द्वारा ही राज्य की छोटी बडी हर समस्या पर प्रत्यक्ष रूप से निर्णय लेने का सिलसिला चला तो क्या होगा ! कहीं स्कूल म लडके गैरहाजिर हुए, तो उनको धमकाना या जुर्माना करना कहीं सडक बनाने का काम रुका हुआ है उसके लिए पाँच अधिक ट्रक भिजवाना कहीं खेत मे कीडे लगे है तो दवा छिडकवाना—इस प्रकार की छोटी छोटी समस्याओं की फाइल हजारों की सख्या मे उनकी मेज पर रोज जमा होंगी। बेचारे उसके नीचे दबकर मरेंगे नहीं तो क्या होगा ?

इसलिए राज्य मे जिम्मेदारियो का बँटवारा होता है। पञ्चायत महकमा तथा जिले के स्तर पर कई समस्याओं का निपटारा हो जाता है। कई अधिक महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर विचार सेक्रेटेरियट में होता है। उनमे से कुछ ही अधिक महत्त्व की बातें मन्त्रियो के सामने रखी जाती हैं।

मनुष्य या किसी प्राणी का शरीर तथा जीवन का सगठन इस राज्य से कम पेचीदा नहीं है। उसके शरीर मे करोडों जीवकोष होते हैं। सैकडों पेशियाँ पचासो यन्त्र होते हैं। इन सबको मिल जुलकर चलना होता है। बाहर की दुनिया की जानकारी प्राप्त करके तदनुसार बरतना पडता है। बाहर जरा गरमी बढी तो रोमकूप जरा अधिक फैल गये। चमडे मे रक्त का सचालन जरा बढा पसीना ज्यादा निकल गया। शरीर की उष्णता को अधिक न बढने देने की व्यवस्था हर से हुई। रेल के डिब्बे मे निठल्ले बैठे-बैठे सोच रहा हू तो कमर पीठ कधे पेट आदि की कई पेशियाँ शरीर का सतुलन रखने के काम मे लगी हुई हैं। गाडी जरा इधर को झुकी तो उधर की पेशियों ने जरा जोर मारा उधर को झुकी तो इधर का तनाव बढा। इस तरह शरीररूपी राज्य म हर क्षण हजारों क्रियाएँ चल रही हैं। तभी यह तन्दुरुस्त रहता है सन्तुलन रखता है काम करता है।

मैं इसका मालिक, प्रधानमन्त्री हूँ। पर अपने शरीर मे क्या-क्या चल रहा है, इसकी जानकारी मुझे नहीं है। कितने लोगो को मालूम है कि उनका हृदय हर मिनट ८०-७५ बार खून पम्प कर रहा है? या कि दोपहर को जो भोजन किया था, उस पर एक के बाद एक क्या-क्या रासायनिक प्रक्रियाएँ, पेशिक तोट-मरोट घटो तक चल रहे हैं?

राज्य व्यवस्था के साथ शरीर की शासन-व्यवस्था की हूबहू तुलना हो सकती है। मनुष्य का मस्तिष्क उसका सर्वोच्च नियामक है। शरीर के हर अग-प्रत्यग से दिमाग को ज्ञान-तन्तुओं के द्वारा समाचार मिलते हैं। कुछ तन्तुओं से अपने शरीर की स्थिति के बारे में जानकारी मिलती है और कुछ है, जो बाहर की जानकारी देते हैं। इन जानकारियों के आधार पर विभिन्न अग-प्रत्यगो को आदेश पहुँचाने का काम दूसरे तन्तु करते है। इस प्रकार सवाद पहुँचानेवाले तथा आदेश लानेवाले—इन दो प्रकार के ज्ञान तन्तुओं का तन्त्र हमारे शरीर मे है।

पर जैसे हमने राज्य के मामले में देखा, वैसे शरीर मे भी अलग-अलग स्तर पर जानकारी की जाँच करके निर्णय लेने की व्यवस्था है, इसीलिए तो 'मै'—प्रधानमन्त्री—हर लहमे की हजारो तफसीलो से मुक्त रह सकता हूँ।

मनुष्य मे इस तत्र के मुख्यतया दो विभाग हैं। एक में मस्तिष्क, सुषुम्ना तथा उनसे जुडे हुए ज्ञान ततुओं का जाल है, जो सारे अवयवों से, अदरूनी यत्रों से तथा ज्ञानेन्द्रियों से सबध रखता है। दूसरे को स्वचालित (autonomic) तत्र कहा जाता है, जो अदरूनी यत्रो से सबद्ध है और दिमाग तक मामलों को न पहुँचने देते हुए अपने-आप इन यत्रो का बहुत सारा काम सँभाल लेता है।

मस्तिष्क और उससे जुडी हुई सुषुम्ना (Spinal chord), जो रीढ की हड्डियों के बीच मे सिर से कमर तक लटकी हुई है, मुख्य तत्र का मुख्य केन्द्र है। मस्तिष्क के मोटे तौर पर तीन हिस्से है—गुरु-मस्तिष्क (cerebrum), लघु-मस्तिष्क (cerebellum) तथा सुषुम्ना-शीर्षक (medulla oblongata)।

गुरु-मस्तिष्क मे भावनाएँ, सोच-विचार, चिंतन, निर्णय आदि की क्रियाएँ चलती है। आँख, नाक, कान तथा जीभ से मिलनेवाली जानकारी यहाँ सीधी पहुँचती है। इसकी शक्ल अखरोट के गूदे जैसी है, उस पर अनगिनत सिकुडन है। उसके अन्दर का मुख्य हिस्सा सफेद रग का है, पर उसकी सतह पर भूरे (grey) रग का एक पतला स्तर है, जिसे कर्टक्स (cortex) कहा जाता है। ऊँचे स्तर के सोच-विचार का काम इसीके अदर चलता है, ऐसा साबित हुआ है। सिकुडनो के कारण इस ऊपरी स्तर का कुल पैमाना बहुत बढ गया है, यह सहज ही ध्यान मे आयेगा। दूसरे प्राणियों के दिमाग मे इतनी सिकुडन नहीं होती। अधिक सिकुडन, कर्टक्स का अधिक फैलाव यानी सोच-विचार की अधिक सामर्थ्य।

गुरु मस्तिष्क के अलग-अलग भागो में मुख्य ज्ञानेन्द्रिया से सकेत पहुँचते है। कुत्ते की घ्राण-शक्ति मनुष्य से कहीं अधिक तेज है।

एक जमाने में यह समझा जाता था कि मस्तिष्क के अलग अलग निश्चित भाग मनुष्य के अमुक अमुक गुण या दोषों के स्थान हैं। कहीं प्रेम, कहीं हिम्मत, कहीं गुस्सा, कहीं निष्ठा इत्यादि। पर इस धारणा के लिए वास्तव में कोई आधार नहीं है। जैसा ऊपर कहा है ज्ञानेन्द्रियों से इसके विशेष भागों का सम्बन्ध है, पर बाकी चिन्तन भावना, आवेश आदि की प्रक्रियाएँ मिल जुलकर ही चलती हैं।

गुरु-मस्तिष्क के नीचे लघु मस्तिष्क है, जो तफसील की जिम्मेवारियाँ सँभाल लेता है। हम बचपन में खड़ा होना, चलना आदि क्रियाएँ कितनी मेहनत से सीखते हैं! जवानी में साइकिल चलाना, टाइप करना या चरखा कातना सीखने के लिए हाथ पैर, आँख आदि के कामों का कितना सहयोग साधना पड़ता है। शुरू शुरू में साइकिल सीखते समय ध्यान जरा इधर उधर गया कि धम्म से गिरे! कताई सीखते समय आँख जरा उधर गयी कि धागा टूटा! पर जब क्रिया सध जाती है तब कैसे अपने-आप होने लगती है उसका पता भी हमें नहीं लगता। बस दोस्त के साथ गप लड़ाते हुए, गाना गाते हुए साइकिल चलाये जाइए। लघु मस्तिष्क हाथ पैर आँख कान आदि का सहयोग का जिम्मा सँभालता है। रास्ता थोड़ा ऊबड़-खाबड़ आया, तो हाथ अपने आप हैण्डिल घुमा लेता है। उतार आया तो पैर ढीला पड़ने लगता है।

इस तरह यह लघु मस्तिष्क उन सारी कुशलताओं की जिम्मेवारी सँभालता है जो हमने सीखी है। मैं जो सोचता हूँ वही उँगली अपने आप लिखती जाती है। ह का मोड़ कैसे घुमाना होगा और म की टाँग कहाँ तक खींचनी होगी इस चिन्ता में मैं नहीं पड़ता। पर मैं चाहूँ तो उस सम्बन्ध में सोच सकता हूँ और लेखन में फर्क कर सकता हूँ। मानो इन मामलों की फाइलें प्रधानमन्त्री तक जाने के बजाय चीफ सेक्रेटरी के पास ही निबट जाती हैं। पर कभी प्रधानमन्त्री किसी खास फाइल को खुद देखना चाहें, तो तुरन्त मँगवा सकते हैं।

लघु मस्तिष्क क्षतिग्रस्त हो तो इस प्रकार सीखी हुई कुशलताओं के अमल में बाधा आती है। मनुष्य फिर अपना सन्तुलन भी नहीं रख सकता नहीं चल सकता। शराब के असर से इस भाग की क्रियाशीलता मन्द हो जाती है तब उस शराबी की हालत कैसी होती है!

सुषुम्ना शीर्षक के बारे में कह सकते हैं कि सुषुम्ना (spinal chord) के ऊपर का हिस्सा जरा अधिक मोटा हो गया है और सुषुम्ना शीर्षक बना है। हृत्पिण्ड का चलना, श्वासोच्छ्वास पेट में पाचन क्रिया का चलना आदि कई कामों की जिम्मेवारी इस पर है, जिनको हमें सीखना नहीं पड़ता जो जन्म से ही अपने आप सुचारु रूप से और मनुष्य के अनजाने ही चलते रहते हैं। हम चाहें तो भी इन क्रियाओं को न सचेतन रूप से अन्दर से जान सकते हैं न उनका किसी प्रकार से नियन्त्रण कर सकते हैं। हाँ कुछ योगी विशेष प्रयत्न से इन क्रियाओं पर नियन्त्रण प्राप्त कर सके हैं, ऐसा सुनने में आता है। ऐसा हो सकता है परन्तु सामान्यतया हृत्पिण्ड की स्थिति या पाचन क्रिया की गति हमें जाननी हो, तो बाहर से यन्त्रों का सहारा लेना पड़ता है

उनकी क्रिया पर असर करना हो तो खुराक में फेर-बदल या दवा का उपयोग करना पड़ता है। जैसे, फर्ज कीजिए कि देश में कल-कारखाने, उद्योग-धन्धे स्वतन्त्र रूप से चल रहे हैं। उन पर प्रधानमंत्री का कोई सीधा नियन्त्रण नहीं है। उनके बारे में प्रधानमंत्री को जानकारी लेनी हो, तो पूछताछ करनी पड़ेगी। उनको प्रभावित करना हो तो टैक्स, कण्ट्रोल आदि का सहारा लेना पड़ेगा। पर ये सारे देश के जीवन के लिए बिल्कुल अपरिहार्य हैं। ये बन्द हुए कि देश चौपट हुआ। उसी प्रकार सुषुम्ना-शीर्षक क्षतिग्रस्त हो तो प्राणी मर ही जाता है। उसका श्वासोच्छ्वास ही असम्भव हो जाता है।

सुषुम्ना लगभग एक हाथ लम्बी होती है तथा ज्ञान-तन्तुओं के गुच्छों से भरी होती है। शरीर के सारे अवयवों, त्वचा तथा अन्दर के विविध यन्त्रों से सम्बद्ध सारे ज्ञान-तन्तु इस सुषुम्ना से जुड़े हुए होते हैं। इसमें से होकर कुछ जानकारी ठेठ गुरु-मस्तिष्क तक पहुँचती है, कुछ लघु-मस्तिष्क तथा कुछ उसके शीर्षक तक तथा उस-उस केन्द्र से उस-उस विषय का निबटारा भी हो जाता है। पर कई विषयों का निबटारा सुषुम्ना में स्थित कुछ छोटे-छोटे केन्द्रों में ही हो जाता है।

हमारी आँखों के सामने कुछ आ जाय या आँखों पर जोरदार रोशनी पड़े, तो आँखें अपने-आप बन्द हो जाती हैं। पैर में काँटा चुभते ही पैर वहाँ से हट जाता है। अँगुली को जलते शोले का स्पर्श होते ही हाथ झट से हट जाता है। ये सारी क्रियाएँ बिना सोचे, अनजाने हो जाती हैं। इनको रिफ्लेक्स क्रिया कहते हैं। इनमें से कुछ तो सीधे मस्तिष्क द्वारा होती हैं—जैसे आँखों का झपकना। पर बाकी की बहुत सारी क्रियाएँ सुषुम्ना-स्थित केन्द्रों से ही होती हैं।

इनके अलावा शरीर के अन्दरूनी यन्त्रों के नियन्त्रण के लिए एक दूसरा तन्त्र है (Sympathetic nervous system), जो करीब-करीब स्वतन्त्र है। इसके अन्तर्गत कई छोटे-बड़े केन्द्र हैं, जहाँ से संकेतों का आदान-प्रदान होता है। इनके द्वारा मुख्यतया रक्तवाही धमनी या शिरा-प्रशिरा का तथा उदर में पाचन-क्रिया का नियन्त्रण होता है। पेट में अन्न पड़ा, तो उसमें आवश्यक पाचक रस डालने का आदेश, धमनी या शिराओं को संकुचित करके या फैलाकर उसमें कम या अधिक रक्त प्रवाहित करने का काम इस तन्त्र के जरिये होता है।

मस्तिष्क से भी इस तन्त्र को आदेश मिलते हैं। बहुत गुस्सा आता है तो उसका असर इस तन्त्र पर होता है, जिससे पेट में पाचक रसों के क्षरण में तथा पाचन-क्रिया में गड़बड़ हो जाती है। शर्म के मारे मुँह लाल हो जाता है, यानी मुँह की शिराएँ फैल जाती हैं और उनमें रक्त-संचालन बढ़ जाता है।

इस तरह इन सारे जटिल तन्त्रों के द्वारा मनुष्य को अपने शरीर की तथा बाहर के परिवेश की जानकारी प्राप्त होती है और फिर उसके आधार पर शरीर की आन्तरिक क्रियाएँ तथा बाह्य आचरण तय होता है। इसमें से थोड़ा सा अंश मनुष्य की चेतना

को गोचर होता है, पर बहुत सारा उसके अगोचर में ही अपने आप चलता रहता है। मनुष्य चाहे तो उसमें कुछ अंश को समझ सकता है, पर बाकी बहुत सारा अंश खास कोशिश करने पर भी उसके अनुभव या नियंत्रण का विषय बन नहीं सकता। पर यह ध्यान में रखना चाहिए कि इन सारी प्रक्रियाओं का चेतना के साथ कोई सम्बन्ध न होते हुए भी ये मानसिक प्रक्रियाएँ ही हैं। इस तरह हमारा मन जिसको हम अपना चैतन्य समझते हैं वहीं तक सीमित नहीं है उससे कहीं अधिक उसका विस्तार है। इस बारे में हम आगे फिर चर्चा करेंगे। ●

ज्ञानेन्द्रिय तथा ज्ञानक्रिया • ५

ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा प्राणी बाहर की दुनिया का अनुभव हासिल करते हैं। एक एक इन्द्रिय से कुदरत के एक एक पहलू का ज्ञान मिलता है मानो बाहर की दुनिया की ओर खुलनेवाली ये खिड़कियाँ हैं। दृष्टि शक्ति से आकृति, गतिविधि और दूरी का भान होता है। स्वाद तथा गन्ध से वस्तुओं की रासायनिक सिफ्तें मालूम होती हैं। शरीर के निकट सम्बन्ध में स्थित वस्तुओं की जानकारी स्पर्श से मिलती है तो शब्द से दूर की जानकारी मिल सकती है। कोई साथी शिकार या शत्रु दूर हो तो उसका भान श्रवण से हो सकता है।

पर कुदरत के सब पहलुओं की जानकारी प्राप्त करने योग्य इन्द्रियों का विकास हुआ हो ऐसा नहीं है। बिजली की हस्ती पहचानने के लिए कोई इन्द्रिय न मनुष्य में है न अन्य अधिकतर प्राणियों में है। होती तो इस बिजली के जमाने में कितनी सहूलियत होती! किसी तार में बिजली का प्रवाह है या नहीं, यह झट से पहचान जाते! यह शक्ति सिर्फ कुछ मछलियों को है जो बिजली का संकेत भेजकर अपने जाने आने की दिशा खोजती हैं। एक प्रकार के साँप—पीट्व्हाइपर—के शरीर में ताप की किरण पहचानने की इन्द्रिया हैं। वह दूर से चूहे आदि के शरीर की गर्मी को पहचान कर तथा उसकी दिशा समझकर उनका पता लगाता है।

श्रवण, दर्शन स्पर्श स्वाद, गन्ध आदि इन्द्रियों के द्वारा हम उन उन विषयों की सारी जानकारी मिलती हो, ऐसी भी बात नहीं। वायु की तरंगों के जरिये आवाज फैलती है। कान के श्रवण-यन्त्र को इन तरंगों का धक्का लगता है, तो हम आवाज सुनते हैं। वायु की ये तरंगें जितनी लम्बी होती हैं उससे पैदा होनेवाली आवाज उतनी मोटी होती है और तरंग छोटी होने पर आवाज तीखी होती है। सामान्यतया एक सेकण्ड में २ से २ तक की तरंगों को मनुष्य सुन सकता है। पर कुत्ते ३० प्रति सेकण्ड से भी अधिक कम्पनवाली आवाज सुन सकते हैं। इस तथ्य का आविष्कार गाल्टन ने किया था और उन्होंने एक ऐसी सीटी बनायी थी जिससे

प्रकार कुत्तो को सुनाई देनेवाली, पर मनुष्य के लिए अगोचर तीव्र आवाज निकलती थी। जब वे अपने कुत्तो को उस सीटी से बुलाते थे तो लोगो को आश्चर्य होता था कि कोई आवाज नही की, फिर भी कुत्ते कैसे जान जाते है ?

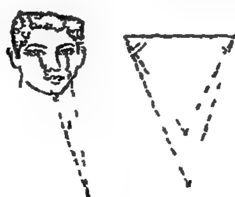
चमगादडो मे इस प्रकार अतिसूक्ष्म आवाज पैदा करने की तथा सुनने की शक्ति होती है। अँधेरे मे वे दीवारों से, पेड-पौधो से बिना टकराये कैसी तेजी से उडते रहते है, इसका आश्चर्य वैज्ञानिको को होता था। फिर पता चला कि यह उडते समय इस प्रकार आवाज करता रहता है और सामने की किसी वस्तु से वह आवाज टकराकर जो प्रतिध्वनि आती है, उससे वह उस वस्तु की दूरी ताड जाता है। पर हम यह आवाज सुन न सकने के कारण अचरज मे रहते है।

यही बात रोशनी की तरग की है। इन्द्र-धनुप के सात रगो में लाल की ओर जायँगे तो तरग बडी होती है और बैंगनी की ओर जाने पर छोटी होती जाती है। लाल के इस पार और बैंगनी के उस पार भी रोशनी की तरगे होती हैं। पर वे हमको दिखाई नही देतीं। मधुमक्खियों को लाल रग दिखाई नही देता। काला या धूसर दीखता है, पर बैंगनी के उस पार (अल्ट्रा-वायलेट) वे अधिक देख सकती हैं।

अलग-अलग रगो मे फर्क करने की शक्ति मे भी भेद पाया जाता है। पतग आदि दूसरे प्राणियो मे रग पहचानने की जितनी शक्ति है, उतनी शक्ति मनुष्य तथा बन्दरों से निम्न कोटि के स्तन्यपायियों में नही होती। यानी गाय, घोडे, कुत्ते, बिल्ली आदि सिर्फ सफेद, काला, लाल तथा भूरा ही पहचान पाते है और बाकी सारे रग इन्हींमें समा जाते हैं।

मनुष्यो में कभी-कभी बीमारी के कारण वर्णान्धता पैदा होती है। तब वह मनुष्य लाल और हरा जैसे बिलकुल अलग दीखनेवाले रगों में भी फर्क नही कर सकता। सारे रग उसे भूरे या धूसर दीखते हैं।

आँखो से हमे फासले का भान होता है। हमारी आँखें एक ही दिशा मे देखती है



दोनों आँखों के सहारे दूरी का भान। दाहिनी तरफ दो जगह से किसी वस्तु की दिशा यानी कोण नापकर किस तरह दूरी का निरूपण किया जाता है, उसका उदाहरण।

तथा एक-दूसरे से थोडी-सी फासले पर हैं। इसके कारण हम किसी चीज को एक साथ

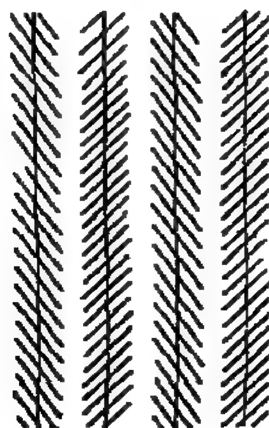
दोनों आँखों से देख सकते हैं। (यह सहूलियत सब जानवरों को नहीं है। उदाहरण आप खुद ही समझ सकते हैं।) किसी एक चीज पर नजर डालने के लिए आँखों की पुतलियों को भीतर की ओर मोड़ना पड़ता है। चीज दूर हो तो कम मोड़ना होता है और नजदीक हो तो ज्यादा। इससे दूरी का अन्दाजा होता है। किसी दूर की चीज की दूरी इसी तरीके से दूरबीन से कोण नापकर भूमिति के सिद्धान्त के अनुसार नापी जाती है।

एक ही आँख का उपयोग करें तो दूरी का किसी प्रकार का अन्दाज लगाना असम्भव नहीं तो कठिन जरूर होता है।

इसका एक प्रयोग आसानी से किया जा सकता है। किसीकी एक आँख ढँक दीजिए। फिर बीस तीस कदम दूर मेज पर कोई वस्तु रखकर उससे कहिए कि वह दौड़ते हुए आकर छड़ी से उस चीज पर वार करे। फिर पता चलेगा कि एक आँख के कारण अन्दाज में कितनी भूल होती है।

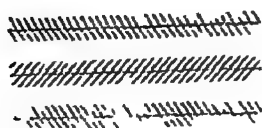


इस लकीर के दो टुकड़ों में कौन सा बड़ा और कौन-सा छोटा है? बायी तरफ का हिस्सा बड़ा दीखता है। पर नापकर देखिए। टेढ़ी रेखाओं के कारण ऐसा भ्रम होता है।



चार सीधी लकीरें

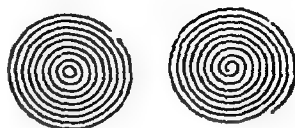
ऊपर की चार लकीरें सीधी हैं या टेढ़ी? जरा फुटपट्टी लगाकर जाँचिए।



तीन समानान्तर लकीरें

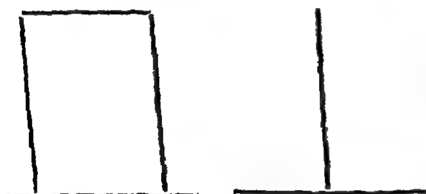
इसमें की तीन लकीरें समानान्तर हैं ? नापकर देख लीजिए।

बगल के चित्र में से पहले में कुछ समकेन्द्रिक वृत्त हैं। अब बगल का चित्र देखिए। घड़ी की स्प्रिंग जैसी एक कुण्डली है न ? वही बगल का वृत्त है, पर वह जिस तरह बनाया गया है, उसके कारण कुण्डली का भ्रम होता है।



समकेन्द्रिक वृत्त और कुण्डली

इस टोपी की ऊँचाई उसकी चौड़ाई से अधिक ही दीखती है न ? पर नाप लीजिए। आड़ी और खड़ी रेखाओं की पारस्परिक अवस्थिति के कारण दोनो नाप असमान दीखते हैं। इस तरह हमारी आँखें हमको धोखा दे सकती हैं।



टोपी ऊँचाई और चौड़ाई समान

सामान्यतया मनुष्यों में पाँच ही ज्ञानेन्द्रियो का अस्तित्व माना जाता है—श्रवण, दर्शन, स्पर्श, स्वाद और गन्ध। पर असल में इनकी सख्या इससे ज्यादा है। इन दूसरी ज्ञानेन्द्रियों या ज्ञान तन्त्रों में मुख्य है—सन्तुलन का तन्त्र, अवयवो की पेशियों तथा जोड़ों की स्थिति तथा सचालन से मिलनेवाली जानकारी का तन्त्र (किनेस्थेटिक सेन्स)।

सन्तुलन का भान कराने के लिए हर कान के अन्दर एक यन्त्र होता है। इन दो यन्त्रों के द्वारा हमको अपने शरीर की अवस्थिति और गतिविधियों का भान होता है। शरीर या मस्तक दाहिने-बायें या सामने-पीछे झुकता है या मुड़ता है, तो उसका पता इसके द्वारा चल जाता है।

दूसरा ज्ञान-तन्त्र है अवयवों की स्थिति गति-जन्य। कताई करते समय धागा टूट गया, तो मैंने बड़े चक्कर को घुमाना छोड़कर दाहिने हाथ का उपयोग सूत साँधने के लिए किया, फिर वह हाथ अपने आप जाकर ठीक बड़े चक्र की मुट्ठी पर बैठ गया। आँखों की मदद आवश्यक नहीं हुई। चरखे के बनिस्बत हाथ की स्थिति किस प्रकार थी, इसका भान पेशियों तथा कोहनी, कलाई तथा उँगलियों के जोड़ों के सचालन तथा स्थिति से दिमाग को होता है, उसके आधार पर वह काम करता है। हम परिचित स्थान

मे घूमते फिरते हैं परिचित सीढीसे उतरते या चढते हैं, परिचित कमरे म अँधेरे मे भी घूम फिर लेते है और चीज ढूँढ लेते है तो उसमे इस ज्ञान तन्त्र का उपयोग होता है। लेखन की, चित्राकन की तथा टाइपराइटिंग की कलाएँ भी इसीकी मदद से सधती हैं।

स्पर्श से हम सर्दी गर्मी सख्ती-नरमी, चिकनापन-खुरदरेपन, हलका भारी के तारतम्य तथा दर्द आदि को पहचानते है। चमडे के अन्दर अवस्थित ज्ञान तन्तुओ के छोरो के द्वारा ये अनुभव हम प्राप्त करते है। असल मे स्पर्श के ज्ञान तन्तु एक नही बल्कि तीन प्रकार के होते है। एक प्रकार के ज्ञान-तन्तु से सर्दी गर्मी का भान होता है। सख्ती नरमी तथा मुलायमपन का भान दूसरे प्रकार के ज्ञान-तन्तु से होता है और दर्द पहचानने का ज्ञान तन्तु तीसरे प्रकार का है। इन तीनो प्रकार के तन्तुओ के छोर चमडे के हर भाग मे बिछे हुए हैं। पर कही बहुत घने हैं तो कही बिल्कुल पतले। इसलिए कहीं कही चमडे के एक छोटे अश में अमुक प्रकार के तन्तु का छोर न हो तो वहाँ से उस प्रकार के स्पर्श का अनुभव हमको नहीं मिल पायेगा। इसका प्रयोग आसानी से कर सकते है। एक गरम कील लेकर पीठ या गरदन पर चुभोते फेरते चले जाइए। कहा सिर्फ दबाव का कही सिर्फ गरमी का और कही सिर्फ दर्द का अनुभव होगा।

उँगलियो मे और होठों मे तन्तुओ के छोर बहुत घने होते ह इसलिए उनके द्वारा हम विभिन्न प्रकार के स्पर्शों का अनुभव बहुत बारीकी से कर सकते हैं। पीठ और गरदन पर ये बहुत दूर-दूर होते है। वहाँ सूक्ष्म अनुभवो का प्रयोजन सामान्य तथा कम होता है न! इसका भी एक प्रयोग आसानी से कर सकते ह।

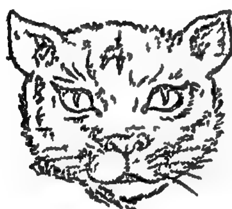
किसी स्कूल के विद्यार्थी के भूमिति के यन्त्रो म से एक डिवाइडर लीजिए जो दो नोकवाला होता है। उसके दोनों नोको को जरा फैलाकर—जिससे कि दोनों के बीच करीब ८ इञ्च का अन्तर हो—किसीको आँखे बन्द करने के लिए कहकर उसकी एक अँगुली के अग्रभाग पर उसे दबाइए। दो नोक हैं, यह अनुभव उनको होगा, फिर नोको मे फासला कम करते जाइए और कहाँ तक दोनो नोक अलग अलग मालूम होते ह यह देखिए। पता चलेगा कि बहुत ही कम फासला इञ्च का पचीसवाँ हिस्सा या उससे भी कम फासले तक भी दो अलग नोकों का अनुभव अँगुली को होगा। फिर इन नोको को इकट्ठा करके पीठ पर रखिए और धीरे धीरे फैलाते तथा पूछते जाइए। आधा-पौन इञ्च के फासले पर दोनों नोक एक ही जैसे मालूम पडेंगे। और भी फैलाते जाइए और किस हद पर दोनों का अलग अलग अनुभव होता है देखिए।

हमारे अनुभव आपेक्षिक होते ह। पहले के अनुभवों की तुलना म ही बाद के अनुभवो को हम नापते हैं। एक कटोरी म ठण्डा तथा दूसरे म गरम पानी रखिए। बीच म एक तीसरी कटोरी मे गरम तथा ठण्डा आधा आधा मिला लीजिए। अब एक हाथ ठण्डे पानी की कटोरी में तथा दूसरा गरम पानी की कटोरी म एक मिनट तक डुबाकर फिर दोनों का बीच की कटोरी मे डुबाइए। ठण्डेवाले हाथ को वह पानी गरम तथा गरमवाले हाथ को ठण्डा मालूम होगा।

वैसे ही एक व्यक्ति बाहर कड़ी धूप में तथा दूसरा व्यक्ति एक बिलकुल अँधेरी कोठरी में कुछ समय बिताने के बाद दोनों एक सामान्य रोशनीदार कमरे में आये, तो कमरे की रोशनी का मूल्यांकन दोनों का विपरीत होगा। रोशनी की कमी बेशी के अनुसार आँख के अन्दर अधिक व कम रोशनी आने देने के लिए उसमें एक परदा है, जिसका छेद छोटा-बड़ा हो सकता है। कम रोशनी में यह छेद फैलकर बड़ा हो जाता है, जिसमें अधिक रोशनी अन्दर जा सके। तेज रोशनी में यह छेद छोटा हो जाता है। अचानक रोशनी में बदल होता है तो इस छेद को अपने को ऐडजस्ट करने का समय नहीं मिल पाता। और इसीलिए अनुभव में फरक होता है।

रात को बिल्ली की आँख के पर्दे का छेद बहुत बड़ा हो जाता है, जिससे अँधेरे में भी जो बहुत थोड़ी रोशनी होती है, वह आँख के अन्दर अधिक मात्रा में जाती है और बिल्ली देख सकती है।

बिल्ली की आँख



दिन में



रात में

ज्ञानेन्द्रियों की इस आपेक्षिकता को टालने के लिए वैज्ञानिकों ने यन्त्रों का ईजाद किया, जिससे सही नाप निकल आता है। किसीका बुखार जाँचने के लिए उसके कपाल पर मैं हाथ रखूँ, तो मेरे हाथ की उष्णता की तुलना में ही मुझे उसकी उष्णता मालूम होगी। पर थर्मामीटर में इस प्रकार तारतम्य का सवाल नहीं रहता। इस तरह इन्द्रियों की आपेक्षिकता को टालकर निरपेक्ष पैमानों के द्वारा ही विज्ञान आगे बढ़ा है।

शायद हमने इसका कभी ख्याल नहीं किया होगा कि खाद्य-पेय वस्तुओं के स्वाद जाँचने में नाक तथा जीभ दोनों मिलकर मदद करते हैं। जीभ के द्वारा स्वाद तथा नाक के द्वारा गन्ध, दोनों के मेल से खाद्य की रुचि का पता चलता है। नाक बन्द करके तथा आँखों से न देखते हुए प्याज तथा नासपाती अलग चबाये जायँ तो दोनों को अलग-अलग पहचानना बहुत कठिन होगा। किसीको जुकाम हुआ हो, तो उसे अक्सर सारे स्वादिष्ट भोजन बेलज्जत मालूम होते हैं।

२

मानस-प्रेरणाएँ

अनुभवों का संगठन

यह नीचे का चित्र देखिए। इसमें क्या दीखता है ? कुछ देर तक देखते रहिए, तो पायेंगे कि अचानक चित्र पलट जायगा और कोई बिल्कुल दूसरी चीज दीखेगी।

अब इस दूसरे चित्र को भी उसी तरह देखते रहिए। यह भी उसी तरह पलट जायगा और इस बार यह परिवर्तन अधिक चकित करनेवाला होगा।

अक्सर हम मान लेते हैं कि बाहरी दुनिया जो है, सो है और अपनी आँख, कान, नाक आदि के द्वारा हमको उसका अनुभव सीधे सरल रूप से मिल जाता है। यह पेड़ है, वह मेज है, वहाँ वह लड़का खेल रहा है, इस प्रकार की जानकारी स्वतःसिद्ध ही है। पर वास्तव में वैसा नहीं है। इस सादे से प्रयोग से सिद्ध होता है कि एक सादी-सी चीज भी हमको अलग-अलग रूप में दिखाई दे सकती है। वास्तव में अपनी इन्द्रियों के द्वारा हमको जो संवेदनाएँ (सेन्सेशन्स) मिलती हैं, उनको जोड़कर ही हम बाहर की दुनिया के बारे में अपनी धारणा खड़ी करते हैं और बचपन से शुरू करके लम्बे समय तक के अनुभवों पर से ही हमारी यह धारणा बनती है।



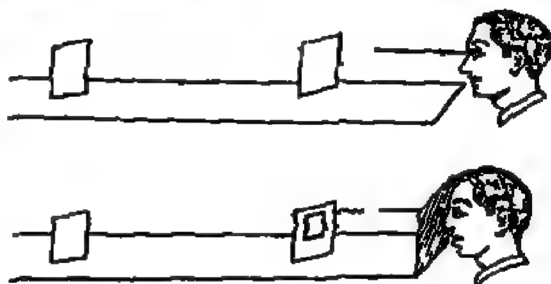
वहाँ उस खिड़की से एक मेज दिखाई दे रही है। उसे देखते ही मुझे पता चलता है कि यह बच्चों के पढ़ने की मेज है, जो लम्बाई में चार फुट तथा चौड़ाई में तीन फुट है। उसके चार पैर हैं और वह सागान की लकड़ी की बनी हुई है, इत्यादि। पर क्या वास्तव में मुझे यह सब इस क्षण दिखाई दे रहा है ? मेज के अपने दर्शन को ठीक ठीक जाँचता हूँ, तो पता चलता है कि मुझे तो उसका एक किनारा ही दिखाई दे रहा है। उसकी चौड़ाई दीखती ही नहीं। टाँगें दो ही दीख रही हैं। खिड़की तो एक ही हाथ चौड़ी है और उसका आधा ही तो उस मेज ने घेरा है।

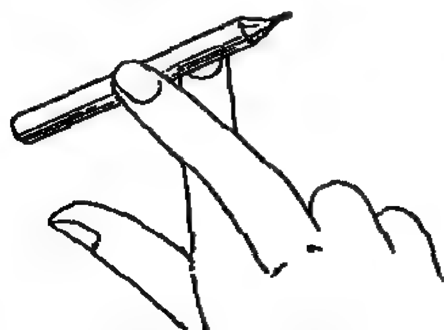
मैंने इस मेज को सैकड़ों बार देखा है और शायद ही मैंने दो बार ठीक एक ही जगह से उसको देखा होगा। इसलिए हर दर्शन में मुझे अलग-अलग अनुभव मिले हैं। इन सबका समन्वय करके उसमें से मैंने इस मेज के आकार-प्रकार का अनुमान किया है। इस मेज का मेरा यह 'दर्शन' प्रत्यक्ष वस्तुज्ञान नहीं, 'अनुमान' है। यह बात खटक सकती है, पर बिल्कुल सही है। पर यह 'अनुमान' है, इसलिए इसमें वास्तविकता नहीं है, ऐसी बात नहीं। यह अनुमान वहाँ बाहर स्थित वास्तविक मेज के अस्तित्व का काफी सही चित्र है। उसके आधार पर मैं मेज का उपयोग करता हूँ, तो सामान्यतया धोखा नहीं खाता हूँ। यद्यपि मुझे अभी दो ही पैर दीखते हैं, फिर भी मैं पूर्व अनुभव

से जानता हूँ कि उसके चार पैर है और चार पैर है, इसलिए वह स्थिर सन्तुलनवाला है। उस पर एक तरफ भारी सामान रखने से वह उल्ट नहीं जायगा, स्पर्श के अनुभव से मै जानता हूँ कि उसके ऊपर की सतह सख्त है, पर चिकनी है। उस पर कागज रखकर लिखूँ तो कलम मजे से चलेगी।

पर इस प्रकार के अनुभव मे धोखा भी हो सकता है। अध्याय के शुरू मे हमने देखा कि एक ही चीज हमको अलग-अलग रूप मे दीख सकती है। दृष्टि विभ्रम के कुछ उदाहरण हमने पिछले अध्याय मे देखे है। अब यह एक प्रयोग करके देख सकते है।

मेज पर दो ताश करीब दो फुट के फासले पर आमने-सामने खडे करके एक तरफ से थोडी ऊँचाई से देखिए। नजदीकवाले ताश से पीछे के ताश का कुछ हिस्सा ढँका दीखेगा। और पीछेवाला जरा छोटा भी दीखेगा। इससे हम 'जानेगे' कि नजदीकवाला नजदीक और दूरवाला दूर है। अब मेज के किनारे एक कार्डबोर्ड लगाकर उसमे उतनी ऊँचाई पर एक छोटा सा छेद कीजिए, जितनी से आप ताश को देख रहे थे। फिर सामनेवाले ताश के बीच का उतना हिस्सा काट दीजिए जितना पीछेवाले ताश को ढँकता था। अब कार्डबोर्ड के छेद से एक आँख से ताशो को देखने पर सारा उल्टा ही मामला दीखेगा। लगेगा कि सामनेवाला ताश वास्तव मे पीछेवाले के पीछे है और उससे बहुत बडा भी है। यानी पीछेवाले ने ही सामनेवाले के एक हिस्से को ढँक रखा है, ऐसा लगेगा।





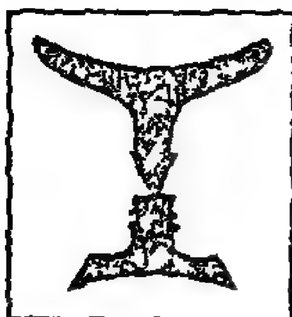
दो उँगलियों मे एक पेन्सिल

इन्द्रियो की अनुभूतियो का सगठित करके यानी जोडकर कैसे हमारा बाहरी जगत् का अनुभव निर्मित बनता है उसका एक उदाहरण एक आसान प्रयोग से देख सकते हैं। एक हाथ की तर्जनी तथा बीच की उँगलियों को एक दूसरे पर आडी रखिए—फिर दोनो के बीच मे एक पेंसिल रखिए। आपको दो पेंसिल का अनुभव होगा

आँख बन्द करेंगे तो यह अनुभव और भी प्रामाणिक मालूम होगा। फिर दोनों के दो तरफ दो पेंसिल एक साथ रखिए, तो एक ही पेंसिल का-सा अनुभव होगा। यह इसलिए होता है कि सामान्यतया हम दो उँगलियों के बीच में किसी एक चीज के दो बाजुओं का अनुभव करना सीखते हैं। दोनों उँगलियाँ समानान्तर हों, तो उसके दोनों तरफ दो वस्तुओं का अनुभव करते हैं। उँगलियों को आड़ा करने पर यह स्वाभाविक क्रम उलट जाता है।

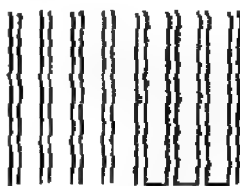
कुछ प्रयोगकारों ने उलटानेवाला चश्मा इस्तेमाल करके देखा है। इस चश्मे से सारा दृश्य उलटा दीखता है, ऊपर का नीचे और दाहिने का बायें। इससे तो शुरू में सब गड़बड़ होता है। दाहिनी चीज बायें दीखती है तो हाथ उलटी दिशा में चला जाता है। ऊपर चढ़नेवाली सीढ़ियाँ नीचे उतरती दीखती हैं, तो पैर नीचे उतरने की कोशिश में ठोकर खाता है। पर कुछ हफ्तों के अभ्यास के बाद यह उलटी दुनिया की आदत बन गयी और फिर बिना सोचे ही हाथ-पैर आदि ठीक-ठीक काम करने लगे। आखिर यह मनुष्य मजे में सड़क पर मोटर-साइकिल भी चला सका। उलटे चित्र के साथ उनकी क्रियाओं का सामंजस्य सध गया। इसी प्रकार ही अपनी इन्द्रियों के स्वाभाविक दर्शन के साथ भी बचपन में अपने अवयवों का सामंजस्य अभ्यास से सधता है। अपने अनुभवों को संगठित करने की तथा उसके आधार पर अपने आचरण को व्यवस्थित करने की प्रक्रिया जन्म से चलती रहती है, और इतने सहज भाव से चलती है कि उस ओर हमारा ध्यान नहीं जाता। पर बच्चे को सामान्य क्रियाएँ सीखने के लिए कितनी कोशिश करनी पड़ती है, उसका ख्याल करें तो बात ध्यान में आयेगी। बच्चे के झूले में उसकी आँखों के सामने लटकायी गयी लाल गेंद को वह छूने की कोशिश कर रहा है। हाथ वहाँ तक कभी पहुँचते हैं और कभी नहीं। गेंद को हाथ से छुआ तो भी उसे अपनी मुट्ठी की पकड़ में लाना अभी दूर की मंजिल है। इसमें सिर्फ अवयवों पर नियन्त्रण नहीं, धीरे-धीरे वस्तुस्थिति की धारणा या अनुभव के भी संगठित होने की बात है।

अपने अनुभवों के अलग-अलग टुकड़ों को जोड़कर उसमें से अर्थ निकालने की ताकत अपने दिमाग में है। प्रयोग से इसका पता चलता है। जिस वस्तु को हम देख रहे हों, उसका समस्त भाग हम एक ही निगाह से देख लेते हों, ऐसी बात नहीं। एक बार में हम एक छोटा-सा अंग ही देख सकते हैं तथा पकड़ सकते हैं। कई वस्तुएँ हों तो एक ही नजर में सामान्यतया हम छह से आठ तक गिन सकते हैं। एक बार सुनकर छह से आठ तक अंक या अक्षर याद रख सकते हैं, इत्यादि। पर इस प्रकार के टुकड़े-टुकड़े अनुभवों को इकट्ठा जोड़कर बड़े टुकड़ों को इकट्ठा पकड़ने की आदत हमारी बनती है। पढ़ना सीखते समय हम पहले एक-एक अक्षर पहचानकर शब्दों को पढ़ते हैं। पर धीरे-धीरे अक्षर गौण हो जाते हैं, पूरा शब्द ही हमारी पकड़ में आ जाता है। फिर शब्द के अन्दर अलग अक्षरों की ओर ध्यान नहीं जाता। गलतियाँ हों तो भी पता नहीं चलता।



पिछले पैराग्राफ में ही कितनी गलतियाँ हैं, यह ज़रा ध्यान से देखिए। पहली बार पढ़ गये तो ध्यान में आयी थीं क्या?

किसी वस्तु में एकाधिक रंग हों, तो उसमें से एक रंग का हिस्सा पृष्ठभूमि और दूसरा हिस्सा उस पर की आकृति सा पहचाना जाता है। सामान्यतया जिस रंग का हिस्सा अल्प परिमाण में होता है, वही आकृति जैसा दीखता है। पर दोनों रंगों के हिस्से करीब-करीब समान हों तो विभ्रम पैदा होता है। ऊपर का चित्र देखिए। क्या दीखता है? एक फूलदानी? पर थोड़ी देर ध्यान से देखिए। दो मुँह दिखाई देंगे। फिर बगल का चित्र देखिए। चित्र के पहले हिस्से में दो-दो लकीरें नजदीक हैं इसलिए आँखें उनको उस प्रकार की जोड़ियों में पहचानती हैं। पर दूसरे हिस्से में वे ही खड़ी लकीरें आड़ी लकीरों से जोड़ दी गयीं तो जोड़ियाँ बदल गयीं। अब दूर-दूर स्थित लकीरों की जोड़ियाँ बन गयीं।



बगल के चित्र में बिंदियों और खानों में फासले बराबर हैं। पर समानता के कारण हम बिंदियों तथा खानों की खड़ी कतारें दीखती हैं। अनुरूप वस्तुओं को एक साथ लेने की ओर झुकाव होता है। इस तरह चीजें एक साथ हिलती हैं तो उनको इकट्ठा समझने की ओर झुकाव होता है।

अपने कामकाजी जीवन में हम बाहर की वस्तुस्थिति का जो अनुमान गढ़ा करते हैं उसमें भी बहुत सारी अपूर्णताएँ रहती हैं। इसका एक रोचक उदाहरण एवरेस्ट की चोटी पर जाने के लिए आयी हुई एक टोली के नायक एरिक शिप्टन ने अपनी किताब में दिया है। अभियान की टोली एवरेस्ट के दक्षिण की तरफ चल रही थी। शिप्टन ने उस चोटी को पहले उत्तर की तरफ से देखा था। अब दक्षिण की तरफ आये तो वह चोटी उसके साथ तथा आसपास के दूसरे भागों को शिप्टन तुरन्त पहचानने लगे। पर उनके साथ जो शेरपा सरदार था उसने इन चोटियों को बरसों से दोनों तरफ से देखा था। पर अब तक उसके दिमाग में यह कल्पना नहीं आयी थी कि ये दोनों दृश्य एक ही वस्तु के दो पहलू थे। शिप्टन के बताने

पर ही यह बात उसके ध्यान में आयी। शिप्टन को सारी हिमालय पर्वतमाला के भूगोल का भान था, शेरपा सरदार को नहीं था, एक ही पर्वत-शिखर के अपने दोनों दर्शनों को एकत्र करने की बात उसको सूझी ही नहीं थी।

जिस प्रकार मेज के अनेक अनुभवों के आधार पर मेज की मेरी धारणा बनी, वैसे मेरे अनुभव की हरएक वस्तु तथा हरएक परिस्थिति के अनेक अनुभवों से मेरे आसपास की दुनिया की मेरी धारणा बनी है। इसी प्रकार हरएक की धारणा बनी है। इन धारणाओं की अपूर्णताओं को दूर करके अधिक समग्र और अधिक सही धारणा निर्माण करने की प्रक्रिया को समग्रीकरण कहते हैं। इसीके आधार पर विज्ञान खड़ा हुआ है। पेड़ पर से फल टपकता है, आसमान में चाँद घूमता है। दोनों की गतिविधि में गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त मेल बिठाता है, दोनों को एक सूत्र में बाँधता है। इस तरह विज्ञान कुदरत के बारे में अधिक व्यापक तथा प्रामाणिक धारणाएँ बनाता चला जाता है और उनके आधार पर कुदरत की गोद में मनुष्य अधिक सरलता, सफलता तथा क्षमता के साथ जी सकता है।

हममें अपने अनुभवों में से चुनाव करने की ओर भी झुकाव होता है। इससे दुनिया का व्यवहार चलाना आसान होता है। उधर ध्यान देता हूँ, तो मेरे कान में इस समय कई आवाजें आती हैं सड़क पर मोटर की भों-भों, बच्चों की चिल्लाहट, फेरीवाले की पुकार, साइकिल की घण्टी—उस ओर ध्यान देता हूँ, तो ये सारी तथा और अनेक प्रकार की आवाजों को अलग-अलग पहचान सकता हूँ। पर सामान्यतया इनकी ओर मेरा ध्यान नहीं जाता। लेकिन दरवाजा खटखटाने की आवाज आयी या टेलीफोन की घण्टी बजी, तो तुरन्त चौकन्ना हो जाता हूँ। अगर मेरे कान, नाक, आँख आदि को हमेशा जितनी संवेदनाएँ मिलती रहती हैं, उन सबकी ओर मैं ध्यान देता रहूँ तो जीना असम्भव हो जायगा।

इसलिए मन अपने पहले के अनुभवों के आधार पर संवेदनाओं में से चुनाव करता है, चुनी हुई संवेदना को महत्त्व देता है। फिर उनका अर्थ-निरूपण करता है।

हमारे आश्रम में एक नया कार्यकर्ता आता है। हफ्तेभर में मैं देखता हूँ कि वह सुबह समय पर उठने में ढिलाई करता है। तीन दिन प्रार्थना में नहीं आया, सफाई-काम में भी पूरा योग नहीं दिया। मैं तय कर लेता हूँ कि वह आलसी स्वभाव का है, उससे कुछ नहीं बनेगा। सात दिन में वह कितने प्रकार की क्रियाएँ करता रहा। नहाया, धोया, भोजन किया, किताबें पढ़ीं, दूसरों के साथ बातचीत की, कुछ लिखता रहा, और न जाने क्या-क्या किया। पर उन सबकी ओर मेरा ध्यान नहीं गया। इन तीन मुद्दों को मैंने लाक्षणिक मान लिया, उनको महत्त्व दिया और उस पर से अमुक निष्कर्ष पर पहुँचा। आश्रम के लिए किस योग्यता का कार्यकर्ता चाहिए, उसकी अच्छी कल्पना मुझे लम्बे अनुभव से मिली है। पर इस लम्बे अनुभव में भी मैं अपनी संवेदनाओं से चुनाव ही करता आया हूँ।

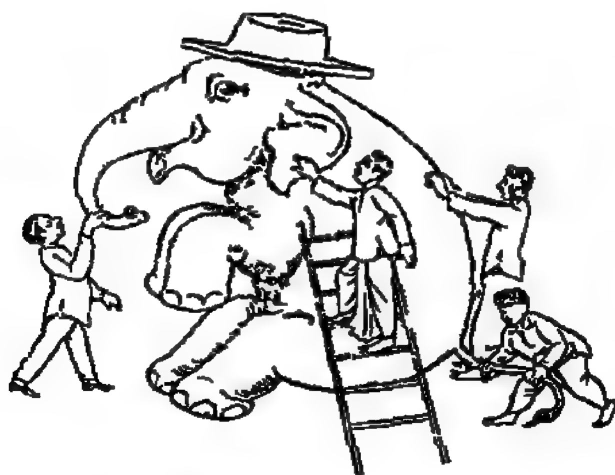
वही मनुष्य एक समाचारपत्र के दफ्तर में पहुँचा, वहाँ उसकी दूसरी क्रियाओं

की ओर ध्यान दिया गया। पुस्तकों तथा अखबारों को पढ़कर उनका मुख्य आशय कहाँ तक वह पकड सकता है? किसने में अपने विचारों को स्पष्ट प्रकट कर सकता है क्या? किसी मुद्दे को लेकर ठीक ठीक बहस कर सकता है क्या? इस तरह उसका एक दूसरा चित्र उस समाचार-पत्र के सम्पादक महाशय के दिमाग में बना।

वह अपने एक रिश्तेदार के यहाँ रहता है। उसको दिखता है कि यह लडका बहुत स्नेहशील है। बच्चों को प्यार करता है, अक्सर अपने परिवार की आर्थिक स्थिति के बारे में दुखी रहता है। उसे चोरों का बडा भय है। रात को दरवाजा, खिडकियाँ सब अच्छी तरह से बन्द करके ही सोता है।

शहर में दंगा हुआ तो उसके चरित्र का चौथा पहलू ध्यान में आया। वह साम्प्रदायिक मनोभाव से सर्वथा मुक्त पाया गया। काफी दौड धूप करके पीडितों को मदद पहुँचायी। अपनी जान के खतरे की भी परवाह नहीं की।

इस तरह एक ही व्यक्ति के चार अलग अलग टुकडे हमारे ध्यान में आये। इस प्रकार अपने चारों ओर की सृष्टि के अलग अलग पहलू हम अपने-अपने प्रयोजन के



अनुसार ध्यान में लेते हैं और अपने मानस में उसका चित्र खडा करते हैं। इससे अक्सर रोजमर्रे का काम चल जाता है। पर कभी कभी अटकता भी है क्योंकि ये चित्र अपूर्ण हैं। ऐसे चित्रों को जोडकर अधिक पूर्ण चित्र खडा करने पर ही सृष्टि के बारे में हमारी समझ बनती है।

मन की एक और शक्ति है—सामान्यीकरण जेनेरलाइजेशन या कैटेगराइजेशन। एक डॉक्टर थे जो कान में श्रवण यंत्र लगाया करते थे और वे एक परिवार में आया करते थे जिसमें एक छोटी लडकी रहती थी। एक बार उस लडकी ने श्रवण यंत्र लगाये

हुए दूसरे सज्जन को देखा तो झट से बोल उठी 'डॉक्टर साहब'। उसने एक सहज प्रक्रिया का ही प्रयोग किया, हालॉकि यहॉ वह गलत साबित हुई। हम किसीको गले में स्टेथोस्कोप लटकाये हुए देखते हैं तो उसे डॉक्टर ही समझ लेते हैं न ! दो-चार डॉक्टरों के अनुभव पर से हमने सामान्यीकरण किया है कि स्टेथोस्कोपवाले डॉक्टर होते है या डॉक्टर स्टेथोस्कोपवाले।

हम एक चीज के साथ दूसरी चीज को इकट्ठी देखते-सुनते हैं, तो दोना म सम्बन्ध मान लेते है। एक ही प्रकार की दीखनेवाली दो सवेदनाओं को एक ही वर्ग मे डाल देते हैं। इस तरह वस्तुओं के अलग-अलग पर्याय बनते है। दो वस्तुएँ एक पर्याय मे आयी तो दोनों म न दीखनेवाली सिफतों म भी साम्य मान लेते है और एक के साथ उसका सम्बन्ध हो तो दूसरे से भी उसकी अपेक्षा रखते है। स्टेथोस्कोप देखकर डॉक्टर को पहचानते है। फिर डॉक्टर से अपेक्षा रखते है कि वह अमुक प्रकार का बर्ताव करेगा।

इससे हमारा जीवन आसान हो जाता है। अनुभवो के जगल मे रास्ता निकल आता है। इससे नयी चीजों को पहचानना आसान होता है। कई चीजो को एक टोकरी में डाल देने से उनके बारे मे सोचना आसान हो जाता है। चार पैरो पर एक तख्ता देखा तो पहचाना—'मेज', सफेद टोपी और खादी के कपडे—'काग्रेसवाला', लुगी और दाढी–'मुसलमान'।

आसमान मे बादल दीखे, तो छाता निकाला। गुर्राता हुआ कुत्ता देखा, तो सोचा कि वह काटेगा, और दूसरी तरफ सरक गया। दूकान पर गया, तो अपेक्षा रखी कि दूकानदार अदब के साथ पेश आयेगा। अक्सर ये अनुमान सही निकलते हैं, पर कभी-कभी गलत भी। बादलो के बावजूद बारिश नही होती। गुर्रानेवाला कुत्ता काटनेवाला नही होता। दूकानदार बेअदबी और लापरवाही से पेश आता है। पर आखिर सामान्यीकरण के बिना चलता कैसे? रोजमर्रे के हजारों अनुभवो को कैसे और कहॉ तक एक-एक करके जॉचें? सूरज रोज उगता है, गर्मी के मौसम के बाद बारिश आती है, यह भी सामान्यीकरण है। विज्ञान के सिद्धान्त सामान्यीकरण ही होते है।

सारे मुख्य मुद्दो को ध्यान मे लेकर सामान्यीकरण किया जाता है, तो गल्ती की सम्भावना कम होती है। फिर नया अनुभव उसम बैठता नहीं है, तो उसको सुधारने की आवश्यकता होती है। अनुभव से दीख पडा कि गर्मी, बारिश, शरद्, हेमन्त, शीत और वसन्त—इन ऋतुओं की एक चक्कर के दरम्यान चॉद की बारह अमावस और बारह पूर्णिमाएँ आती है। इस अनुभव से बारह पूर्णिमाओ के एक चक्कर का एक वर्ष माना गया। पर अनुभव से पता चला कि गर्मी के शुरू में आनेवाली पूर्णिमा वसन्त में आने लगी है। तो तीन साल मे एक बार तेरह महीने का वर्ष करार दिया गया। पर आगे सूरज की गति के साथ मौसम और वर्ष को जोड दिया, तो बराबर हिसाब बैठ गया। बारह महीने के और तेरह महीने के, दो प्रकार के वर्षों की जरूरत नहीं रही।

पर हमम आदतो का बडा जोर होता है और उनको बदलना आसान नही होता। इसलिए एक बार बने हुए सामान्यीकरण से चिपके रहने की ओर झुकाव होता है। दुनिया मे ऐसी जमातें है, जो सिर्फ बारह महीनेवाले चान्द्रमान वर्ष के अनुसार चलती ह। उनम कोई एक महीना किसी एक ऋतु म नहा आता। इस मारे यह महीना वारिश म आया तो छह साल के बाद गर्मी म आयेगा।

इस प्रकार के अधूरे सामान्यीकरण से अक्सर हमारा व्यवहार निभ जाता है इसलिए उनकी गलती ध्यान मे नही आती। मैंने मान लिया कुत्ते काटनेवाले होते है।' अब मै हर कुत्त से दूर रहने लगा। मेरा कोई काम बिगडा नही और न यह जानने का मौका मिला कि दुनिया म प्यारे कुत्त भी होते हैं।

हमारा सोचना दो तरह से चलता है। किसी विषय म हम तर्कशुद्ध ढग से सिलसिलेवार सोचते है, तो वह चिंतन कहलाता है। उसकी मदद से हम वास्तविकता को समझने म सफल होते ह। पर अक्सर हमारा सोचना अपने अन्दर से उठनेवाली भावना और प्रेरणाओं से प्रभावित होता है। इसकी प्रक्रियाओ की तफसील से चर्चा आगे होगी। इस प्रकार की चिंता' अपनी भावनाओं और आवेगों से रँगी हुई होती है। वास्तविकता के साथ उसका सामजस्य कम होता है। मुझे एक कुत्ते ने काटा। मने भय के असर म आकर सामान्यीकरण किया कि कुत्ते काटनेवाले होते है। तो यह सब कुत्तो क बारे म एक अवास्तव कल्पना हुई।

हमारे अनुभवों का अधूरा चुनाव, अधूरा सामान्यीकरण और अधूरा समन्वीकरण (इटीग्रेशन) होता है तो वास्तविक दुनिया का हमारा दर्शन भी अधूरा रह जाता है। फिर उसमें हमारे कामकाज सक्षम और सफल नही होते। और आज उससे मह व की बात है कि गलत दर्शन के कारण मानव समूहो म गलतफहमी भेद और झगडे खडे होते हैं। इस सम्बन्ध मे अधिक चर्चा आगे यथास्थान होगी।

एक महत्वपूर्ण बात ध्यान मे रखनी है कि हमारा यह सारा सीखना और यह अनुभवों का सगठन सामाजिक सन्दर्भ में ही चलता है। माता पिता या उनके स्थान म दूसरे अभिभावक, परिवार के लोग तथा अडोस-पडोस के लोग—इन सबके बिना बच्चे का किसी प्रकार का विकास हो ही नहीं सकता। जन्म से वह शारीरिक सुरक्षा और पोषण के लिए परिवाररूपी समाज पर निर्भर होता ही है। मानसिक विकास के लिए भी उसी प्रकार उसी समाज पर वह निर्भर होता है।

बच्चे को हरएक काम सीखने म बडे लोग कितनी मदद देत ह। उसकी निगाह अपनी ओर खींचने के लिए वे मुँह हिलाने के साथ शब्द भी करत ह। हाथ पसारने को उत्साहित करन क लिए रगीन गेंद आँख के सामने उछालते ह। जब मुन्ना पहले पहल खडा हुआ, तब उस प्रदर्शन को देखने मे जो उत्साह और आनन्द होता ह शायद राष्ट्रपति चुने जाने पर भी उतना आनन्द का दर्शन मुश्किल स होता होगा। फिर हरएक कदम पर उसे जो प्रोत्साहन और शाबाशी मिलती रही वह तो टेस्ट मैच म सेंचुरी बनाने पर हुए हुए खिलाडियो को मिलनेवाली शाबाशी से कम नहीं होती। इस तरह वह

समाज की मदद, प्रोत्साहन और अनुभवों के सहारे सीखता रहता है। इसमें और एक चीज बहुत ही अधिक महत्त्व रखती है और वह है वाणी।

मनुष्य को वाक्शक्ति मिली, वह अपने हल्क से इच्छानुसार सूक्ष्म तारतम्य में आवाज निकालने में समर्थ हुआ। फिर उस आवाज के भिन्न-भिन्न संकेत बनाये और दुनिया की एक एक वस्तु, विचार या कल्पना के साथ एक एक संकेत को जोड़ा। इससे उसमें अपने अनुभवों को सुव्यवस्थित करने की, अनुभवों को एक-दूसरे के साथ जोड़कर उसमें से अधिक महत्त्व का सार निकालने की तथा दूसरों के साथ उनके आदान-प्रदान करने की बड़ी सामर्थ्य आ गयी। हमने एक लोहे के टुकड़े को, एक पत्थर के तथा एक लकड़ी के टुकड़े को हाथ से उठाकर अनुभव लिया। फिर उसमें से एक सर्व-सामान्य धारणा निकाली, 'भारीपन' की। वाणी के बिना यह भारीपन की धारणा बनती कैसे, दिमाग में संगृहीत होती कैसे और दूसरों को मालूम करायी जाती कैसे? वाणी की मदद से मानव-समाज का सामूहिक अनुभव और चिंतन स्थायी रूप से संगृहीत हो सका। लेखन की कला से इसको अधिक व्यापक और स्थायी रूप मिलना सम्भव हुआ।

पैवलोव और शिक्षण की प्रक्रिया : ७ :

इस बीसवीं सदी के शुरू में रूस के एक वैज्ञानिक पैवलोव ने प्रयोग का एक सिलसिला शुरू किया, जिसका मनोविज्ञान पर बड़ा महत्त्वपूर्ण असर रहा है। पैवलोव तो शरीर विज्ञान के विद्वान् थे और उसीके प्रयोग करते-करते उनको मनोविज्ञान के प्रयोग सूझे। कुत्तों की पाचन क्रिया पर वे प्रयोग कर रहे थे। उसके दरमियान उनके ध्यान में आया कि कभी कभी भोजन दिये जाने से पहले ही कुत्तों के मुँह से लार टपकने लगती थी। उन्होंने इस विषय पर बाकायदा शोध शुरू कर दिया।

उन्होंने कुत्तों के मुँह में शल्य क्रिया करके उसके लार पैदा करनेवाली ग्रन्थियों की नालियाँ बाहर की ओर कर दीं, जिससे लार बाहर टपके और एक पात्र में संगृहीत की जा सके। फिर वे इस प्रकार के कुत्ते को एक टेबुल पर इस तरह बाँध रखते थे, जिससे वह आराम से रहे, पर हिल डुल न सके, तथा इसे ऐसे कमरे में रखते थे, जिसमें बाहर की कोई आवाज न आये या बाहर की कोई चीज न दिखे। फिर वे उस पर प्रयोग करते थे। दो तीन घण्टे भूखा रखने के बाद उसके लिए खाना लाया जाता था, तो उसे देखकर उसके मुँह से लार टपकने लगती थी। अब भोजन लाये जाने के ठीक पहले एक घंटी बजायी गयी, तो आठ-दस दिन के प्रयोग के बाद घंटी सुनते ही उसके मुँह से लार टपकने लगी। फिर घंटी से जरा पहले एक रोशनी दिखायी गयी, तो रोशनी ने घंटी का स्थान ले लिया और अब रोशनी देखते ही लार टपकने लगी। इस तरह भोजन देखकर जो लार टपकने की प्रक्रिया शुरू होती है, वह दूसरी वस्तु के साथ

पर हममें आदतों का बड़ा जोर होता है और उनको बदलना आसान नहीं होता। इसलिए एक बार बने हुए सामान्यीकरण से चिपके रहने की ओर झुकाव होता है। दुनिया में ऐसी जमातें हैं, जो सिर्फ बारह महीनेवाले चान्द्रमान वर्ष के अनुसार चलती हैं। उनमें कोई एक महीना किसी एक ऋतु में नहीं आता। इस साल यह महीना बारिश में आया, तो छह साल के बाद गर्मी में आयेगा।

इस प्रकार के अधूरे सामान्यीकरण से अक्सर हमारा व्यवहार निभ जाता है, इसलिए उनकी गलती ध्यान में नहीं आती। मैंने मान लिया 'कुत्ते काटनेवाले होते हैं।' अब मैं हर कुत्ते से दूर रहने लगा। मेरा कोई काम बिगड़ा नहीं और न यह जानने का मौका मिला कि दुनिया में प्यारे कुत्ते भी होते हैं।

हमारा सोचना दो तरह से चलता है। किसी विषय में हम तर्क-शुद्ध ढंग से सिलसिलेवार सोचते हैं, तो वह चिंतन कहलाता है। उसकी मदद से हम वास्तविकता को समझने में सफल होते हैं। पर अक्सर हमारा सोचना अपने अन्दर से उठनेवाली भावना और प्रेरणाओं से प्रभावित होता है। इनकी प्रक्रियाओं की तफसील से चर्चा आगे होगी। इस प्रकार की 'चिंता' अपनी भावनाओं और आवेगों से रँगी हुई होती है। वास्तविकता के साथ उसका सामंजस्य कम होता है। मुझे एक कुत्ते ने काटा। मैंने भय के असर में आकर सामान्यीकरण किया कि 'कुत्ते काटनेवाले होते हैं।' तो यह सब कुत्तों के बारे में एक अवास्तव कल्पना हुई।

हमारे अनुभवों का अधूरा चुनाव, अधूरा सामान्यीकरण और अधूरा समन्वीकरण (इंटीग्रेशन) होता है, तो वास्तविक दुनिया का हमारा दर्शन भी अधूरा रह जाता है। फिर उसमें हमारे कामकाज सक्षम और सफल नहीं होते। और आज सबसे महत्त्व की बात है कि गलत दर्शन के कारण मानव-समूहों में गलतफहमी, भेद और झगड़े खड़े होते हैं। इस सम्बन्ध में अधिक चर्चा आगे यथास्थान होगी।

एक महत्त्वपूर्ण बात ध्यान में रखनी है कि हमारा यह सारा सीखना और यह अनुभवों का संगठन सामाजिक सन्दर्भ में ही चलता है। माता-पिता या उनके स्थान में दूसरे अभिभावक, परिवार के लोग तथा अड़ोस-पड़ोस के लोग—इन सबके बिना बच्चे का किसी प्रकार का विकास हो ही नहीं सकता। जन्म से वह शारीरिक सुरक्षा और पोषण के लिए परिवाररूपी समाज पर निर्भर होता ही है। मानसिक विकास के लिए भी उसी प्रकार उसी समाज पर वह निर्भर होता है।

बच्चे को हरएक काम सीखने में बड़े लोग कितनी मदद देते हैं! उसकी निगाह अपनी ओर खींचने के लिए वे मुँह हिलाने के साथ शब्द भी करते हैं। हाथ पसारने को उत्साहित करने के लिए रंगीन गेंद आँख के सामने उछालते हैं। जब मुन्ना पहले-पहल खड़ा हुआ, तब उस प्रदर्शन को देखने में जो उत्साह और आनन्द होता है, खुद राष्ट्रपति चुने जाने पर भी उतना आनन्द का दर्शन मुश्किल से होता होगा। फिर हरएक कदम पर उसे जो प्रोत्साहन और शाबाशी मिलती रही, वह तो टेस्ट मैच में सेंचुरी करने पर फूले हुए खिलाड़ियों को मिलनेवाली शाबाशी से कम नहीं होती। इस तरह यह

जुड़ गयी। फिर दूसरी से तीसरी, तीसरी से चौथी, इस तरह कई उद्दीपनों की शृंखला के साथ उसको जोड़ते जाना सम्भव हुआ।

लार टपकने की प्रक्रिया एक स्वचालित क्रिया है, जिस पर प्राणी की सचेतन इच्छा का नियन्त्रण नहीं होता। इस प्रकार की क्रियाओं को 'रिफ्लेक्स' क्रिया कहा जाता है, यह हमने पहले देखा है। तो इस प्रकार एक रिफ्लेक्स क्रिया के स्वाभाविक कारण के स्थान पर दूसरे कारण को स्थानापन्न करने की प्रक्रिया को कंडीशनिंग या सम्बद्ध करना कहा जाता है और इस तरह नये कारण या उद्दीपन के साथ जुड़े हुए रिफ्लेक्स को 'कण्डीशण्ड रिफ्लेक्स' या सम्बद्ध सहजक्रिया कहा जाता है।

स्पष्ट है कि भोजन के साथ घण्टी की आवाज कुत्ते के ध्यान में एक साथ आती है तो उसके मन में दोनों के बीच एक सम्बन्ध जुड़ जाता है, फिर घण्टी सुनकर वह भोजन की अपेक्षा करने लगता है। पर ध्यान में लेने की बात है कि यह सम्बन्ध जुड़ने की प्रक्रिया मन के ऐच्छिक स्तर पर चलती नहीं है। इसमें बौद्धिक समझ का सवाल नहीं है। हम भी भोजन की घंटी को भोजन के साथ जोड़ते हैं और घंटी सुनकर भोजन के स्थान पर चल देते हैं। पर कभी कभी हम भोजन के लिए नहीं भी जा सकते हैं। पर लार का झरण तो वश के बाहर की बात होती है। उसको हम रोक नहीं सकते। इमली या अचार जैसी खट्टी चीजों के नाम के साथ कइयों का इस प्रकार लार झरण सबद्ध हो जाता है। 'इमली' या 'अचार' शब्द सुनते ही मजबूरन् मुँह में पानी भर आता है।

तो इसमें बड़ी बात क्या है? इमली का नाम सुनने से मुँह में पानी भर आता है यह तो किसी बच्चे से पूछने पर वह बता सकता था। इसमें इतने प्रयोग करने की क्या था? पेड़ से फल टूटने से जमीन पर गिरता है, आसमान में पत्थर फेंकने से वह जमीन पर गिरता है, यह भी हर बच्चा जानता था। पर न्यूटन ने इसे वैज्ञानिक स्वरूप दे दिया, उस गिरने की प्रक्रिया का गणित खोलकर रख दिया और उसके आधार पर मनुष्य महाशून्य में गोता लगाने तक पहुँच गया। इसमें भी उसी प्रकार पैवलोव ने मन की कुछ प्रक्रियाओं की सूक्ष्म जानकारी हासिल की, जिसके आधार पर मनोविज्ञान कई दिशाओं में आगे बढ़ सका।

अब उनके प्रयोगों के बारे में हम आगे बढ़ें। फिर प्रयोग से यह भी पाया गया कि घंटी या रोशनी—या जो भी उद्दीपन भोजन के साथ सम्बद्ध हुआ हो—दिखाने में और भोजन देने के बीच का समय धीरे धीरे बढ़ाया गया तो उस समय के फासले के साथ यह लार झरण की क्रिया सम्बद्ध हो गयी। घंटी सुनने के इतने मिनट के बाद यह क्रिया शुरू होगी।

इस प्रयोग के और भी कई प्रकार हैं। मान लीजिए, एक कुत्ते को सङ्गीत का 'सा' स्वर सुनाया गया और उसके साथ लार झरण को सम्बद्ध किया गया। फिर उसको 'रे' स्वर सुनायेंगे तो क्या होगा? वह सङ्गीत के स्वर से सम्बद्ध हुआ है इसलिए लार टपकायेगा? या यह स्वर भिन्न है, इसलिए नहीं टपकायेगा? प्रयोग से

पता चलता है कि वह इस स्थिति में बीच का रास्ता अपनाता है, मूल स्वर 'सा' के बदले 'रे' सुनकर लार कम टपकाता है। दोनों स्वर जितने नजदीक होंगे, लार टपकना उतना ज्यादा होगा। 'ग' सुनाया जायगा, तो 'रे' से भी कम लार टपकेगी।

इसका एक उदाहरण एक प्रयोग में लिया जाय। एक कुत्ते को उसकी जांघ के स्पर्श से लार-स्रवण के लिए सम्बद्ध किया गया था। अब उसके शरीर को कहीं भी छूने से लार टपकती थी, पर जांघ से जितनी दूर, उतनी कम।

पीछे का पंजा	३३ बूंद
जांघ	५३ ,,
पेडू	४५ ,,
शरीर का मध्य	३९ ,,
कंधा	२३ ,,
सामने का पांव	२१
सामने का पंजा	१९ ,,

इसे उद्दीपन का सामान्यीकरण कहा जाता है। याने एक उद्दीपन के साथ सम्बद्ध करने से उससे मिलते-जुलते और कई उद्दीपनों के साथ भी संबंध जुट जाता है और मूल उद्दीपन से जो जितना अधिक मिलता जुलता है, उससे उतना ही अधिक सम्बन्ध जुड़ता है।

इन सारी प्रक्रियाओं को 'उत्तेजन' कहा गया है। प्रयोगों द्वारा इससे उल्टी प्रक्रियाओं की जानकारी भी मिली। इन प्रक्रियाओं को 'रोध' कहते हैं।

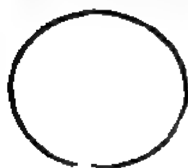
किसी कुत्ते के लार-स्रवण के लिए घंटी की आवाज को सम्बद्ध किया गया। फिर नये प्रयोग में कई बार उसे घंटी सुनायी जायगी, पर भोजन नहीं दिया जायगा। तो क्या होगा? प्रत्येक बार, घंटी सुनने पर लार के बूंद कम होते जायेंगे और आखिर लार-स्रवण बन्द हो जायगा। इस तरह उद्दीपन का प्रभाव (रिफ्लेक्स) प्रयोग से मिटा दिया गया। क्या वह घंटी को भूल गया? नहीं। क्योंकि सम्बद्धता को मिटाने के लिए प्रत्यक्ष प्रयत्न की जरूरत होती है। मानो दिमाग से लार की ग्रन्थियों को आदेश मिलता है कि 'घंटी की परवाह मत करो, बेकार है।' सिर्फ भूलने की निष्क्रिय प्रक्रिया से यह नहीं होता। एक बार सम्बद्ध प्रभाव महीनों तक टिका रहता है।

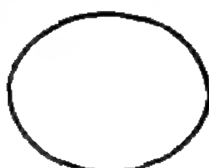
'रोध' या इनहिबीशन एक सक्रिय प्रक्रिया होती है, यह मानने के लिए दूसरा कारण यह है कि एक बार मिटने के बाद सम्बद्धता फिर जाग उठती है। उसे मिटाने के दो दिन के बाद घंटी सुनाइए, फिर लार टपकेगी। उसका विलोप फिर से कीजिए और कुछ दिन के बाद फिर घंटी सुनाइए तो फिर वह जाग उठेगी। विलोप के बाद समय का फासला जितना ज्यादा होगा, सम्बद्धता उतनी ही बलशाली होकर जागेगी।

एक कुत्ते को घण्टी से सम्बद्ध किया गया और फिर उसको मिटाया गया। अब उसको कोई जोरदार उद्दीपन दिया जाय, जैसे तेज रोशनी आँखों में डाली जाय तो उसकी सम्बद्धता लौट आयेगी। याने रोध टूट जायगा। इसका यही तात्पर्य है कि

रोध एक सक्रिय प्रक्रिया है। यह नहीं कि जिस उद्दीपन की सम्बद्धता टूट गयी हो उसकी ओर दिमाग ध्यान नहीं देता। घण्टी के बाद भोजन मिलता था, अब नहीं मिलता है तो घण्टी की ओर ध्यान जाता नहीं, ऐसा नहीं है। दिमाग का ध्यान उस ओर रहता है और वह निषेध आदेश भेजता रहता है।

एक और प्रयोग लीजिए। कुत्ते की इन्द्रियाँ कितनी तेज होती हैं? मिसाल के तौर पर वृत्त और अण्डाकृति का फरक वह समझ सकता है या नहीं? उससे पूछने से तो वह बता नहीं सकेगा। पर पैवलोव के तरीके से प्रयोग करके हम जान सकते हैं। उसे एक वृत्त दिखाया गया और भोजन दिया गया। फिर एक अण्डाकृति दिखायी गयी और भोजन नहीं दिया गया। पहले तो अण्डाकृति को देखकर भी लार टपकती थी—उद्दीपन के सामान्यीकरण के सिद्धान्त के अनुसार। पर कुछ प्रयोगों के बाद उसका रोध हुआ। लार नहीं टपकी। फिर दूसरी अण्डाकृति दिखायी गयी जो जरा अधिक गोल थी और उसका भी रोध किया गया। इस तरह पता चला कि वृत्त और अण्डाकृति में फरक जब सिर्फ ट रह जाता है तब वह दोनों में फरक पहचान नहीं सकता। इसमें भी रोध की सक्रियता का पता इस तरह चलता है कि एक अण्डाकृति दिखाने के तुरत बाद वृत्त दिखाया गया, तो उसे देखकर लार नहीं टपकी। यानी अण्डाकृति को देखकर जो आदेश जारी किया गया था कि 'कुछ करने की जरूरत नहीं' उसका असर कुछ देर तक कायम रहता था। ऋनुद्दिपीशन का यह असर जिस तरह समय में फैला हुआ होता है उसी तरह दिमाग के काय के दूसरे विस्तारों में भी फैलता पाया जाता है। याने निषेधादेश सिर्फ लार टपकने तक ही नहीं पहुँचता दिमाग के दूसरे केन्द्रों में भी कुछ हद तक पहुँच जाता है जिससे उसकी आँख कान नाक आदि इन्द्रियाँ सुस्त हो जाती हैं। शरीर की पेशियों में भी तनाव कम हो जाता है याने सुस्ती आ जाती है। मानो दिमाग आदेश देता हो 'अब कुछ करना नहीं है। बेकार की आवाज है आराम करो।' इस प्रकार बेकार की घण्टी या बेकार का चित्र उसे कुछ देर तक सुनाया या दिखाया जाता रहे तो कुत्ता धीरे धीरे सो जा सकता है। मोटर या ट्रेन में बैठे बैठे क्यों नींद आ जाती है इसका पता इससे चलता है। सामान्य स्थिति में हम कोई आवाज सुनाई दे या हमारे बैठने का स्थान हिल उठे तो हम तुरन्त चौकन्ने हो जाते हैं। पर मोटर या ट्रेन की आवाज या हलचल से दिमाग का कोई मतलब नहीं होता, इसलिए वह आदेश भेजता रहता है 'बेकार की आवाज, बेकार की हलचल, ध्यान मत दो ध्यान मत दो।' और फिर हमारी सारी इन्द्रियाँ आराम लेने लगती हैं।





इसमें एक दूसरी बात ध्यान में आती है कि नींद दिमाग की निष्क्रियता की स्थिति नहीं होती। बल्कि दिमाग के सक्रिय आदेश से नींद पैदा होती है और नींद के पूरे समय तक दिमाग से आदेश जारी रहता है।

वृत्त और अंडाकृति में फरक करने के प्रयोग में अब एक दूसरी दिलचस्प घटना देखने को मिली। वृत्त और अंडाकृति में फरक जब इतना कम कर दिया गया कि दोनों में तारतम्य करना कठिन हो जाय, तब कुत्ते में मानसिक द्वन्द्व के लक्षण दीखने लगे और आखिर स्नायविक दौर्बल्य (नर्वस ब्रेकडाउन) जैसी स्थिति हुई। कोई पागल-सा भूँकने लगा। किसीने भागने का प्रयत्न किया, किसीने प्रयोगकार को काटने की कोशिश की। कोई बिल्कुल सुस्त हो गया और किसी चीज में उसे किसी प्रकार की दिलचस्पी नहीं रही।

इस पर से मनुष्यों की मानसिक व्याधियों के बारे में कुछ जानने को मिला। मानसिक रोगियों में सामान्यतया दो प्रकार के रोगी पाये जाते हैं। कुछ रोगी बहुत हलचल करते हैं—चिल्लाते, नाचते, गाते हैं। यौन विषयों में उन्हें बड़ी दिलचस्पी होती है। इनमें आँख, हाथ पैर या दूसरे अंग अक्सर पक्षाघातग्रस्त हो जाते हैं। स्मृति भुला दी जाती है।

दूसरे प्रकार में रोगी शर्मीला होता है। लोगों से मिलना-जुलना पसन्द नहीं करता। उसमें भावना बड़ी प्रबल होती है। उद्वेग और अवसाद की ओर झुकाव होता है। ऑबसेशन और कम्पल्शन (अवशता) की आदत होती है। इन्हें 'डिस्थायमिक' कहा जाता है और प्रथम प्रकार के लोगों को 'हिस्टेरिक'।

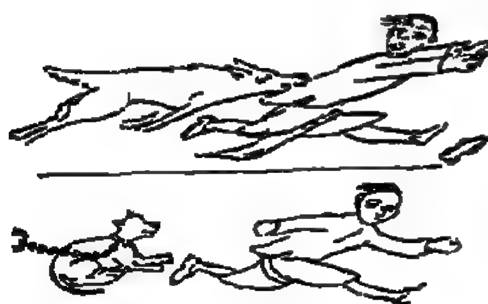
पैवलोव को लगा कि प्रथम प्रकार के रोगियों में रोध का असर ज्यादा और दूसरे प्रकार के रोगियों में उत्तेजन का असर ज्यादा होता है। अब यह अनुमान सही हो तो उसका मतलब होगा कि प्रथम प्रकार के 'हिस्टेरिक' रोगियों को कंडीशन या सम्बद्ध करना कठिन होगा और दूसरे प्रकार के रोगियों को कंडीशन करना आसान होगा। प्रयोग से यह अनुमान सही साबित हुआ। मनुष्य को कंडीशन करने का तरीका इस प्रकार होता है—आँख पर अचानक फूँक दिया जाय तो आँख बन्द हो जाती है। अब इस फूँक के साथ साथ उसके कान में एक स्वर सुनाया जाय तो आगे चलकर स्वर सुनते ही आँख बन्द हो जायगी। इस तरह पैवलोव के प्रयोगों से मानसिक बीमारी के बारे में भी नया ज्ञान मिला।

जीवन में उत्तेजन और रोध की इन प्रक्रियाओं का महत्त्व हम आसानी से समझ सकते हैं। भूख के अलावा हममें दूसरी प्रेरणाएँ भी होती हैं और उनसे सबद्ध कुछ शारीरिक प्रक्रियाएँ भी। भय का अनुभव होता है तो शरीर में आड्रेनलिन ग्रंथि से एक रस का क्षरण शुरू हो जाता है, हृदय तेजी से काम करके अवयवों को अधिक खून भेजता है, आँखों की पुतलियाँ फैल जाती हैं, इत्यादि। इन सबका उद्देश्य होता है प्राणी को पलायन के लिए तैयार करना तथा उसमें उसकी अधिक क्षमता ला देना। किसी प्राणी से या परिस्थिति से हम डरने का कारण होता है तो उस प्राणी के दर्शन

या उस परिस्थिति के अनुभव के साथ ये शारीरिक प्रतिक्रियाएँ जुड़ जाती हैं। अनुभव काफी डरावना हो, तो एक ही अनुभव से यह कंडीशनिंग या संबंध जुड़ जाता है। फिर वैसे जानवर या परिस्थिति का अनुभव होते ही शरीर में ये प्रक्रियाएँ शुरू हो जाती हैं और भय की लहर सारे शरीर में दौड़ जाती है।

ध्यान में लेने की बात है कि यह कंडीशनिंग सचेतन बुद्धि से भिन्न स्तर पर होता है। इसलिए जिस तरह हम अपने मुँह से लार टपकना रोक नहीं सकते और 'इमली' शब्द के साथ वह जुड़ गया, तो अपनी इच्छा अनिच्छा के बावजूद मुँह में पानी भर आता ही है वैसे ही भय के मामले में भी है। किसीको बम के धड़ाके का और उससे होनेवाले ध्वंस का अनुभव हुआ हो, तो बाद में दीवाली पर बच्चों के पटाखों की आवाज से भी उसकी छाती में धड़कन शुरू हो जायगी, यद्यपि बुद्धि से वह समझता होगा कि इसमें डरने की कोई बात नहीं है। इसलिए प्रख्यात मनोवैज्ञानिक विलियम जेम्स ने कहा था कि हम पहले डरते और फिर भागते हैं ऐसा नहीं है हम पहले भागते हैं और फिर डरते हैं।

यानी मान लीजिए हम एक भयंकर कुत्ते के सामने पड़े, जो हम पर हमला करने के लिए बुरी तरह से लपका। उसे देखते ही मन में भय का उद्रेक होगा तथा शरीर में उपयुक्त प्रकार की प्रतिक्रियाएँ (रिफ्लेक्स) शुरू होंगी जिनका असर दिमाग पर होगा और भय को अधिक बलवान् करेगा। इस तरह उस कुत्ते के साथ भय का कंडीशनिंग हो गया। जब दुबारा उसी कुत्ते से भेंट होगी तब सचेतन रूप से उससे भय का अनुभव करने से पहले ही कंडीशनिंग काम करने लगेगा और बिना सोचे यानी कुछ सोच पाने से पहले ही हम भागने लगेंगे। फिर मान लीजिए कि एक बार उसी सूरत का एक दूसरा कुत्ता हमारे सामने आता है, जिसके बारे में हम अच्छी तरह से जानते हैं कि वह सौम्य स्वभाव का है फिर भी पहले दर्शन के समय हमारे शरीर में हमारे इस ज्ञान के बावजूद भी कंडीशनिंग का असर शुरू हो जायगा और हम कुछ क्षण के लिए एक युक्तिहीन भय का अनुभव करेंगे।



बच्चे कई चीजों से डरते हैं। अक्सर बड़ों के भय का असर ही उन पर होता है। किसी चीज या परिस्थिति से उसकी माँ या दूसरे बड़े व्यक्ति डरते हैं और बच्चा यह देखता है तो वह भी डरने लगता है। बच्चे अपनी सुरक्षा के लिए बड़ों पर निर्भरशील होते हैं और उनको लगता है कि जब बड़े ही भयभीत हुए तो फिर अपनी सुरक्षा कहाँ

रही। फिर इस भय के कंडीशनिंग को बुद्धि से मिटाना कठिन होता है, क्योंकि वह तो शरीर के माध्यम से मानस पर काम करता है। पर पैवलोव के तरीके से इस प्रकार के भय को मिटाया जा सकता है। अमेरिका में वाटसन ने इस दिशा में काफी प्रयोग किये और एक नयी विचारधारा शुरू कर दी। इस विचारधारा की मान्यता है कि जीवों तथा मनुष्यों के सारे व्यवहार, सारा आचरण तथा सारी आदतें इसी प्रकार बाह्य अनुभव का उद्दीपन (स्टीमुलस) और उसके प्रति प्राणी के दिमाग तथा ज्ञानतंतु-तंत्र की प्रतिक्रिया (रिस्पान्स) से ही बनती हैं। इसमें चेतन जैसी किसी वस्तु की हस्ती मान्य करने की जरूरत नहीं है और इस प्रकार उद्दीपन प्रतिक्रिया (स्टीमुलस रिस्पान्स) की प्रक्रिया के द्वारा मनुष्य को हर प्रकार की तालीम दी जा सकती है, स्वभाव को चाहे जैसा बनाया जा सकता है।

इस तरकीब से बच्चे में भय पैदा करके तथा फिर उस भय को मिटाकर यह दावा साबित किया गया है। एक बच्चे को एक खरगोश दिखाया गया और साथ-साथ जोर के धड़ाके की आवाज की गयी, तो कई बार यही क्रम दोहराने के बाद धड़ाके से उसे जो भय होता था, वह खरगोश के साथ जुट गया। अब वह सिर्फ खरगोश देखने पर ही भयभीत होने लगा। इसके बाद भय छुटाने के लिए उसे भोजन करते समय काफी दूर पर खरगोश दिखाया जाने लगा। दूर पर खरगोश देखकर उसे भय तो होता था, पर बहुत ज्यादा नहीं। फिर धीरे-धीरे उसे नजदीक लाया गया और आखिर उसको वह हाथ में छूने तथा पुचकारने तक पहुँच गया। इस तरह भोजन के सुखकर अनुभव के साथ खरगोश को सम्बद्ध करके पहले के कंडीशनिंग को मिटाया गया।

अमरीका में एक दूसरे प्रकार का प्रयोग बहुत व्यापक पैमाने पर हुआ है और उससे भी काफी सीखने को मिला है। पैवलोव एक रिफ्लेक्स के साथ नये नये उद्दीपन जोड़ते गये। इन प्रयोगों में एक उद्दीपन के साथ नये-नये रिस्पान्स या प्रतिक्रियाओं को जोड़ने का प्रयत्न हुआ। बिल्लियों पर एक प्रयोग हुआ, जिसको हम नमूने के तौर पर ले सकते हैं। एक बक्से में एक भूखी बिल्ली को बन्द करके बाहर भोजन रख दिया गया। बक्से में एक लीवर था, जिसे दबाने से बक्सा खुल सकता था। बिल्ली भूख और घबराहट के मारे कई प्रकार की चेष्टाएँ करती रही, आखिर सयोग से लीवर दब गया और बक्सा खुल गया। दूसरी बार भी बिल्ली बक्से में बन्द होकर घबरायी, पर जरा कम समय में बक्सा खोल सकी। कई बार प्रयोग करने के बाद वह एकदम लीवर दबाकर भाग निकलने में समर्थ हुई।

बक्सा खोलने के लिए बिल्ली किस प्रकार की चेष्टा में अभ्यस्त होगी, इसकी इसमें कोई स्थिरता नहीं। अपने मुँह, नाक, पैर या शरीर का दूसरा हिस्सा लीवर पर अड़ जाने से उसके दबाव से बक्सा खुला होगा तो वही उसकी आदत बन जायगी। बक्से का खुलना और लीवर पर शरीर के अमुक भाग का दबाव, ये दोनों बातें उसके ध्यान में एक साथ एक समय आने से यह तरकीब वह सीख लेती है।

इसी तरह चूहों को भूलभुलैया में डालकर प्रयोग किया गया है और वे किस तरह तथा कितने शीघ्र भूलभुलैया का रास्ता पहचान लेते हैं, इसके बारे में ब्योरेवार जानकारी प्राप्त की गयी। उनकी सीखने की सामर्थ्य की मर्यादा तथा सीखने की प्रक्रिया की बारीकियों का ज्ञान भी इससे मिला है। फिर उस पर से मनुष्यों के बारे में भी ज्ञान मिला है।

इन प्रयोगों से साबित होता है कि जिस प्रकार की चेष्टा से किसी हाजत की पूर्ति में सफलता मिलती है, वह चेष्टा आसानी से याद रहती है। दूसरी चेष्टाएँ याद नहीं रहतीं। भूलभुलैये में भटकते-भटकते चूहा दूसरे सारे मोड़ पार करके आखिरी मोड़ पर पहुँचा और वहाँ भी इधर-उधर घूम-फिरकर संयोग से सही रास्ता पकड़ लिया, तो उसे खाद्य-वस्तु दिखाई दी। अब खाद्य के साथ इस सही मोड़ का पकड़ना जुड़ गया। दूसरी बार वह उस मोड़ पर पहुँचेगा तो यह मोड़ उसे अधिक आसानी से याद आयेगा। इस तरह एक के बाद एक सही मोड़ उसको याद होता चला जायगा और आखिर उसको सही रास्ता याद हो जायगा। वह बिना भटके ही भूलभुलैये को पार कर लेगा।

इसमें से सीखने की प्रक्रिया से सम्बद्ध यह तत्त्व निकलता है कि जिस चेष्टा में सफलता—पुरस्कार—मिलता है, लक्ष्य की पूर्ति होती है, वह चेष्टा सीखी जाती है और जिसमें विफलता मिलती है, वह भुला दी जाती है। एक माने में इसमें कोई नयापन नहीं है। इनाम और दण्ड जमाने से शिक्षण के सहायक रहे हैं। कोई अच्छा काम करता है तो उसे इनाम दिया जाता है, उसकी तारीफ की जाती है। कोई बुरा काम करता है तो उसे सजा दी जाती है, उसकी निंदा की जाती है। स्कूल की पढ़ाई में भी इनाम और सजा का उपयोग होता है। पर इसमें अक्सर सजा का ही प्राधान्य रहता है। गलती करने पर झट से सजा मिल सकती है, सही काम करने पर तारीफ या शाबाशी मिलने की सम्भावना कम होती है। सजा से भय पैदा होता है और भय का एक परिणाम होता है—क्षुब्धता या रोष। भय से दिमाग में क्षुब्धता या रोष के आवेग या प्रवाह चालू हो जाते हैं और उदर की पाचनक्रिया, मुँह की लार-क्षरण की क्रिया तथा और कई शारीरिक क्रियाओं के साथ दिमाग की उच्चतर क्रियाओं पर भी रोक लगायी जाती है। इससे भयभीत हालत में मनुष्य के सोचने की शक्ति घट जाती है।

अब एक लड़के को लीजिए, जो गणित समझ नहीं रहा है। उसको दो चपत जड़ दिये जायेंगे तो रोष से उसकी बुद्धि और भी कुण्ठित हो जायगी। फिर उसमें गणित घुसने का रास्ता कितना बचेगा? इसलिए 'असफलता के लिए दण्ड' के बजाय 'सफलता के लिए इनाम' अधिक प्रभावशाली होता है। पर इसमें भी सामान्यतया विद्यालयों में सबसे ऊँचा स्थान रखनेवाले तीन-चार या पाँच-सात लड़कों को ही 'इनाम' स्कालरशिप, सर्टिफिकेट आदि के रूप में मिलता है। इससे कुछ लड़कों को अच्छी पढ़ाई की प्रेरणा होती है, पर बहुत सारे लड़के, जो ऊँचा स्थान प्राप्त करने की उम्मीद नहीं रखते, इन

इनामों से कोई प्रेरणा नहीं पाते। इसलिए शिक्षण-व्यवस्था में 'पुरस्कार' ऐसा होना चाहिए, जो हरएक पा सके।

चूहे बिल्लियों के लिए खाद्य 'पुरस्कार' होता है। मनुष्यों के लिए कई अन्य वस्तुएँ 'पुरस्कार' बन सकती हैं—आर्थिक लाभ, प्रशंसा, जिज्ञासा-वृत्ति का समाधान, कोई कठिन काम कर सकने की प्रसन्नता इत्यादि। तालीम की प्रक्रिया में इनमें से ऐसी प्रेरणाओं का उपयोग करना अधिक लाभदायक होगा, जिस 'पुरस्कार' का लाभ सबको मिल सके यानी जो एक को मिलने पर दूसरे को न मिलनेवाला न हो। फिर इसमें उस प्राप्ति की अभिलाषा खुद सीखनेवाले को होनी चाहिए। शिक्षक के प्रति विद्यार्थी का रुख लापरवाही का हो और उसकी तारीफ की परवाह वह न करता हो, तो उस शिक्षक की तारीफ कभी उसके लिए 'पुरस्कार' नहीं होगी।

चोरी, उद्दण्डता जैसी आदतों का उपाय भिन्न है। उसमें रोकने की बात आती है, इसलिए इसमें भयजनित इनहिबीशन अच्छा माना जा सकता है। पर इनाम और सजा में इनाम या सजा देनेवाले के साथ पानेवाले का सम्बन्ध, इसकी भावनाओं पर उसका असर तथा दूसरे भी कई सवाल आते हैं, जिनकी चर्चा आगे होगी।

इससे पता चलता है कि सीखने के और आचरण के अलग-अलग स्तर हैं। ऊपर हमने देखा कि कंडीशनिंग सचेतन मन से अलग स्तर पर, यान्त्रिक आदत के स्तर पर होता है। हम साइकिल चलाना या टाइपराइटिंग सीखते हैं, तो वह शिक्षण इसी स्तर पर होता है। हमारे बहुत सारे व्यवहार, कामकाज, आदतें इसी स्तर पर होती हैं। 'डरना सीखना' भी इसी प्रकार होता है, यह हमने देखा है।

पर सीखने का दूसरा स्तर भी होता है, जहाँ बुद्धि और समझ का महत्त्व होता है। भूलभुलैये में चूहे का रास्ता पहचानना सिर्फ आदत के स्तर पर कंडीशनिंग की बात है, ऐसा सामान्यतया समझा जाता है। पर प्रयोग से पता चलता है कि वहाँ भी 'समझ' काम करती है। चूहे के रास्ता पहचान लेने के बाद भूलभुलैये में पानी भरकर देखा गया कि चूहा उसमें आदत के अनुसार दौड़ नहीं सकता, पर तैरकर सही रास्ता तय कर लेता है यानी रास्ते का ज्ञान सिर्फ दौड़ने की आदत से जुड़ा नहीं है। वैसे ही चूहों को आँख, नाक तथा कान के उपयोग से वंचित करके भी देखा गया है कि वे सही रास्ता तय कर लेते हैं यानी यह सिर्फ यान्त्रिक आदत की बात नहीं है, उनके दिमाग में भूलभुलैये की स्पष्ट धारणा बन जाती है, जिसके अनुसार वे चलते हैं। इस प्रकार समझ की स्पष्टता पर ही हमारी कार्य-कुशलता निर्भर करती है। बिल्ली बन्द बक्से में घबराहट में तरह तरह की चेष्टाएँ करती रही। आखिर घूमते-फिरते समय उसके कन्धे का दबाव लीवर पर पड़ने से बक्सा खुल गया। अब बहुत सम्भव है कि वह कन्धे से ही लीवर दबाना सीखे और इससे पहले एक चक्कर लगा ले। यानी उसके इस समस्या-समाधान की सफल चेष्टा के साथ निरर्थक चेष्टा भी जुड़ जायगी। याने बक्सा खुलने के साथ इन चेष्टाओं का सम्बन्ध है, यह तो उसके ध्यान में आया, पर 'समझ' नहीं आयी।

एक कहानी है कि एक देश में लोग सूअर का कच्चा मांस खाते थे। एक बार

किसीका घर जल गया और उसके साथ उसमें बँधा हुआ एक सूअर भी जल गया। आखिर जले हुए सूअर का सदुपयोग करने के लिए लोगों ने उसे खा लिया तो कच्चे से तो यह जला हुआ मांस अच्छा लगा। तब से जब सूअर का मांस खाना होता था तब ये लोग एक झोपड़ी में सूअर बाँधकर उसे आग लगा देते थे। बहुत दिनों के बाद वहाँ एक बड़े महात्मा पैदा हुए, जिन्होंने सूअर को पहले मारकर और टुकड़े करके आग में भुनने का तरीका ईजाद किया और लोगों को सिखाया।

यह निरी कहानी है, पर बुद्धिमान् प्राणी होते हुए भी मनुष्य के कई व्यवहार इसी तरह चलते हैं। घड़ी चलती नहीं, तो हम उसे हिलाते हैं, चाबी भरने की कोशिश करते हैं, उसकी सुइयाँ घुमाते हैं और इस प्रकार की कई चेष्टाओं के बाद वह कभी कभी चलती भी है। इसमें घड़ी की यांत्रिक रचना की कोई हमारी समझ न बनती है न बढ़ती है। पर सफलता मिल जाती है, तो अगली बार घड़ी बन्द होने पर वैसी ही चेष्टाएँ करते हैं। स्पष्ट ही है कि घड़ी के साथ बरताव का यह कोई समझदार तरीका नहीं है। पर हम वैसा करते रहते हैं।

बैल चलता नहीं तो मारा पीटा, कील की नोक भोंक दी तो वह चलने लगा। बस अब आर बना ली और उसमें वह भोंक भोंककर उसे चलाने लगे। इससे अधिक आसान और मानवीय तरीका कुछ हो सकता है इसकी ओर ध्यान ही नहीं गया।

समाज में बड़ी बड़ी चीजें भी इसी प्रकार चलती हैं। चीजों के मूल्य नापने तथा विनिमय की सहूलियत के लिए सिक्कों का प्रचलन शुरू हुआ तो सोना, चाँदी का उपयोग उसके लिए हुआ। हजारों वर्ष तक यह मान्यता रही कि सोने चाँदी के अलावा सिक्के हो ही नहीं सकते। अभी तीस चालीस साल पहले यह बात समझ में आयी कि यह हिसाब का काम है कागज के टुकड़ों से भी काम चल सकता है।

जीवन के सामान्य क्षेत्रों में, खासकर कला कारीगरी सीखने सिखाने में इन दिनों इस ज्ञान का बहुत उपयोग होने लगा है। कोई अपने आप टाइपराइटिंग सीखता है तो दो दो उँगलियों से टप् टप् करके कुछ काम कर ही लेता है। पर नौ उँगलियों से कहीं अधिक काम हो सकता है और उसमें भी कन्धे, हाथ तथा उँगलियों की बेकार की हरकतें तज दी जायँ तो आश्चर्यजनक प्रगति होती है। इसी प्रकार कारखानों में मशीनों पर काम करनेवाले कारीगरों के हाथ पैरों की हरकतों का पृथक्करण करके उनमें से बेकार की हरकतें हटाकर सही हरकतें सिखाने से काम की रफ्तार बहुत बढ़ जाती है। दौड़ने, ऊँचा या लम्बा कूदनेवाले, दौड़नेवाले तथा अन्य प्रकार के खिलाड़ी भी इस तरह अपनी काबलियत को माँजते हैं। इस तरह बुद्धि और समझ के स्तर पर, फिर आदत के स्तर पर सीखना होता है, तो उसमें बड़ी सामर्थ्य आती है। ●

मनुष्यों की भिन्नताएँ : ८ :

दुनिया में मनुष्यों की योग्यताओं में बड़ा फरक दिखाई देता है और अक्सर इन्हींको दुनिया के सारे भेदों का बुनियादी कारण बताया जाता है। कहा जाता है कि जो अधिक बुद्धिमान् और मेहनती हैं, वे अधिक तरक्की करके अमीर बने हैं, जो गरीब हैं, वे अपनी बुद्धिहीनता और आलस्य के कारण गरीब हैं। हरिजन तथा आदिवासियों की जाति ही कम बुद्धि तथा योग्यता रखनेवाली है, इसलिए समाज के निचले स्तर पर रहना उनके लिए स्वाभाविक है। हिटलर मानता था कि दूसरी जातियों की तुलना में आर्यों की योग्यता सब प्रकार से श्रेष्ठ है—शरीर से, बुद्धि से तथा भावना से, इसलिए उनको दुनिया में दूसरी सब जातियों के लोगों पर राज करने का हक है। हमारे देश में भी 'आर्यों' की श्रेष्ठता के बारे में इस प्रकार के ख्यालात पाये जाते हैं। गोरों ने अपनी श्रेष्ठता की मान्यता के आधार पर एक सदी तक सारी दुनिया में अपना साम्राज्यवाद चलाया।

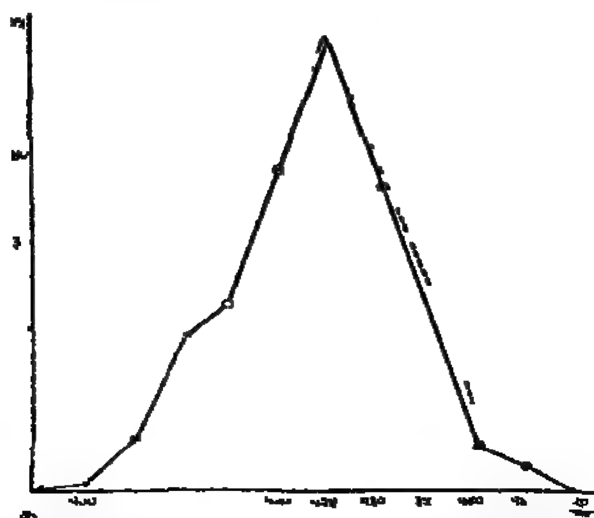
इस संबंध में विज्ञान क्या कहता है? जाति, रंग, वर्ग आदि के आधार पर जितने भेद दुनिया में प्रचलित हैं, उन सबको सही साबित करने के लिए बुद्धि के तारतम्य का आसरा लिया जाता है। लेकिन दो मनुष्यों की बुद्धि के तारतम्य को कैसे जाँचें? लगभग पचास साल पहले फ्रांस में विद्यार्थियों की बुद्धि जाँचने का प्रयत्न शुरू हुआ। यह काम 'बीने' (Binet) नाम के मनोवैज्ञानिक को सौंपा गया। उन्होंने इसका जो तरीका अपनाया, वह सारी दुनिया में चल पड़ा। उन्होंने अलग अलग उम्र के लड़कों की बुद्धि परखने के लिए प्रश्नावलियाँ बनायीं और उन प्रश्नों के उत्तरों को जाँचकर जो नम्बर दिया जाता, उससे उस-उस लड़के की बुद्धि का पैमाना तय होता।

बुद्धि-परीक्षा का तात्पर्य यह जानना है कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की तुलना में कैसा है या हम यह कह सकते हैं कि समस्त जन-संख्या की तुलना में किसी भी व्यक्ति की स्थिति का पता लगाना इसका उद्देश्य होता है। तो हमें यह जानना आवश्यक है कि बुद्धि-लब्धियों की परिधि क्या है? और आबादी की कौन-सी संख्या या प्रतिशत उस परिधि के प्रत्येक भाग में पड़ती है। यदि हमें यह मालूम हो जाय कि किसी बच्चे की बुद्धि-लब्धि से जनसंख्या में उसका स्थान क्या है, तो इस समस्या का स्पष्टीकरण हो जायगा। निम्नलिखित तालिका से हम इस समस्या का समाधान करेंगे। यह तालिका बीने के बुद्धि-परीक्षण में प्राप्त प्राप्तांकों के आधार पर बनायी गयी है, जो १२ वर्ष के उम्रवाले बच्चों पर की गयी है।

बुद्धि-परीक्षण वितरण-तालिका

प्राप्तांक	आवृत्ति
१४ –१४७	३
१३८–१४२	५
१३३–१३७	२१
१२८–१३२	३
१२३–१२७	७२
११८–१२२	३७
११३–११७	७७
१ ८–११२	१८
१ ३–१ ७	६
९८–१०२	१
	कु ल २

पूर्ण स्पष्टीकरण क लिए उपर्युक्त तालिका के आधार पर एक ग्राफ बनायगे, तो वह इस प्रकार दीखेगा। ग्राफ बनाते समय तालिका म बायीं तरफ दिये हुए टुकड़ियों के बीच के प्राप्तांक को ही लेगे। जैसे ९८ और १ २ के बीच का प्राप्तांक १ ० होंगे। निम्न चित्रमे 'क ख' आड़ी रेखा पर बराबर दूरी पर प्राप्तांक दिये गये हैं और 'क ग



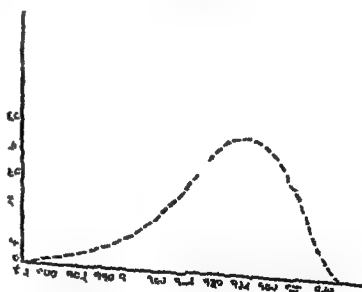
खड़ी रेखा पर लोक संख्या। तो इस ग्राफ से हम फौरन् समझ जाते हैं कि दोसौ लड़को म कितनी बुद्धि लब्धि के कितने ह। आँकड़ों को ध्यान से देखने पर जो बात समझ मे

आती थी, अब ग्राफ से हम उसे जल्द-से-जल्द पकड सकते है कि बहुत सारे लोगों की बुद्धि लब्धि औसत के नजदीक दिखाई पडती है और दोनो सिरो की ओर उनकी सख्या उत्तरोत्तर कम होती जाती है। १२५ की अपेक्षा १३० की बुद्धि लब्धियॉ सामान्यत कम पायी जाती है। जितना ही ऊपर बढते जाते है, यह न्यूनता बढती जाती है। इसी प्रकार १२५ से नीचे विपरीत क्रम म भी यही चीज देखने मे आती है। फिर ग्राफ के दोनों तरफ की आकृति समान है। यानी १२५ प्राप्ताक से नीचे पानेवाले की सख्या जितनी है, उतनी ही सख्या १२५ से ऊपर प्राप्ताक पानेवालों की है। तात्पर्य यह कि किसी भी जाति, रग या वर्ग के एक निश्चित उम्र के 'सैंपल' की बुद्धि-परीक्षा करें तो उसमें पायेंगे कि मद और प्रखर बुद्धिवाले व्यक्तियों की सख्या बहुत कम है और सामान्य बुद्धिवालों की ज्यादा।

और स्पष्टीकरण के लिए यदि किसी दूसरे 'सैंपल' से कुछ व्यक्तियो के वजन लेकर एक-एक किलोग्राम के अन्तर से उनका वर्गीकरण करें और ग्राफ बनायें तो वह ग्राफ इस प्रकार बनने की सभावना है। इसी प्रकार यदि हम बडी सख्या मे व्यक्तियो की ऊँचाई को लेकर एक-एक इच के अन्तर से उनका वर्गीकरण करके ग्राफ बनायें, तो वह भी इसी प्रकार दीखेगा। अधिक सख्या में बीच की ऊँचाईवाले होगे और उससे कम या अधिक ऊँचाईवाले उससे घटती हुई सख्याओं मे और बिल्कुल कम या अधिक ऊँचाईवाले बहुत ही कम सख्या में होंगे।

इस ग्राफ को 'सामान्य वितरण रेखा' (Normal Distribution Curve) या घटाकृत रेखा कहा जाता है।

कभी-कभी इस वितरण रेखा के दूसरे रूप भी हो जाते है। मान लीजिये, जो प्रश्नावली १२ वर्ष के लडकों की बुद्धि-परीक्षा में प्रयुक्त की गयी थी, वह प्रश्नावली यदि १५ वर्ष के लडकों का हल करने को दे दें तो वे प्रश्न उनके लिए बहुत आसान होंगे। फलत उसके उत्तर म ज्यादा-से-ज्यादा लडके औसत से ज्यादा अक प्राप्त करेंगे और औसत से कम अक प्राप्त करनेवालें की सख्या बहुत कम होगी। तो उसका ग्राफ बगल में दिये अनुसार दीखेगा, जिसे विषम वितरण रेखा (Skewed Curve) कहते हैं।



फिर, यदि वही प्रश्नावली ९ वर्ष के लडकों को हल करने को दी जाय तो वे प्रश्न उनके लिए बहुत कठिन होंगे। उनमें से औसत से ऊपर अक प्राप्त करनेवाले नहीं के बराबर होंगे और औसत अक प्राप्त करनेवाले बहुत कम होंगे और उससे कम पानेवाले ज्यादा होंगे। उसका ग्राफ अगले पृष्ठ पर दिया गया है।



इस तरह बुद्धि का स्तर या आई क्यू. (I Q) जाँचने के लिए बीने की तथा उसके बाद औरों की प्रश्नावलियाँ बनी और उनका उपयोग व्यापक तौर पर होने लगा है। प्रश्नावलियों म बुद्धि के विविध पहलुओ की जाँच की दृष्टि से सवाल होते है। जाँच से जो अक दिया जाता है उसको बुद्धि का अनुपात (इटेलीजैंट कोशेंट) या सक्षेप मे आई क्यू कहा जाता है। यह इस तरह से तय होता है दस साल का लडका दस सालवालो के लिए बने प्रश्नों का सही उत्तर दे सके तो उसका आई क्यू १ माना जायगा। अगर वह १२ सालवालो के प्रश्नो का सही उत्तर दे दे, तो उसका आई क्यू. $\frac{१ \times १२}{१}$ = १२ होगा। अगर वह आठ सालवालो के लिए बने सवालो का ही जवाब दे सकता हो तो उसका आई क्यू $\frac{१ \times ८}{१}$ = ८ होगा।

आजकल स्कूल के विद्यार्थियो का बौद्धिक स्तर जाँचने के लिए इस प्रकार की जाँचो का बहुत उपयोग होने लगा है। इग्लैंड मे इसके अनुसार ग्यारह वर्ष के बाद विद्यार्थियों को अलग अलग प्रकार के विद्यालयों में भेजने का निर्णय किया जाता है।

ऐसी जाँचों से एक बात का पता लगा है कि बुद्धि का विकास औसतन् पन्द्रह साल की उम्र मे पूरा हो जाता है। उसके बाद जानकारी और अनुभव बढने के कारण मनुष्य की सामर्थ्य बढती है पर बुद्धि का पैमाना नहीं बढता।

थोडे अनुभव के बाद एक नया सवाल खडा हुआ। ऐसी जाँचो के द्वारा समाज के अमुक स्तर के तथा अमुक प्रकार की तालीम पाये हुए व्यक्तियों की बुद्धि के पैमाने म तारतम्य का अन्दाजा लगाना सभव हुआ पर अलग सस्कृति के तथा अलग प्रकार की तालीम पाये हुए मनुष्यो मे, या तालीम पाये हुए और न पाये हुए व्यक्तियो मे तुलना

करते समय यह तरीका सफल नहीं हुआ। मान लीजिये, एक लड़के को लिखना-पढ़ना ही सीखने का मौका नहीं मिला। उससे लिखित सवाल पूछेंगे, तो वह बेचारा पढ ही नहीं सकेगा, तो उत्तर क्या देगा? बुद्धि जॉचने की प्रश्नावली में एक सवाल इस प्रकार है

प्रश्न—इनमे कवि हैं। उन्हे चिह्नित करो—

क—HAUCERC ख—URSBN

ग—NIKTET घ—POCWRE

इसमे अग्रेज कवियो के नामों के अक्षर उलट-पुलटकर रखे गये हैं और 'ग' मे Kitten (बिल्ली के बच्चे) के अक्षर हैं। जो अग्रेजी जानता होगा और कवियो से परिचित होगा, वही इसका जवाब दे सकेगा।

इसलिए नया सवाल खड़ा हुआ कि सीखे हुए विषय और मौलिक बुद्धि मे तारतम्य करना होगा। किसीने अमुक विषय सीखा नही है, तो उससे उसकी बुनियादी बुद्धि मे फरक पडता है क्या? जगल में पला हुआ लडका जानवरों की गतिविधियो के बारे में, पेड-पौधों के बारे मे बहुत कुछ बारीक जानकारी रखता है। शहर का लडका मोटर, रेल, हवाई जहाजो के बारे मे बहुत जानता है। दोनों की बुद्धि की तुलना कैसे हो? क्या मौलिक बुद्धि नामक कोई अलग चीज है?

लम्बी कहानी को सक्षेप में पूरा करे। प्रयोगों के द्वारा मालूम हुआ कि मनुष्यों मे निम्न प्रकार की मानसिक शक्तियाँ होती है

(क) शाब्दिक कुशलता, (ख) शाब्दिक प्रवाहिता, (ग) गाणितिक कुशलता, (घ) अवस्थितिगत सूक्ष्मता पहचानने की विशेष योग्यता, (च) दर्शन की कुशलता, (छ) तर्क-बुद्धि और (ज) स्मरण-शक्ति।

मनुष्यो में ये शक्तियाँ कुछ हद तक स्वतन्त्र है, पूरी-पूरी स्वतन्त्र नही। किसी मनुष्य मे इनमे से कोई शक्ति अधिक है तो दूसरों मे भी वह अधिक मात्रा मे हो, यह सम्भव है। इस तरह इन सब क्षमताओ की बुनियाद में एक सर्वसामान्य बुद्धि का तत्त्व है, वह अब मान्य हुआ है। इन अलग अलग क्षमताओ को तथा 'सामान्य बुद्धि' के तत्त्व को नापने के लिए ऐसी परीक्षण पद्धतियाँ खोजने की कोशिश की गयी है, जो सास्कृतिक असर से बहुत हद तक मुक्त हो यानी पढे लिखे तथा अनपढ, कम पढा लिखा और विद्वान्, शहरी और देहाती आदि सब प्रकार के भेदो की तह में जाकर जन्मजात बुद्धि को ठीक से जाँच सके। इसमें काफी सफलता मिली है, फिर भी गलती होने की सम्भावना अब भी है। कई समाजों मे जॉच, इम्तहान आदि की आदत पडी हुई होती है, लेकिन कई समाज इन विषयों से बिलकुल अनभिज्ञ होते है। इस कारण जाँच में जरूर फरक हो जाता है। फिर ऐसी जॉच के लिए थोडी-सी प्रतिस्पर्धा की वृत्ति जरूरी होती है। परन्तु कई समाजों मे यह वृत्ति बहुत कम या नहीं के बराबर होती है। इसके अलावा मानसिक स्थिति का भी असर होता है। किसीमे घबराहट हो, तो वह ठीक ठीक उत्तर दे नहीं पायेगा। किसीके मन मे उलझन या अशाति

हो तो उसका भी असर होगा। इन सब कारणो से भी फरक होता है। इसलिए कई वैज्ञानिक इस प्रकार की बुद्धि की जाँच को कम महत्व देते हैं। वे मानते हैं कि इनके आधार पर व्यक्तियो म जो फरक पाया जाता है, उसको ज्यादा महत्त्व दिया न जाय।

फिर भी सास्कृतिक सदर्भ म निरपेक्ष जाँच-पत्रक बनाने की कोशिश काफी हद तक सफल हुई है, यद्यपि यह नही कहा जा सकता कि कोई भी जाँच-पद्धति सर्वथा निरपेक्ष बन गयी हो। जो भी पद्धतिया बनी ह, उनसे विभिन्न मानव वशा की बुद्धि का स्तर जाचने क कुछ प्रयोग हुए हैं। इन प्रयोगो से इतना सिद्ध हुआ है कि मुख्य मानव वशो के बौद्धिक स्तर म कोई भी खास फरक नहीं है। जो भी दीखता है वह, संभव है सास्कृतिक सदर्भ की मर्यादा के कारण दीखता हो। यह नीच के उदाहरण से स्पष्ट होगा। अमेरिका मे किये गये एक अध्ययन म रूसी-यहूदी, आयरिश तथा नीग्रो, इन तीन समूहो को जाँचा गया। उसके परिणाम का ग्राफ नीचे दिया गया है। इन तीन समूहों म बुद्धि का औसत पैमाना इस प्रकार आया

रूसी यहूदी	११ ५
आयरिश	१५ १
नीग्रो	८४ ६

न्यूजीलैण्ड क आदिम निवासी माओरी तथा वहा बाद म आ बसे गोरों की जाच करने पर शाब्दिक कुशलता मे गोरे अधिक सक्षम साबित हुए, पर व्यावहारिक क्रियात्मक परीक्षाओ म दोनो के बीच कोई फरक पाया नहीं गया। इस सदर्भ मे बहुत सभव है कि गोरों का विद्यालय का शिक्षण बेहतर होने के कारण उनकी शाब्दिक कुशलता अधिक रही हो। अमेरिका के गोरों क साथ वहाँ के आदिवासी लाल भारतीयों की तुलनात्मक जाच में भी इसी प्रकार का नतीजा पाया गया है। सच्ची-सच्ची और सही निर्णायक परिणाम पाने के लिए इस प्रकार की और भी अधिक जाँच और अध्ययन करने की जरूरत है। परन्तु अब तक जितना अध्ययन हुआ है उस पर से काफी दृढता के साथ कहा जा सकता है कि काले गोरे पीले, लाल, भूरे आदि विभिन्न मानव वशों म बुद्धि के औसत स्तर में कोई खास फरक नहीं है।

दूसरे प्रकार की योग्यताओं तथा सिफतो के बारे मे अभी पर्याप्त प्रयोग नहीं हो पाया है। विभिन्न मानव वशो के शारीरिक गठन म फरक पाया जाता है उसी प्रकार विशेष योग्यताओं में भी थोडा बहुत फरक का होना असभव नहीं है। लेकिन इस प्रकार क फरक का अस्तित्व साबित होने पर भी उससे यह साबित नही होता कि कोई एक मानव वश या जाति दूसरों से हर तरह से श्रेष्ठ है।

स्त्री पुरुषो क भेदो का भी अध्ययन किया गया है। दोनो के शरीर की रचना मे तो भेद है ही स्त्रियो की औसत ऊँचाई पुरुषों से कम होती है तथा उनके शरीर मे चरबी भी कुछ अधिक रहती है। लडकियाँ लडकों से अधिक तेजी से बढती हैं और स्त्रियाँ औसतन पुरुषो से अधिक दीर्घजीवी होती हैं।

ये सब तो शारीरिक भेद है। लेकिन दोनो की बुद्धि के पैमाने मे जॉचों के आधार पर कोई खास फरक नहीं पाया गया है। दूसरी योग्यताओं मे कुछ फरक जरूर पाया जाता है। लडकियॉ बोलना जल्दी सीखती हैं और शब्दों का उपयोग अधिक कुशलता के साथ कर सकती है। किसी चीज को देखने पर उसकी बारीकियां को पहचानना, अक्षर या आकृति पहचानना आदि में स्त्रियॉ पुरुषों से तेज होती हैं।

पुरुष वस्तुओं की अवस्थितिगत सूक्ष्मताएँ पहचानने (spatial ability) मे तथा गणित मे ज्यादा कुशल होते है। इसलिए लडकियॉ भाषा-ज्ञान में ज्यादा कुशल होती हैं और लडके गणित तथा विज्ञान में। स्त्रियों की स्मरण-शक्ति पुरुषों से तेज पायी जाती है। इसका कारण यह हो सकता है कि वे भाषा-ज्ञान में, शब्दो के उपयोग मे तेज होती है और स्मृति शब्दो के आधार से बनती है।

इस तरह हम देख सकते हैं कि स्त्रियों तथा पुरुषों मे जो भी भिन्नता है, उसके आधार से यह कतई नही कहा जा सकता कि कुल मिलाकर कोई किसीसे श्रेष्ठ है।

समाज के विभिन्न वर्गो की भिन्नता का भी कुछ अध्ययन हुआ है। अमेरिका में किये गये एक सर्वेक्षण को हम यहाँ नमूने के तौर पर ले सकते है

विविध वर्गों के औसत आई० क्यू०

	बडे मनुष्य	उनके बच्चे
१ डॉक्टर, इजीनियर आदि सरकारी तथा व्यापारी सस्थाओं के ऊँचे कर्मचारी	१५०	१२०
२ दूसरे दर्जे के कर्मचारी तथा धधेवाले	१३०	११५
३ उच्च कोटि के कुशल कारीगर तथा क्लर्क आदि	११८	१०९
४ कुशल कारीगर	१०८	१०४
५ आंशिक—कुशल मजदूर	९७	९८
६. अकुशल मजदूर	८६	९२
७ फुटकर काम करनेवाले मजदूर	८०	९०

इस पर से दीखता है कि समाज मे ऊँचे ओहदे पर या अधिक कुशलता के काम करनेवालों का बौद्धिक स्तर क्रमश ऊँचा है। अमेरिका, इग्लैंड आदि देशों मे जहाँ लोग कुछ हद तक अपनी कुशलता के कारण अधिक कमाई के धधे में पहुँच सकते हैं, वहाँ इस प्रकार होना स्वाभाविक है। पर इसमे एक बात ध्यान मे रखनी चाहिए। ये सारे ऑकड़े ओसत के हैं। इसका मतलब यह कि किसी एक ही वर्ग के व्यक्तियो में काफी मात्रा में फरक होगा। मिसाल के तौर पर प्रथम वर्ग, ऊँचे पेशेवरों में बुद्धिमत्ता का फैलाव १०० या ११० से १८० या १९० तक हो सकता है। बिल्कुल आखिरी वर्ग, फुटकर काम करनेवाले मजदूरों में भी ११० या १२० के आई० क्यू० वाले व्यक्ति होगे। इस तरह फेहरिस्त के दो सिरे के इन दोनों वर्गों मे कुछ ऐसे व्यक्ति होगे, जिनका बौद्धिक स्तर बराबर होगा और नीचे के स्तर मे कुछ एक का बौद्धिक स्तर ऊपर के कुछ लोगों से ज्यादा भी होगा।

दूसरी बात ध्यान में लेने की यह है कि इन वर्गों के बच्चों का बौद्धिक स्तर उनके माता पिताओं के बराबर नहीं होता। औसत की ओर खिसकता है। इस उदाहरण में ऊपर के चार वर्गों के बच्चों का स्तर नीचे की ओर खिसका है, माता पिताओं से कम हुआ है और नीचे के तीन का ऊपर की ओर, यानी माता पिताओं से बढ़ा है। इसका मतलब यह कि अलग अलग बौद्धिक स्तर के लोगों को लेकर अलग अलग वर्ग बनते हैं, तो उससे उन वर्गों के बौद्धिक स्तर वंश परम्परा से भिन्न नहीं रहेंगे औसत की ओर खिसकते खिसकते दो चार पीढ़ियों में दोनों बराबर हो जायेंगे। दोनों में ऊँचे मझले और निचले बौद्धिक स्तर के लोगों के अनुपात बराबर हो जायेंगे।

तीसरी बात यह ध्यान में लेनी है कि बुद्धि की जाँच की पद्धतियाँ सांस्कृतिक सन्दर्भ से एकदम निरपेक्ष नहीं होतीं, यह हमने पहले देखा है। गाँव के नीग्रो शहर में आये तो उनका बौद्धिक स्तर बढ़ गया। इसी तरह समाज में विविध आर्थिक वर्गों के सांस्कृतिक सदर्भ भिन्न होते हैं। निचले वर्गों को मानसिक विकास की कई सहूलियतें अप्राप्य होती हैं, जो ऊपरवालों को मिलती हैं। शारीरिक पुष्टि के अभाव का भी मानसिक विकास पर असर होता है। निचले वर्गों की ये सारी प्रतिकूलताएँ हटें तो वर्गों में फरक घटने की संभावना है।

ऊपर के सारे विवेचनों का सार यह है कि मनुष्यों में जिस तरह लम्बाई मोटाई, वजन शरीर के बल या रंग में भिन्नता पायी जाती है, वैसे बौद्धिक स्तर में भी पायी जाती है। पर इन भिन्नताओं के साथ जाति, रंग वंश, लिंग आदि का कोई सम्बन्ध नहीं है जिससे कि अमुक वंश, रंग या जाति के लोग दूसरों से श्रेष्ठ समझे जायँ या स्त्री पुरुषों के बीच भेदभाव का समर्थन हो सके। आधुनिक समाज में जहाँ व्यक्तियों को कुछ हद तक अपने प्रयत्नों से समाज में अपना स्थान बदलने का मौका है और जिन कामों में अधिक बौद्धिक सामर्थ्य की आवश्यकता है उन कामों के लिए योग्य मनुष्य चुनने की व्यवस्था है, वहाँ उन वर्गों में उस प्रकार के ऊँचे बौद्धिक स्तर के लोग पहुँच जाते हैं। ऊँचे वर्गों का बौद्धिक स्तर कुछ ऊँचा होता है पर यह भिन्नता आनुवंशिक नहीं होती। सत्ता या संपत्ति पर आधारित आनुवंशिक वर्गों में बौद्धिक स्तर की भिन्नता नहीं पायी जायगी।

आज भारत के हरिजनों या आदिवासियों में तथा ब्राह्मण कायस्थ आदि ऊँची कही जानेवाली जातियों में ऊपर से बौद्धिक स्तर का बहुत फरक नजर आता है। यूरोप के गोरों के मुकाबले में अफ्रीका के हब्शी थोथे समझे जाते हैं। बम्बई के मेरीन ड्राइव पर रहनेवाले बच्चों के मुकाबले में माटुंगा के चालों में रहनेवाले मजदूरों के बच्चे मंद दीखते हैं। पर ये सारे भेद सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थिति के कारण हैं। पिछड़ी हुई जाति या वर्गों को विकास के मौके नहीं मिले इसलिए उनका बौद्धिक स्तर पिछड़ा हुआ दीखता है लेकिन वास्तव में वैसा नहीं है। ●

वृत्तियाँ और प्रेरणाएँ

: ९ :

प्राणियों को भूख, प्यास लगती है। दूसरे लिंग के साथी से मिलने की प्रेरणा, घोंसला या घर बनाने की प्रेरणा होती है। इस तरह अन्दर की प्रेरणा तथा इन्द्रियों के द्वारा बाहर की दुनिया का दर्शन, इन दोनों के परस्पर प्रभाव से उसका आचरण बनता है। या यों कहिये कि अपनी अन्दर की प्रेरणाओं तथा आवश्यकताओं की पूर्ति में इन्द्रियाँ उसको मदद करती हैं। भूख लगी तो कहाँ खाद्य है, इसकी जानकारी वे उसको देती हैं। घोंसले के लिए सामान ढूँढकर देती हैं। मनुष्यों में भी इसी प्रकार भूख, प्यास, काम वृत्ति, भय, क्रोध आदि की प्रेरणाएँ होती हैं। इनकी प्रेरणा से वह कई प्रकार की चेष्टाएँ करता है।

अपने शरीर की रक्षा या वंश-रक्षा के अलावा कुछ सामाजिक वृत्तियाँ भी उसमें होती हैं। वह कभी लोगों के साथ प्रेम से रहना चाहता है, तो कभी झगड़ा करता है। कभी किसीकी शरण में आता है, तो कभी किसी पर प्रभुत्व करता है। कभी दूसरे को बचाने के लिए जान दे देता है, तो कभी दूसरों की जान ले लेता है। कभी अपार संपत्ति इकट्ठा करता है तो कभी अपनी आखिरी कौड़ी भी बाँट देता है।

इन सबका पृथक्करण और वर्णन पुराने जमाने से किया गया है। आहार, निद्रा, मैथुन आदि जैव वृत्तियाँ मानी गयीं। उनको वश में रखना मनुष्य का धर्म समझा गया है। बाकी वृत्तियों का वर्गीकरण गुण और दोष, दैवी संपत्ति तथा आसुरी संपत्ति आदि में किया गया है। याने उनमें कुछ अच्छे, सद्‌गुण हैं, कुछ बुरे, दुर्गुण हैं। सद्‌गुण ग्राह्य और दुर्गुण त्याज्य हैं। इस प्रकार नैतिक दृष्टि से मनुष्य-स्वभाव का विश्लेषण किया गया है। पर ये गुण-दोष आये कहाँ से, उनका परस्पर संबंध क्या है, इस पर कोई खास प्रकाश नहीं मिला था।

इस जमाने में वैज्ञानिक दृष्टि से मन का अध्ययन शुरू हुआ, तो पहले इसी प्रकार के पृथक्करण और वर्णन पर ही जोर रहा। अन्य जीवों की जन्मजात वृत्तियों (इनस्टिंक्ट) के साथ तुलना करके इनमें कौन जन्मजात और कौन बाद में शिक्षण से प्राप्त हैं, यह पृथक्करण करने की कोशिश हुई। जैसे प्राणी-जीवन में जन्मजात वृत्तियों का महत्त्व उनकी जीवन-यात्रा को चालू रखने में होता है, भले या बुरे का सवाल नहीं होता, वैसे ही मनुष्य की भी वृत्तियों के भले और बुरेपन का सवाल बाजू में रखकर उसके जीवन में उनके स्थान और महत्त्व को समझने की कोशिश हुई।

इस तरह शुरू-शुरू में मनुष्य की जिन वृत्तियों को जन्मजात समझा गया, उनको इनस्टिंक्ट का नाम ही दिया गया। और उनकी लम्बी सूचियाँ भी बनीं।

पर हमने देखा है कि मनुष्येतर जीवों की इन वृत्तियों के साथ आचरण करने

का एक एक बना बनाया ढाँचा होता है। उस ढाँचे से बाहर वे जा नहीं सकते। भूख लगने पर कोई मुँह बाये पानी में तैरता है तो कोई अमुक प्रकार का पत्ता ढूँढता है। कोई मांस ही खाता है, तो कोई सिर्फ घास पात। यौन प्रेरणा होती है तो साथी ढूँढने का तथा उसके साथ मिलने का बना बनाया तरीका हरएक का अपना होता है। घोंसला या आश्रय हरएक अपने निश्चित प्रकार का बनाता या ढूँढ लेता है।

पर मनुष्य के वृत्तियों का इस प्रकार कोई बँधा बँधाया ढाँचा नहीं होता। खाद्य उपजाने के तथा इकट्ठा करने के, उसे भोजन के लिए तैयार करने के तथा खाने के हजार तरीके वह अपनाता है। साथी ढूँढने विवाह तथा दाम्पत्य व्यवहार के उसके उतने ही ढग, रिवाज तथा नियम हैं। मकान वह सैकड़ों उपादानों से सैकड़ों प्रकार का बनाता है।

यानी मनुष्य में कुछ अनिश्चित स्वरूप की प्रेरणाएँ ही होती हैं। उनके साथ जुड़े हुए आचरण का निश्चित स्वरूप नहीं होता। फिर वह उनकी पूर्ति के लिए अपनी परिस्थिति तथा सस्कृति के अनुसार आचरण करता है।

इसलिए आजकल मनुष्यों की इन प्रेरणाओं की तुलना इनस्टिंक्ट से नहीं की जाती। अब उनको 'नीड्स' यानी जरूरत तथा 'ड्राइव्स' यानी प्रेरणाएँ कहा जाता है।

पर इस सिलसिले में यह भी सवाल उठता था कि क्या मनुष्य के विविध प्रकार के आचरण के पीछे कोई नैसर्गिक एकता है या नहीं। क्या काम, क्रोध, भय, लोभ, प्रेम करुणा क्रूरता शूरता आदि जो गुण-दोष या प्रेरणाएँ है उनमे हरएक अलग अलग से काम करती है? या उनमे परस्पर कोई सम्बन्ध है? क्या उसके हरएक प्रकार के आचरण के लिए एक अलग वृत्ति या गुण दोष को कारण बताना पर्याप्त है? 'अमुक मनुष्य प्रेम क्यों करता है? उसमें प्रेमी स्वभाव अधिक है। अमुक माता अपने बच्चे को क्यों प्यार नहीं करती? उसमें वात्सल्य कम है। अमुक मनुष्य क्यों क्रूर है? उसमे क्रूरता है। यह कोई वैज्ञानिक व्याख्या है?

विज्ञान में हमेशा सरलता तथा मितव्ययिता की माँग होती है। मनुष्य क्यों कृपण है? उसमे कृपणता है इसलिए। क्यों उदार है? उसमें उदारता होने के कारण। इस प्रकार हरएक सवाल के लिए एक एक कारण बताते जाने से उसको सतोष नहीं। पेड़ से फल कैसे गिरता है कमान से तीर कैसे चलता है चाँद और ग्रह कैसे घूमते है इन सबके जवाबों का समावेश गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्तों में हुआ तो ही वैज्ञानिक और विज्ञान को सतोष होगा।

इसलिए मनुष्य के हरएक सिफ्त का कारणस्वरूप एक एक गुण या दोष ढूँढना और फिर उन सबके समघट से मनुष्य स्वभाव की व्याख्या करना—यह तरीका समाधानकारक नहीं था।

हमने देखा उन्नीसवीं सदी में विकासवाद का आविर्भाव जीव विज्ञान में हुआ

तो उसका असर मनोविज्ञान में भी हुआ। इसमें एक तरफ जीव विकास के संदर्भ में मन के विकास को देखा गया, तो दूसरी तरफ बचपन से लेकर प्रौढत्व तक व्यक्ति के मानस के विकास की दृष्टि भी दाखिल हुई। इसमें फ्रायड की बड़ी देन रही। व्यक्तित्व के विकास या परिपक्वता की जो प्रक्रिया, मानसिक रचना का जो ढाँचा उन्होंने प्रस्तुत किया, उसीके आधार पर मनोविज्ञान का बहुत भाग विकास आगे हुआ है।

इसमे एक और बात हुई कि मनुष्य के व्यक्तित्व का एक समग्र रूप सामने आया। एक नयी कल्पना चालू हुई कि मानव के व्यक्तित्व तथा आचरण में बहुत सारे अलग-अलग गुण, क्षमता आदि का जोड़ नहीं, पर एक मूलभूत अस्तित्व का प्रकाश होता है, उसके अलग-अलग पहलुओं में परस्पर सम्बन्ध होता है। फिर मनुष्य के आचरण और गतिविधि को समझने के लिए उतनी सारी अलग-अलग वृत्ति या गुणों के आरोप के बदले उनको गिनी-चुनी मूलभूत जरूरतें तथा प्रेरणाओं के रूपांतर या उपज के रूप में समझने की दृष्टि रूढ हो चली।

जरूरतें तथा प्रेरणाएँ—इस प्रकार के दो शब्दों का उपयोग क्यों किया जाता है, यह पहले समझ लेना चाहिए। 'जरूरतों' में वे बातें शामिल हैं, जो प्राणी को तदुरुस्त रखने के लिए, उसकी पुष्टि, वृद्धि और विकास के लिए जरूरी हैं। प्राणी को भोजन, पानी तथा हवा चाहिए। प्यार तथा दूसरों का साथ चाहिए। पर यह आवश्यक नहीं कि चूँकि ये उसकी जरूरतें हैं, इसलिए उनकी पूर्ति के लिए वह प्रयत्न करेगा ही। जलोदर की बीमारी में प्यास होते हुए भी मरीज पानी नहीं चाहता। कई बीमारियों में शरीर को पुष्टि की जरूरत होते हुए भी भूख नहीं लगती, अन्न में रुचि नहीं होती। छोटे बच्चे को प्यार की सख्त जरूरत होने पर भी वह उसे प्राप्त करने के लिए खास कुछ कर नहीं सकता।

जब जरूरत के साथ प्रेरणा भी जुड़ी हुई होती है, तब प्राणी उसकी पूर्ति के लिए प्रयत्न करता है। इस तरह इसके दो पहलू हैं। इन जरूरतों तथा प्रेरणाओं को सामान्यतया चार भागों में बाँटा जाता है (१) शरीरजन्य, (२) मानसिक, (३) जरूरी परिस्थितियों से सम्बद्ध तथा (४) समाजजन्य। भूख, प्यास, हवा की जरूरत, मल-मूत्र-त्याग, आराम तथा यौन-वृत्ति शरीर जन्य होती है। सुरक्षा तथा प्यार, साथीपन (एफीलिएशन), पुरुषार्थ या पराक्रम, जिज्ञासा तथा आत्म-प्रतिष्ठा की जरूरतें मानसिक होती हैं। गुस्सा, भय, उत्तेजना आदि भावावस्थाएँ प्राणी को विशेष परिस्थितियों का सामना करने के लिए तैयार करती हैं। समाज की परंपरा तथा संस्कृति से तो मनुष्य कई प्रेरणाएँ सीखता है, जैसे—सहकार, प्रतियोगिता, संग्रह-वृत्ति इत्यादि।

हमने इनका यद्यपि शरीरजन्य, मानसिक तथा समाजजन्य के रूप में विभाजन किया, परंतु ध्यान में रखना चाहिए कि शरीर और मन दो ऐसी अलग-अलग चीजें

नही हैं, जो इकट्ठी जुडी हुई हो। आधुनिक विज्ञान यह सबूत देता है कि यह दोन एक ही तत्त्व के दो पहलू है। दोना एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। भूख शरीर से उठती है, पर हर्ष, विषाद जैसे मानसिक भाव उसकी प्रेरणा को बढा या घट सकते है। प्यार की भूख मानसिक है पर हम आगे देखेगे कि उसकी पूर्ति होने या होने का शरीर पर भी असर होता है। और ये सारी प्रेरणाएँ सामाजिक सदर्भ में रूपा तरित होती है। हम क्या खाय, कैसे खाय भोजन कैसे प्राप्त कर आदि भूख की प्रेरणा के प्रकट होने का सारा ढग सामाजिक परपरा और वातावरण से ही निश्चित होता है।

इन जरूरतो और प्रेरणाओ का हम दूसरे ढग से भी विभाजन कर सकते है (१) आत्मरक्षा से सम्बद्ध, (२) वश रक्षा से सम्बद्ध, (३) आत्म प्रतिष्ठा से सम्बद्ध तथा (४) सामाजिक। यहाँ भी हम यह ध्यान म रखें कि यह सारा वर्गीकरण समझने की सहूलियत के लिए किया जाता है। एक जीवित, प्रयत्नशील तथा विकासशील जीव नाते मनुष्य को कार्यक्षम रखने मे ये सारी प्रेरणाएँ उपयोगी होती है। प्रेरणाएँ भी एक दूसरे से जुडी हुई होती है इसलिए उनका भी पृथक्करण कुछ हद तक कृत्रिम य मनार्थदी होता है। जिज्ञासा को अलग मान या आत्मरक्षा के अतर्गत माने? आत्म रक्षा मे वह मदद करती ही है। सतान प्रेम को वश रक्षा से सम्बद्ध मानें या सामा जिक? समाज का आरम्भ पालक सतान सबध से ही होता है। समझने की सहूलिय के लिए वर्गीकरण करना होता है तो उसकी यथार्थता को लेकर बारीक तक हो सकत है और होता है। पर यह समझने की सहूलियत के लिए ही है यह ध्यान में रखक हम आगे बढ़ें।

आत्मरक्षा से सम्बद्ध प्राथमिक प्रेरणा भूख और प्यास होती है। शरीर म अभाव पैदा होते हैं तो ये प्रेरणाएँ उठती है। देखा जाता है कि भूख एक ही प्रकार की नही पर विभिन्न पौष्टिक तत्वो के अभाव के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार की भूख हो सकती है। जगल के जानवरो को भी नमक की कमी महसूस होती है तो वे ढूँढ-ढूँढ कर नमकीन मिट्टी चाटते है। अमेरिका म डैविस ने एक प्रयोग किया जिसमें उन्होंने कई छोटे बच्चो को तरह-तरह की खाने की चीजो में से अपनी रुचि के अनुसार चुन कर खाने की आदते डाली। देखा गया कि बच्चों ने कुल मिलाकर अपनी पुष्टि के लिए आवश्यक वस्तुएँ ही चुनी। सबसे चकित करनेवाली बात यह थी कि एक बच्चे को रिकेट की बीमारी थी जिसमे विटामिन 'डी' की जरूरत होती है और वह बच्चा विटामिन डी से सपन्न कड लीवर आइल ही अपने आप चुनकर खाने लगा और तब तक खाता रहा जब तक उसकी बीमारी मिट नही गयी।

हवा की जरूरत को लेकर सामान्यतया कोई समस्या पैदा नही होती और इसलिए उसकी खास चर्चा भी नही होती। पर हवा का अभाव हो और साँस लेने की तकलीफ हो तो प्राणी उससे बचने के लिए अवश्य प्रचण्ड प्रयास करता है। मल मूत्र त्याग व

जरूरत भी शरीर की है, पर हम आगे देखेंगे कि उसकी आदत के नियमन की प्रक्रिया में से कितनी मानसिक उलझन पैदा होती है।

शरीर काम करते-करते थक जाता है तो विश्राम की जरूरत होती है, और मानसिक थकान के कारण भी उसकी जरूरत होती है। यहाँ भी हम देखते हैं कि विश्राम शरीर को चाहिए या मन को, यह निर्णय करना कठिन होता है। मानसिक परिश्रम के समय शरीर की कई पेशियाँ तनी हुई रहती हैं, और उसमें उनके कारण ही ज्यादा थकान आना सम्भव है। फिर शारीरिक श्रम में भी यदि दिलचस्पी न रही तो खास परिश्रम किये बिना ही मनुष्य थक जाता है। नींद ही विश्राम का पूर्णतम स्वरूप है। पर नींद की प्रक्रिया अभी तक पूरी पूरी समझ में नहीं आयी है।

वृद्धावस्था, बीमारी, बेकारी आदि में सुरक्षा की मनुष्य को जरूरत होती है। कभी उसे वह मिलती है और कभी नहीं मिलती। इनमें से कई जरूरतें सामाजिक सदर्भ में पैदा होती हैं और उनकी पूर्ति भी उसीमें हो सकती है। सुरक्षा की जरूरत पूरी करने में प्यार का महत्त्व बहुत बडा होता है। बच्चों के लिए तो यह अन्न के ही समान अनिवार्य होता है। बडों के लिए भी कुछ कम अनिवार्य नहीं है।

इसके अलावा सुरक्षा के लिए भरोसे की जरूरत होती है। दुनिया में कोई व्यवस्था है, जिसके आधार से सुरक्षा मिलेगी, इस प्रकार के विश्वास से भरोसा मिलता है। 'भगवान् है, सब ठीक कर देगा', 'सरकार है, सब सँभाल लेगी', इस तरह आध्यात्मिक विचार, राजनैतिक मतवाद, सामाजिक परम्परा आदि किसी न किसी चीज में विश्वास रखने की जबर्दस्त प्रेरणा मनुष्य में होती है।

'दूसरों से मैं जुडा हुआ हूँ' यह अनुभव करने की जरूरत मनुष्यों को रहती है। यह जरूरत लोगों से मित्रता करने के लिए, समाज या संस्थाओं में दाखिल होने के लिए, लोगों से सहकार के लिए मनुष्य को प्रेरित करती है। इससे सुरक्षा का भी अनुभव होता है, पर यह जरूरत सुरक्षा से भी अलग है। इसमें प्यार का बडा महत्त्व होता है।

कई लोग आक्रामक-वृत्ति को आत्मरक्षा की प्रेरणाओं में गिनते हैं। आत्मरक्षा के लिए दूसरों से लडने की जरूरत होती है और उसके लिए मनुष्य में एक बुनियादी प्रेरणा होती है, ऐसा वे मानते हैं और लडाई-झगडे दुनिया में इतने व्यापक हैं कि इस प्रकार की मौलिक प्रेरणा की कल्पना स्वाभाविक है। पर इस सबध में दूसरे भी विचार हैं। इनकी चर्चा आगे यथास्थान करेंगे।

दूसरे लिंग के साथी से मिलने की प्रेरणा, यौन-वृत्ति वंश-रक्षा के लिए सहायक है। यह प्रेरणा मुख्यतया शरीर से उठती है। शरीर की कुछ ग्रंथियों से जो रासायनिक द्रव क्षरित होते हैं, उनके असर से यह प्रेरणा बढती है। पर इसका एक मानसिक अंग भी है। दूसरे प्राणियों में यह प्रेरणा खास मौसम में आती है, पर मनुष्यों में हमेशा मौजूद रहती है।

सन्तान प्रेम की एक स्वतंत्र प्रेरणा है, इस बात से लोग अब तक इनकार करते थे। पर अब उसके पक्ष में सबूत मिलने लगे हैं। मालूम होता है कि इसका भी एक शारीरिक आधार है। पैदा होने के बाद बच्चा जब तक वह स्तन्य पान करता रहता है तब तक स्त्री प्राणी के शरीर में प्रोलैक्टिन नाम का एक रासायनिक द्रव पैदा होता रहता है। 'कुँआरी' मादा चूहों तथा मुर्गियों में इस द्रव का इंजेक्शन देकर पाया गया कि इससे चूहों में बच्चों को पालने की जबर्दस्त प्रेरणा पैदा होती है। जिन बच्चों को वह थोडी देर पहले वैर की दृष्टि से देखती थी उन्हींको प्यार करने लगती है। मुर्गियाँ इससे अंडे सेने को प्रेरित होती हैं।

मनुष्यों को इसका इंजेक्शन देकर देखा गया, तो इस प्रकार आश्चर्यकारक परिणाम नहीं मिला है। अधिकांश संतान प्रेम की प्रेरणा मनुष्यों में मुख्यतया मानसिक ही है। पर स्त्रियों के शरीर में प्रोलैक्टिन होता है और शायद सिर्फ बच्चे होने के समय ही नहीं हमेशा ही कुछ न कुछ पैदा होता रहता है।

मनुष्य सिर्फ भूख प्यास काम वृत्ति आदि की ताडना से कर्म प्रवृत्त होता है या वैरी को देखने पर लडता है और फिर ये जरूरतें पूरी होने पर निष्क्रिय बनता है, ऐसा नहीं है। बल्कि ऐसा देखने में आता है कि इन जरूरतों के अलावा भी उसमें कुछ न कुछ करने की प्रेरणा रहती है। अपने अंदर वह कुछ शक्ति या सामर्थ्य महसूस करता है जिसका विकास वह करना चाहता है तथा जिसको आजमाना चाहता है। अपनी चारों ओर की दुनिया को देखने-समझने की प्रेरणा अनुभव करता है। बाहर की परिस्थिति पर, दूसरे मनुष्यों पर अपनी श्रेष्ठता जताने की चाह भी उसे होती है। इनको अलग अलग से निर्माण जिज्ञासा आत्म प्रतिष्ठा की प्रेरणाएँ कहा गया है और इकट्ठा करके इस वृत्ति को 'विजय काम' या 'श्रेष्ठत्व-प्राप्ति' नाम दिया गया है। इसकी भी विस्तृत चर्चा आगे होगी।

भय, क्रोध तथा उत्तेजना प्राणी को विशेष परिस्थिति में योग्य आचरण करने के लिए तैयार करती है। सामने ऐसा खतरा या दुश्मन हो जिससे भागने पर ही बचा जा सकता है तो उसे देखकर भय उत्पन्न होता है। खतरा या दुश्मन से लडकर विजय प्राप्ति के लिए गुस्सा प्रेरणा देता है। असामान्य अस्वाभाविक परिस्थिति में उत्तेजना पैदा होती है जो शरीर के सब अवयवों को अधिक चौकन्ना बनाती है। ये सारे मानसिक भाव व्यापक शारीरिक प्रक्रियाओं से जुडे हुए होते हैं।

हमने यहाँ जरूरतों तथा प्रेरणाओं का बहुत ही संक्षिप्त परिचय दिया है। उनमें से जो महत्त्वपूर्ण हैं उनकी चर्चा हम आगे तफसील से करेंगे। पर उससे पहले यह आवश्यक लगता है कि मन का जो समग्र और गतिशील स्वरूप इन दिनों सामने आया है, उसका एक प्राथमिक परिचय हम कर लें। फ्राइड इसे नयी दृष्टि देने में अग्रणी रहे इसलिए उन्हींके नाम से उसकी चर्चा शुरू करेंगे।

●

फ्राइड तथा अचेतन मन

फ्राइड का जन्म सन् १८५६ मे आस्ट्रिया में हुआ था। पहले वे ज्ञान-ततुओं की रचना तथा उपचार के बारे मे शोध करते थे। शरीर-विज्ञान के विकास तथा मस्तिष्क व ज्ञान-ततु-तत्र के बारे में नयी जानकारी मिलने के कारण उन दिनों यह धारणा फैल गयी थी कि मानसिक व्याधियों का कारण मस्तिष्क या ततुओं की रचना की विकृति मे ढूँढना चाहिए। एक हद तक तो यह ख्याल सही था। दिमाग के किसी अश को चोट लगती है तो कुछ मानसिक क्रियाओं मे जरूर गडबडी पैदा होती है। कुछ रोग-जतुओं के आक्रमण के कारण मस्तिष्क मे सडन पैदा होती है, तो मानसिक विकृति भी पैदा होती है।

पर फ्राइड को अपने अनुभव से लगा कि इनके अलावा ऐसे बहुत सारे मानसिक रोग हैं, जिनके कारण भी मानसिक ही होने चाहिए। उस समय पेरिस में शारको (Charcot) नाम के एक चिकित्सक थे, जो मानसिक रोगों का उपचार सम्मोहन से करते थे। सम्मोहन का उपयोग मनोरजन के लिए जादूगर वगैरह भी अक्सर करते हैं। जिसे सम्मोहित करना है, उसे लिटाकर या बैठाकर उसकी ऑखों के सामने हाथों का कुछ सचालन करते हैं तथा धीमी आवाज से इस प्रकार कुछ कहते रहते हैं कि 'तुम अब सो जाओगे, सो जाओगे ।' फिर धीरे-धीरे उस व्यक्ति की ऐसी स्थिति हो जाती है कि उसकी सारी इन्द्रियाँ निद्रित-सी हो जाती हैं, पर सम्मोहनकर्ता के इशारे तथा उसके वाक्य के प्रति जागरूक रहते हैं। वह कुछ पूछता है, कुछ आदेश देता है, तो सम्मोहित व्यक्ति उसका जवाब देता है, उसका पालन करता है।

रोगी को इस स्थिति में लाकर शारको आदेश या सुझाव देते थे कि 'तुम्हारी बीमारी अच्छी हो गयी है' और उसका असर होता था। फ्राइड ने अपना भी प्रयोग इसी प्रकार शुरू किया। पर कुछ दिनों के बाद उनको लगा कि इस प्रकार सम्मोहन के साथ आदेश और आश्वासन देने से रोग का स्थायी उपशम होता नहीं है। वह तो चिकित्सक के साथ रोगी के सम्बन्ध पर निर्भर रहता है। बाद में कभी दोनों का सपर्क बिगडा और चिकित्सक पर रोगी की श्रद्धा हटी, तो रोग फिर लौटता है। इसलिए उन्होने यह तरीका छोड दिया। पहले ही अनुभव से उन्होंने अदाजा लगा लिया था कि रोगी के मन में दबी हुई कुछ भावना तथा स्मृति के कारण रोग पैदा होता है। अनुभव से यह अदाजा सही साबित हुआ।

उनके शुरू-शुरू के रोगियों मे लूसी नामक एक युवती थी, जो किसी सज्जन के बच्चों की देखभाल करती थी। उसकी नाक में रिनाइटिस् नाम की सख्त बीमारी हो गयी थी। उसके अलावा उसे बडी थकावट तथा मानसिक अवसाद का एहसास होता था। वह ठीक-ठीक खा नहीं सकती थी, न काम करती थी। उसके बारे में

कुछ जानकारी मिलने पर फ्राइड को लगा कि वह अपने मालिक के प्रति तीव्र रूप से आकर्षित है। उसे पूछने पर उसने कबूल किया कि वह मालिक के लिए प्रेम का तीव्र आकर्षण अनुभव करती थी और उसे दबाने की कोशिश करती थी और वह मानती थी कि अब वह उस भावना से मुक्त हो गयी है। साथ-साथ फ्राइड ने उपचार के अपने उस तरीके का भी विकास किया, जिसमें रोगी को बिना किसी प्रकार की रोकटोक या हिचकिचाहट के अपने मन में जो भी बात आती है, उसे चिकित्सक के सामने कह डालने के लिए उत्साहित किया जाता। इससे दबी हुई भावनाएँ तथा स्मृतियाँ प्रकट होने में मदद मिलती है। रोगी के मुक्त चिंतन से प्रकट होनेवाली बातों का तात्पर्य समझने में तथा समझाने में चिकित्सक मदद करता है।

उन्होंने जिन पर इस तरीके का पहला पूरा प्रयोग किया वह एलिजाबेथ नामक स्त्री थी। वह इतनी बीमार थी कि उसके दोनों पैर करीब-करीब बेकार हो गये थे। उपचार से पता चला कि वह अपने बहनोई के प्रति तीव्र प्रेमभाव रखती थी। पर वह निष्फल ही था। इस बीच में उसकी बहन बीमार होकर मर गयी। जिस समय वह अपनी मृत बहन को देखती खड़ी थी उसी समय उसके मन में यह विचार दौड़ गया कि 'अब तो ये—बहनोई—मुक्त हुए हैं। मैं अब उनकी पत्नी बन सकती हूँ।' पर यह विचार उसको बहुत ही भद्दा लगा और तुरंत उसने उसको दबा दिया। दूसरे दिन सुबह ही वह बीमार हो गयी और उसके पैर बेकार हो गये। जब उसकी उस घटना की स्मृति लौटी और बहनोई के प्रति अपने अवांछित भाव को उसने कबूल किया तब उसकी बीमारी मिट गयी।

इस प्रकार बहुत सारे प्रायोगिक अनुभवों के आधार पर फ्राइड इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि विशेष दुःख, भय, वितृष्णा, घृणा या लज्जा पैदा करनेवाली भावनाओं को मनुष्य अस्वीकार करना चाहता है, अपने से यह कहना चाहता है कि मुझमें ऐसी भावनाएँ हैं ही नहीं। इससे इस प्रकार की भावना या उससे सम्बद्ध घटना की स्मृति भुला दी जाती है। और जिस भावना के कारण उसे तीव्र मानसिक कष्ट, दुःख, भय, लज्जा आदि के तनाव का अनुभव हो सकता था, उसका परिवर्तन शारीरिक कष्ट में या मानसिक उपसर्गों में हो जाता है।

मनुष्य के चेतन मन के उपरान्त उसका एक अचेतन मन भी है जिसमें कई प्रकार की क्रियाएँ चलती रहती हैं और जो व्यक्ति के आचरण पर असर करती रहती है। मन के इस अचेतन कक्ष में मुख्यतया चार प्रकार की चीजें होती हैं। एक मन की वे प्रक्रियाएँ, जो अपने-आप चलती रहती हैं तथा शरीर को चलाती हैं। इनको न हम अपनी सचेतन इच्छा से नियन्त्रित कर सकते हैं न सचेतन रूप से अनुभव कर सकते हैं। दूसरी वे सारी कुशलताएँ, जिन्हें हमने प्रयत्न से सीखा और फिर जिनकी जिम्मेवारी अचेतन मन को सौंप दी। चाहने पर इनके बारे में हम सचेतन बन सकते और इन पर नियन्त्रण भी कर सकते हैं। इन दोनों की चर्चा मस्तिष्क की रचना के प्रसंग में

मने तफसील से की है (अध्याय ४)। अचेतन का तीसरा उपादान है हमारी वे सारी स्मृतियाँ, जो किसी काम की न होने के कारण खोयी हुई होती है। पिछले शनिवार को नाश्ते में मैने क्या खाया था और पिछले महीने मे धोबी ने कितने कपडे लिये थे, इस प्रकार की सारी बातें मै भूल गया हूँ। मैंने कल क्या खाया था और परसों किनसे मिला था, यह इस समय मेरे सचेतन ध्यान मे नही है। पर चाहूँ तो याद कर सकता हूँ। पर जैसे-जैसे समय बीतता जायगा और इन घटनाओ को याद करने की आवश्यकता नहीं रह जायगी, वैसे-वैसे इनकी स्मृति विस्मृति मे यानी अचेतन की कोठरी में ढकेली जायगी, जैसे समझिए कि घर का कोई कमरा या कबाडखाना हो, जिसमे अनावश्यक टूटी फूटी चीजे डाल दी जाती है। फिर उस जजाल के ढेर से किसी चीज को ढूँढ निकालना मुश्किल होता है।

अचेतन का चौथा और प्रस्तुत चर्चा की दृष्टि से सबसे महत्त्व का उपादान है वे स्मृतियाँ, जो हमें किसी कारण असह्य होने की वजह से उस कोठरी मे ढकेल दी जाती हैं—जैसे उस लडकी का हुआ था। इस तरह घटना की तथा घटना के साथ जुडी हुई भावना की स्मृति भी लुप्त हो जाती है। इससे उस व्यक्ति को लगता है कि वह भावना खतम हो गयी। उस लडकी के मन में अपने पिता के लिए जो द्वेष पैदा हुआ था, वह उसे असह्य मालूम हुआ और तुरन्त ही यह भावना अचेतन मे ढकेली गयी। पर इससे वह थोडे ही खतम हुई? वह तो अचेतन रूप से उसके शरीर पर ही असर करती रही।

फिर इस अचेतन मन के आविष्कार के आधार पर फ्राइड ने मन की रचना तथा विकास का एक चित्र प्रस्तुत किया। उसमें उन्होंने तीन मुख्य हिस्से माने—प्रवृत्तिपुज या ईड् (Id), अहम् या ईगो (Ego) तथा विवेक या सुपर-ईगो (Super ego)। हम सब स्थूल रूप से जानते है कि मनुष्य म जन्म से कुछ प्रेरणाएँ तथा हाजतें होती ही है—जैसे भूख, प्यास आदि। फ्राइड का मानना था कि मनुष्य की जन्मजात प्रेरणाओं में दो सर्वप्रधान और सर्वोपरि हैं—यौन-वृत्ति तथा आक्रामक-वृत्ति। इन प्रेरणाओं के पुज को उन्होंने 'ईड' नाम दिया।

फिर है मनुष्य का अहम् या 'मै पन'। नवजात शिशु में यह बहुत ही अस्पष्ट तथा कमजोर रूप मे होता है और वयोवृद्धि के साथ स्पष्ट और मजबूत बनता है। इस 'मैं पन' मे मनुष्य का कर्तृत्व-बोध—कर्तापन का अनुभव—होता है। उसकी इच्छा-अनिच्छाएँ, उसकी बुद्धि उसके साथ जुडी हुई होती है। यह 'मै' प्रवृत्तिपुज (Id) से उठनेवाली प्रेरणाओं के कभी अनुरूप तो कभी प्रतिकूल काम करता है। भूख लगी तो ठीक है, 'मैं' सोचता है और तय करता है कि 'अल्मारी से बिसकुट निकालकर खाया जाय।' या यों भी तय कर सकता है कि 'नही, इस समय नही खाऊँगा। और साथियों को लौटने दो, साथ मिलकर खायेंगे।'

'ईड्' की प्रेरणाओं को मजूर या नामजूर करनेवाला भाग है 'सुपर-ईगो', इसको हमने विवेक नाम दिया है। सामान्य अर्थ मे विवेक का जो कार्य होता है,

उसके साथ इथने काय का मेल भी है, पर दोनों मे कुछ फर्क भी है, यह ध्यान म रखकर हम सुपर इगो' के लिए विवेक शब्द का उपयोग कर सकते हैं।

यह विवेक जन्मजात नहीं होता परिवार तथा आसपास के समाज के असर से धीरे धीरे उसका निर्माण होता है। कोई बालक मनुष्य समाज मे दूर रहकर बडा होगा, तो उसम इस विवेक का विकास नही हो पायेगा।

बचपन में हम माँ बाप के विधि निषेधों से अपनी प्राकृत प्ररणाओं को रोकना सीखते हैं। भूख लगती है तो छोटा बच्चा जो खाद्य वस्तु सामने देखता है, उसे उठाकर खा जाना चाहता है या अलमारी म रखी मिठाई देखकर उसे खाने की इच्छा होती है और उसे उठाने के लिए वह तैयार हो जाता है। पर माँ उसे रोकती है। बताती है कि इस तरह बिना पूछे मिठाई नही लेनी चाहिए। चाहे अभी नहीं खाना चाहिए। भाई बहनों को बाँटकर ही खाना चाहिए। वैसे वह आग्रह करती है कि इतना चावल तो खाना ही होगा एक और रोटी लेनी ही पडेगी।

इस तरह से मा का कहना वह पहले-पहल माँ की उपस्थिति मे ही मानता है। माँ या बाप, भाई बहन आदि कोई मना करने या प्रवृत्त करने के लिए सामने न हो तो फिर उसका मन जैसा चाहता है वह वैसा करता है। पर वह धीरे धीरे माँ क आदेश या उपदेश को अपने म समा लेता है। फिर वह बाहर से मिला हुआ आदेश या उपदेश नहीं रहता उसके अपने अन्दर से उठती हुई अंतर्ध्वनि बन जाता है। आगे चलकर उसे यह भी याद नहीं रहता कि यह उसने अपने माँ बाप या परिवार से सीखा था। वह तो उसे विवेक ही की ध्वनि प्रतीत होती है।

इस तरह छोटी छोटी बातो से लेकर बड़े-से बड़े नीति नियम तक मनुष्य अपने परिवार तथा आसपास के समाज से अपना लेता है और इनका सारा समूह उसका सुपर ईगो या विवेक बनता है, जो उसके प्रवृत्तिपुंज और अहम् के बीच म पहरेदार के समान खडा रहता है और कोई अवांछनीय प्रेरणा उठी तो उसको आगे बढने नहीं देता।

इस तरह 'सुपर-इगो' से उठनेवाले विधि निषेधों के साथ प्रवृत्तियों से उठने वाली



मन कोई जड वस्तु नहीं है कि उसका चित्र बनाया जा सके। फिर भी उसके विभिन्न भागों के परस्पर संबंध बताने के लिए यह चित्र बनाया है। इसमें दिखेगा कि प्रवृत्तिपुंज का कुछ हिस्सा चेतन में है पर अधिक हिस्सा अचेतन में। वैसे सुपर ईगो का भी थोड़ा हिस्सा अचेतन में और बाकी चेतन में है।

प्रेरणाओं की टकराहट होती है—जैसे उस लडकी की कर्तव्य भावना के साथ उसके गुस्से की हुई, या दो प्रेरणाओ में टक्कर होती है तो उसमे वह व्यक्ति मानसिक अशाति अनुभव करता है। कभी-कभी यह मानसिक अस्वस्थता हद दरजे को पहुँच सकती है। उस हालत में व्यक्ति का मानसिक सतुलन तथा शाति वापस लाने के लिए उसमें से नागवार लगनेवाली प्रेरणा अचेतन मे दवायी जाती है। फिर उस मनुष्य को लगता है कि उसके मन मे कोई अवाछित भावना है ही नहीं।

बच्चे का मन वर्तमान को ही पकड सकता है, भूत तथा भविष्यकाल के अधिक विस्तार को पकड नही सकता। उसको भूख लगी और तुरत भोजन नहीं मिला, तो उसे लगता है कि कभी मिलेगा ही नहीं। उसको किसी छोटी-सी चीज को लेकर दु ख होता है, तो लगता है कि बस, दु ख ही दु ख है, उसका कोई अन्त नहीं। इसी प्रकार गुस्सा, भय या प्रेम आदि कोई भी भावना उसमें उठती है तो उसका आवेग उसके सारे अस्तित्व पर छा जाता है।

फिर वह इसीलिए निष्फलता भी बहुत कम सहन कर सकता है। माँ ने उसको किसी काम से रोका, जो वह बहुत चाहता था, तो उसे लगता है कि बस, अब उसे कुछ करने का अवसर मिलेगा ही नहीं। इसलिए उसके मन में निष्फलता के अनुभव के साथ गुस्सा भी अधिक आसानी से उठता है और इन सबमें द्वन्द्व स्वभावतया अधिक तीव्र होता है। और जहाँ द्वन्द्व तीव्र होता है, वहाँ उसके किसी एक बाजू को दबाना या दमन करना भी उतना अधिक सभव होता है।

इस तरह फ्राइड ने यह प्रतिपादित किया कि बचपन मे प्रवृत्तिपुज या इंड् से उठनेवाली बहुत सारी प्रेरणाएँ अवदमित होकर अचेतन मे चली जाती है और इस तरह उसका बडा हिस्सा अचेतन में समा जाता है। उनका मानना था कि यौन-वृत्ति तथा आक्रामक वृत्ति यानी सघर्ष की वृत्ति ही मनुष्य की सबसे जबरदस्त प्रेरणाएँ हैं और उन्हींके नियन्त्रण पर सभ्यता की रचना हुई है। सभ्यता जितनी आगे बढती है, इन दो प्रेरणाओं को उतने ही अधिक काबू में रखने, प्रकट न होने देने की जरूरत होती है। फिर इनको जितना दबाया जाता है, उतनी ही वे अचेतन में चली जाती है। पर वहाँ जाकर वे मिट जाती हों, ऐसा तो नहीं, उनकी ताकत तो पूरी बनी रहती है। इस तरह अचेतन में रहकर वे तरह-तरह से मनुष्य के आचरण को प्रभावित करती रहती हैं।

जैसे, पानी में बहनेवाली किसी लकडी का थोडा-सा भाग ही पानी के ऊपर दिखता है, उसका बहुत अधिक भाग पानी में डूबा रहता है, वैसे ही हमारे मन का अधिकाश भाग अचेतन मे डूबा रहता है। हमारे चेतन मन को प्रतीत होनेवाला अश उसका अत्यन्त ही अल्प अश है। मन की रचना की यह धारणा फ्राइड के आविष्कार के कारण हमें मिलती है।

अचेतन के खेल ११

फ्रायड ने मनोविज्ञान की जो नयी धारा शुरू की, उसमें उन्होंने कई सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। उनके शिष्यों का एक सम्प्रदाय सा बन गया है जो उनके हर सिद्धान्त को अक्षरशः सही मानता है। पर सामान्यतया उनके द्वारा प्रतिपादित चार मुद्दे सर्वमान्य हुए हैं और यह कह सकते हैं कि उनके कारण मनोविज्ञान को नया मोड़ मिला है।

वे चार मुद्दे हैं

१ मानसिक क्रियाओं में कार्यकारण सम्बन्ध

२ अचेतन का महत्त्व,

३ हर मानसिक क्रिया का उद्देश्यमूलक होना और

४ मन के गतिशील तथा विकासात्मक स्वरूप पर भार।

पिछले अध्याय में जो चर्चा की गयी उसमें इनमें से कुछ पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है खास करके मन के विकासात्मक स्वरूप, गतिशीलता तथा उसके अचेतन तत्त्व पर। इस अध्याय में इन मुद्दों की कुछ अधिक चर्चा करेंगे। फ्रायड के सारे सिद्धान्तों की तथा उनको लेकर चलनेवाले वाद विवाद की बारीकियों में उतरने की जरूरत हमें नहीं है। हाँ कुछ मूलभूत सवालों की चर्चा आगे यथास्थान करेंगे।

अचेतन मन किस तरह काम करता है उसका एक उदाहरण हमने पिछले अध्याय में देखा है। फ्रायड ने मानसिक उपचार का जो तरीका अपनाया, उसे 'साइको एनेलिसिस' या मनोविश्लेषण कहा जाता है। उसका मुख्य सिद्धान्त यह है कि दबी हुई भावना प्रकट हो जाय तथा दबी हुई स्मृति लौट आये तो उस मनुष्य को अपनी अवस्था की सच्ची जानकारी मिल जायगी कारण उसकी समझ में आ जायगा। फिर धीरे धीरे अपने आचरण को सुधारने में या उन प्रेरणाओं को या वृत्तियों को जीवन में किस तरह निभाना होगा इसका उपाय करने में उसे मदद दी जा सकेगी। यह भी कोई एकदम नयी बात नहीं है। किसीका पति या बेटा मर जाय या उसी प्रकार का दूसरा दुःख आ जाय तो वह स्त्री कभी कभी जड़वत् बन जाती है। वह रोती भी नहीं है। मन में एक शून्यता अनुभव करती है और जड़वत् रह जाती है। गाँवों के लोग भी जानते हैं और कहते हैं कि वह एक बार जी भरकर रो ले तो फिर ठीक हो जायगी। इसलिए उसे रुलाने की कोशिश करते हैं। इस प्रकार दबी हुई भावना को निकालने की प्रक्रिया को कैथेरसीस (catharsis) कहते हैं। मनोविज्ञान में इसका बड़ा महत्त्व है।

ऐसे मामलों में कारण स्पष्ट होता है, तो उपचार भी आसान होता है।

मानसिक व्याधियों में अधिकतर कब, किस या किन कारणों से क्या हुआ, यह किसी-को ज्ञात नहीं होता। इसीलिए इसको ढूँढ निकालना सहज नहीं होता है।

फ्रायड का तरीका यह है कि डॉक्टर रोगी को शान्त लिटाकर उसे इस बात के लिए प्रोत्साहित करता है कि उसके मन में जो कोई बात आये—भली-बुरी अर्थयुक्त, अर्थहीन सब—वह दिल खोलकर कहता जाय। डॉक्टर उसे सुनता रहता है। उसके पीछे यह मान्यता होती है कि इस प्रक्रिया से उसकी मानसिक विकृति से सम्बन्ध रखनेवाला कोई न कोई शब्द या वाक्य निकल आयेगा। इस प्रकार से कोई शब्द या विचार डॉक्टर को अर्थपूर्ण लगे, तो उस पर वह चर्चा छेड़ता है और चर्चा करते-करते अधिक जानकारी प्राप्त करता है। फिर किसी विषय का ठीक-ठीक पता लग गया तो रोगी को उसका अर्थ समझाता है। इस तरह करते-करते खोयी हुई स्मृति लौट आती है तथा दबी हुई भावना प्रकट होती है। फिर आरोग्य-प्राप्ति का मार्ग खुल जाता है।

प्रथम विश्व-युद्ध में सिपाहियों में कई मानसिक विकृतियाँ पैदा हुईं और इन तरीकों के प्रयोग का अच्छा मौका मिला। उससे आश्चर्यजनक सफलताएँ भी मिलीं। लड़ाई के मैदान में मनुष्य को अति तीव्र तनाव का सामना करना पड़ता है, जैसा प्रसंग साधारण जीवन में विरला ही आता है। वहाँ एक तरफ देश-प्रेम, कर्तव्य-बुद्धि तथा दण्ड-भय, तो दूसरी तरफ आत्म-रक्षा-वृत्ति, परिवार की चिन्ता आदि विपरीत वृत्तियों का जबर्दस्त संघर्ष मन में चलता है। इस संघर्ष से बचने के लिए अचेतन कई तरकीबें निकालता है।

एक सिपाही एक बम के धड़ाके से उछलनेवाली मिट्टी में दब गया और अचेत हो गया। इस दुर्घटना में वह बच तो गया, पर उसके मन में तंग जगहों का जबर्दस्त डर बैठ गया। बन्द कमरे में वह रह नहीं सकता था। लड़ाइ के ट्रैंच—खड्डे—उसे असह्य लगते थे। यहाँ तक कि बाहर बरसनेवाले गोलों की बोछार भी उसके सामने तुच्छ मालूम होती थी। वह बाहर भाग निकलता था। इस विकृति के साथ-साथ उस भयानक विस्फोट की स्मृति उसने खो दी थी। मानसिक उपचार से यह स्मृति लौट आयी। उसे भय का कारण भी पता चल गया और भय छूट गया।

किसी संकट में पड़कर एक व्यक्ति का एक हाथ इस तरह जड़ हो गया कि वह न उसे हिला सकता था, न मुट्ठी बाँध सकता था। पहले तो यह माना गया कि लड़ाई से छूटने के लिए वह बहाना कर रहा है। उसे दण्ड दिया गया। पर आखिर पाया गया कि यह जड़ता बनावटी नहीं है। लड़ाई खत्म होने के बाद वह घर लौटा, तब भी उसकी यही हालत रही। आखिर मानसिक उपचार से मन को जबर्दस्त चोट पहुँचानेवाली उस भयानक विस्फोट की स्मृति लौटी, तो वह आफत भी छूटी। इस प्रकार अचेतन मन मानो उस मनुष्य की इच्छा के खिलाफ ही उसको बचाना चाहता है और उसके लिए कोई भी मौका ढूँढ लेता है। उस सिपाही का हाथ जड़ बन जाने का मतलब यही था कि वह फिर सिपाहीगिरी कर नहीं सकता था। वह अकर्मण्य हो गया।

फ्रायड का एक सिद्धान्त हमने देखा कि हरएक मानसिक क्रिया उद्देश्यमूलक होती है। उनका मानना था कि हमारा अचेतन हमें सतत प्रभावित करता है। हमसे जो गलतियाँ होती हैं, कुछ दुर्घटनाएँ होती हैं, वे भी बेमतलब नहीं होतीं। उनके पीछे भी कोई कारण होता है। इस प्रकार रोजमर्रे के जीवन की गलतियों तथा दुर्घटनाओं का विश्लेषण करके उन्होंने एक किताब लिखी है, उसका नाम है 'साइको पैथोलोजी आफ एव्हरी डे लाइफ'।

अक्सर हम देखते हैं कि हम कुछ कहते-कहते कुछ और ही कह डालते हैं। तो उसमें इस प्रकार अपने मन की छिपी हुई भावना प्रकट होती है। इसका एक उदाहरण मैं अपने अनुभव से दूँ। कुछ साल पहले जब एक प्रसिद्ध नेता का देहान्त हो गया तो वह समाचार सुनते ही मैं कह उठा, 'अच्छा! यह तो अपेक्षित ही था।' नारायणभाई ने बात पकड़ ली और कहा 'क्या तुम यह चाहते थे?' किसीके मन में इस प्रकार के सज्जन महानुभावों के लिए मृत्यु-कामना हो यह कोई आसानी से कबूल नहीं करेगा। कितने कमीनेपन की बात होगी! पर इस प्रकार का कमीनापन अपने में होता है। मैं कभी कभी देश की स्थिति से चिढ़ उठता था तो सोचता था कि यह जो बड़े नेतागण गद्दी पर बैठे हैं ये कब हटेंगे? और कब नौजवान देश की धुरी सँभालेंगे? इस तरह यह इच्छा मेरे उस शब्द में प्रकट हुई।

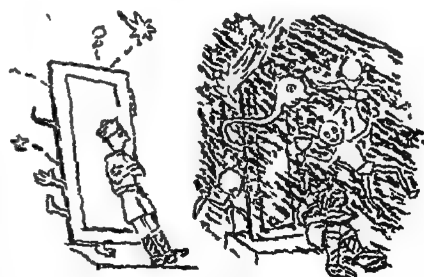
फ्रायड ने एक मजेदार प्रसंग दिया है। जर्मनी में एक अखबार में एक बार वहाँ के युवराज के बारे में खबर निकली कि वे फलाँ जगह गये तो 'क्राउन प्रिन्स' के बदले अखबार में छपा 'क्लाउन प्रिन्स'। उसका अर्थ होता है भाँड राजा। इस छापे की गलती के लिए दूसरे दिन पत्र के सम्पादक ने क्षमा याचना की पर उस क्षमा याचना में यह लिखा था कि 'हमने कल गलती से क्राउन प्रिंस छापा था पर वह असल में क्लाउन प्रिन्स होगा। गलती के लिए क्षमा करें।' फिर वही भूल! फ्रायड कहते हैं यह भूल भी निरी भूल नहीं है। यह अदमित भावों का प्रकाश है। जर्मनी में राज-परिवार की खुलेआम आलोचना नहीं कर सकते थे। इसलिए मन में दबी हुई अनादर भावना इस प्रकार प्रकट हुई।

दुर्घटनाओं के पीछे भी वे अचेतन की साजिश निकालते हैं। उन्होंने एक लड़की की कहानी दी है। वह छुट्टियों में अपने परिवार के साथ एक गाँव गयी थी। वहाँ एक दिन घोड़े की गाड़ी पर घूमने निकली। एक जगह घोड़ा भड़का तो वह गाड़ी से कूद पड़ी और उसकी टाँग टूट गयी। यह एक दुर्घटना थी ऐसा हम मानेंगे। पर फ्रायड नहीं मानते। उसका सिलसिला वे इस तरह जोड़ते हैं। एक दिन शाम को पार्टी में उस लड़की ने एक विशेष प्रकार का नृत्य किया जो उसके पति को अच्छा नहीं लगा और उसने उसको झिड़का कि 'तुम कैसी बेशरम हो, जो इस तरह नाचती हो!' ऐसी प्रकार की दूसरी झिड़कियाँ भी उसने खायी होंगी। तो उसके अचेतन में एक भावना उठी कि 'चलो, ये मुझ पर इतना नाराज हैं तो मुझे कोई दण्ड मिलना चाहिए। टाँग ही टूट जाय तो अच्छा! नाचना ही बन्द हो जाय।' एक दिन शाम

को उसने घूमने जाना चाहा और गाड़ी में इन घोड़ों की जोड़ी जुतवायी जो जरा तूफानी थे। उसकी भतीजी ने साथ जाना चाहा तो उसे लेने का सम्मत नहीं हुई। फिर जरा सा कुछ हुआ, घोड़े भड़के और उत्तेजित होकर वह कूद पड़ी और टाँग टूटी। इस प्रकार अपने खुद के अचेतन की करतूतों के कई उदाहरण उन्होंने दिये हैं।

हम कुछ भूल जाते हैं। किसीका नाम अच्छी तरह जानते हुए भी मौके पर भूल जाते हैं। कोई नाम याद आता है, तो गलत रूप में। इन सबके पीछे भी अचेतन का खेल देखते हैं।

स्वप्नों के अर्थ-निरूपण में भी उनकी बहुत बड़ी देन है। आधुनिक युग में स्वप्नों का व्यवस्थित सिद्धान्त (थिअरी) उन्होंने ही पहले बनाया। उनके अनुसार हमारे अचेतन में दबी हुई इच्छाएँ ही स्वप्न के रूप में निकलती हैं। जैसे मास्टर न होने पर स्कूल के लड़के ऊधम मचाते हैं, वैसे ही मानव का चेतन मन जब सो जाता है, तब अचेतन के इन सारे भूतों को नाचने का मौका मिलता है। पर उस पर भी वे अपने निजी स्वरूप में निकल नहीं सकते। उन्हें छद्मवेष धारण करना पड़ता है। मन में एक प्रक्रिया या व्यवस्था है, जिसे उन्होंने प्रतिहारी (सेन्सर) का नाम दिया है। लड़ाई के जमाने में जैसा एक सेन्सर नियुक्त होता था और अखबारों में क्या छपे, क्या न छपे, यह जाँचकर छापने की इजाजत देता था, वैसे ही यह स्वप्नों को जाँचता है। इस प्रतिहारी का यह काम होता है कि उस व्यक्ति की नींद खराब न हो। इसका अनुभव हममें से हर किसीको होगा। रात को हमें प्यास लगी तो हम स्वप्न देखते हैं कि हमने उठकर पानी पिया। पेशाब की हाजत होती है तो स्वप्न में बार-बार हमें अनुभव होता है कि हम पेशाब कर रहे हैं। आखिर जब हाजत बहुत बढ़ जाती है, तब कहीं नींद टूटती है। इस तरह इच्छा पूरी करना स्वप्न का उद्देश्य होता है। हम कहीं जाना चाहते थे, पर जा नहीं सके, टेस्ट मैच देखने की बड़ी इच्छा थी, पर मौका नहीं मिला, तो स्वप्न में हमारी ये इच्छाएँ पूरी हो जाती हैं। बच्चे अक्सर इस प्रकार सीधी सादी इच्छाओं की पूर्ति के स्वप्न देखते हैं। पर जब हमारी कोई प्रेरणा या इच्छा हमें इतनी अभद्र या अरुचिकर लगती है कि हम उसका अस्तित्व ही स्वीकार करने को तैयार नहीं होते,



अचेतन की अँधेरी कोठरी

जब संतरी सो जाता है, तब भूतों का नाच चलता है।

यानी उसे अचेतन में ढकेल देते हैं, तो वह मौका पाकर स्वप्न के रूप में निकलती है। मान लीजिए, किसी स्त्री के प्रति मेरा आकर्षण हो गया, जिसे मैं अत्यन्त अनैतिक

समझता हूँ। मुझे यह महसूस ही नहीं होता कि मन में ऐसी भावनाएँ उठें, तो फिर यह भावना अचेतन में दबेगी और मौका पर स्वप्न में निकलेगी। लेकिन कभी मैं स्वप्न में उस स्त्री को या उससे सम्बद्ध किसी इच्छित प्रसंग को सीधे सादे रूप में नहीं देखूँगा। उसका रूप इस प्रकार बदला हुआ होगा कि मैं उसे पहचान ही नहीं सकूँगा। स्वप्न में देखा हुआ सारा प्रसंग बिलकुल निरर्थक ही प्रतीत होगा। पर मनोविश्लेषण में जिस मुक्त चिन्तन का या मन में जो कुछ आये वह कह डालने का तरीका (फ्री असोसिएशन) अपनाया जाता है उसीके प्रयोग से स्वप्नों के असली माने की जानकारी मिल सकती है।

अचेतन में सिर्फ दबी हुई प्रेरणाओं का खेल चलता है ऐसी बात नहीं उसमें सृजनात्मक चिन्तन भी चलता है, इसके कई सबूत हैं। 'केकुले' नामक एक रसायनविद् बेनजीन की आणविक रचना के बारे में सोचते हुए आग के सामने बैठे थे। थोड़ी देर के लिए वे ऊँघने लगे। वे लिखते हैं, मैंने देखा कि आँखों के सामने अणु उड़ रहे हैं। वे साँपों की तरह हिल रहे थे, घूम रहे थे। अरे! देखो! यह क्या! एक साँप ने अपनी दुम को अपने मुँह में पकड़ लिया और मेरे सामने गोल गोल घूमने लगा। मानो बिजली की झलक मैंने देखी हो, इस तरह मैं जाग उठा और रातभर उस प्रकल्प को लेकर गणना करता रहा। इस तरह बेनजीन के मॉलीक्युल की वृत्ताकार रचना का आविष्कार हुआ।

ओटो लोवी नाम के दूसरे वैज्ञानिक को भी यह विलक्षण प्रकल्प स्वप्न में ही सूझा कि स्नायुओं के द्वारा जो समाचार आते जाते हैं उनका माध्यम एक रासायनिक प्रक्रिया होती है। स्वप्न में यह सूझते ही वे जाग उठे और इस सूझ को लिख लिया। दूसरे दिन वे उस लेखन को पढ़ नहीं सके। फिर दूसरी रात को उन्होंने वही स्वप्न देखा। अबकी बार वह उनकी पकड़ में आ गया।

गांधीजी के जीवन में भी इस प्रकार की सूझ के कई उदाहरण हैं। रौलट-कानून के खिलाफ क्या करना चाहिए, यह सोचते हुए रात को सो गये और बड़ी भोर अर्ध जाग्रत स्थिति में अन्दर से सुनाई दिया—'हड़ताल करो'।

किसी सवाल को लेकर सोच-विचार करने के बाद उसके बारे में सोचना छोड़कर दिमाग को फारिग रखते हैं तो अचेतन के स्तर पर वह चिंतन चलता रहता है। शाम को सोचकर छोड़ दिया तो रात को नींद के समय अचेतन में वह चिंतन चलता रहता है। फिर या तो स्वप्न में या नींद से जागने के बाद सवाल का हल प्रकट होता है। विनोबाजी ने इसकी तुलना मिट्टी में बीज से अंकुर उगने के साथ की है। मिट्टी में बीज डालकर उसे मिट्टी से ढँक देते हैं तो मिट्टी के नीचे उसमें परिवर्तन की प्रक्रियाएँ चलती रहती हैं। फिर एक दिन मिट्टी फोड़कर अंकुर निकल आता है।

पर अचेतन से गलत चीजें भी निकलती हैं। कुछ दिन पहले एक समाचार छपा था कि एक आदिवासी ने अपने बेटे की हत्या की और उसका कारण बताया गया कि देवता ने उसे दर्शन दिया और अपने बेटे की बलि चढ़ाने का आदेश दिया।

स्विट्जरलैण्ड में भी टमास् शुकर नाम के एक धार्मिक पुरुष ने कई लोगों के सामने अपने भाई का सिर काट डाला था। उसने भी यही देवता के आदेश का कारण बताया था। स्वप्नों की तरह ही मन की तीव्र भावना की या थकावट की स्थिति में भी इस प्रकार की भ्रान्ति का दर्शन होता है। कभी कभी अन्तर्वाणी भी सुनाई देती है। मन में देवता के बारे में, उसके दर्शन देने के बारे में जो धारणाएँ और कल्पनाएँ होती हैं, उसके साथ अवदमित द्वेष आदि भावना के सम्मिश्रण से इस प्रकार का दृष्टिभ्रम या 'अन्तर्वाणी' पैदा होती है। इसलिए 'दर्शन' या 'अन्तर्वाणी' में जो धोखे की सम्भावना है, उसके प्रति जाग्रत रहना चाहिए। जाँच कर लेनी चाहिए कि अपने अचेतन में जो बहुत सारा कूड़ा-करकट जमा है, यह उसमें उठनेवाला भ्रम ही तो नहीं है? ख्याल रखना चाहिए कि वैज्ञानिक अपने अचेतन की सूझ को बिना माने मान नहीं लेते, उसे वैज्ञानिक तर्क की कसौटी पर अच्छी तरह परखते हैं।

इस तरह हमारे जीवन में जो अर्थहीन हरकत, गलतियाँ, विस्मृतियाँ और स्वप्न होते हैं, वे भी असल में अर्थहीन नहीं हैं, बल्कि अपने अचेतन में चलनेवाली प्रक्रियाओं की ही अभिव्यक्ति है। यह फ्रायड का एक महत्त्वपूर्ण प्रतिपादन है। इन छोटी छोटी चीजों के अध्ययन से हमारे अचेतन में चलनेवाली क्रियाओं की जानकारी हमें मिल सकती है और इस तरह हम अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान सकते हैं। आत्मज्ञान का यह पहला कदम हो सकता है।

०

मन का आत्मरक्षा-तन्त्र : १२ :

ईसप की कहानी में हम सबने उस लोमड़ी के बारे में पढ़ा है जो अंगूर के खेत में गयी थी और पके हुए अंगूरों के गुच्छे देखकर खाने की लालच से कूदकर वहाँ तक पहुँचने की कोशिश की थी। जब उसको इसमें सफलता नहीं मिली, तब वह यह कहकर वहाँ से चल दी कि 'अरे, ये अंगूर तो खट्टे ही हैं।'

दूसरे लोगों के सामने अपना मुँह बचाने के लिए हम अक्सर इस प्रकार की बनावटी दलील ढूँढ निकालते हैं।

बहुत दिन पहले केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल के एक सदस्य को कुछ भ्रष्टाचार के आरोप के कारण इस्तीफा देना पड़ा, तो उन्होंने अखबार में एक लेख में लिखा कि मैंने तो जिन्दगीभर सत्ता के बिना ही सेवा की है। यह सत्ता तो बस चन्द साल ही आयी थी। अब वह नहीं रही तो कोई बड़ा फरक हुआ, ऐसा किसीको नहीं सोचना चाहिए इत्यादि। सब जानते थे कि उनको सत्ता की बड़ी आकांक्षा थी और इस प्रकरण के बाद भी रही।

पर लोमड़ी ने तो अपना ही दिल बहलाने के लिए ऐसा कहा था। दूसरों के

सामने मुँह बचाने के लिए तो लोग अक्सर जान बूझकर ही बनावटी दलील देते है कई कारणों से झूठ बोलते है। पर अपने मनबहलाव के लिए तथा कभी कभी दूसरों के लिए भी इस प्रकार की बनावटी दलील अनजाने ही हमारे अचेतन में से पैदा हो सकती है।

सम्मोहन क्रिया का उल्लेख पहले आया है। किसी व्यक्ति को सम्मोहित करके सम्मोहनकर्ता उसे कुछ आदेश देता है तो वह मानता है, वह आदेश कितना भी अयुक्त और असंगत क्यों न हो तथा उससे उस व्यक्ति की हँसी भी क्यों न होती हो। अब इस स्थिति में उसे आदेश दिया जाय कि तुम दो घण्टे या चार घण्टे के बाद कमरे की खिड़कियों को खोल दोगे या मेज पर कुर्सी रखकर उस पर चढ़ोगे तो वह जरूर उस समय पर वह काम करेगा। तब तो उसका सम्मोहन छूट गया होगा और उसे यह याद नहीं रहेगा कि उसे सम्मोहित करके यह आदेश दिया गया था। पर निश्चित समय पर उसके अचेतन में से वह आदेश उसको प्रेरणा देगा वह एक बेचैनी महसूस करेगा और वह काम करके ही रहेगा। पर ऐसा क्यों किया, इसका कोई कारण तो मालूम होना चाहिए? कोई पूछेगा तो वह शायद यही कारण बतायेगा कि कमरे में ज्यादा गर्मी हो रही है या छत से लटके बिजली के पंखे की जाँच करनी चाहिए। जो पहले की बात जानते होंगे, उनको यह स्पष्ट ही मालूम होगा कि उस काम का असली कारण तो सम्मोहित अवस्था का आदेश ही है। पर वह तो अपने दिये हुए कारण को ही सच मानता रहेगा।

हमारे मन में एक प्रक्रिया या तन्त्र होता है जो हमको तनाव और दुःख से बचाना चाहता है और हमारे आत्मसम्मान को या अपने बारे में अपनी अच्छी धारणा को अखण्डित रखने का काम करता है। इस तन्त्र को 'आत्मरक्षा तन्त्र' या डिफेन्स मेकानिज्म कहते है। यह अचेतन में ही काम करता है। इसकी कई प्रक्रियाएँ होती हैं। ऊपर के उदाहरणों की प्रक्रिया को तर्काभास निर्माण या रेशनालाइजेशन कहा जाता है।

सम्मोहनवाले उदाहरण में अचेतन में प्रेरणा बाहर से आरोपित हुई थी। पर अक्सर हमारे अचेतन में से उठनेवाली प्रेरणा के वश होकर हम जो काम करते हैं उसके ऊपरी कारण के तौर पर तर्काभास निर्माण करते हैं।

एक आश्रम में एक लड़का था जो शहर में लोक सम्पर्क का काम करता था। अक्सर यह देखने को मिलता कि जिस दिन उसकी रसोई की बारी होती थी उसी दिन उसी समय उसे शहर में कोई बहुत जरूरी काम याद आता था। इसको लेकर वह बहुत उत्तेजित होकर झगड़ता भी था। दूसरे साथी कहते थे कि यह झूठा बहाना बना रहा है। पर यह बहाना नहीं था वह सचमुच ऐसा मानता था। असल में रसोई के काम के लिए पुरुषों के मन में अवज्ञा होती है। उसीके कारण ऐसा होता था। इस प्रकार के पचासों प्रसंग हमारे जीवन में आते हैं जहाँ दूसरे के उद्देश्य के बारे में शक किया जाता है—झूठ या बहाने का आरोप किया जाता है और उसका

लेकर झगड़े भी होते हैं। इन प्रसंगों में यह समझना चाहिए कि जिस व्यक्ति पर सताने का आरोप किया जाता है, वह खुद अपने को प्रामाणिक मानता है। जब तक उसको अपनी इस स्थिति का भान न हो, तब तक आरोप-प्रत्यारोप में झगड़े का अन्त असम्भव है।

आत्मरक्षा की दूसरी पद्धति है प्रक्षेपण या आरोपण। जो अपने में है, उसे बाहर देखना। वैसे इस चीज को चिन्तकों ने, दार्शनिकों ने पहले भी पहचाना था। 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे।' गीता प्रवचन में विनोबाजी ने रामदास स्वामी के रामायण लिखने की रोचक कहानी का वर्णन किया है। रामदास स्वामी ने लिखा था कि हनुमानजी लंका में गये और वहाँ उन्होंने सफेद फूल देखे। यह सुनकर श्रोताओं में बैठे हुए हनुमानजी तुरन्त प्रकट हो गये और बोले कि यह गलत है, मैंने लाल फूल देखे। यह झगड़ा ठेठ रामचन्द्रजी के पास गया। उन्होंने फैसला दिया कि असल में फूल तो सफेद ही थे, पर हनुमान्‌जी की आँखें गुस्से में लाल हो गयी थीं, इसलिए उन्हें वे लाल दिखाई दिये।

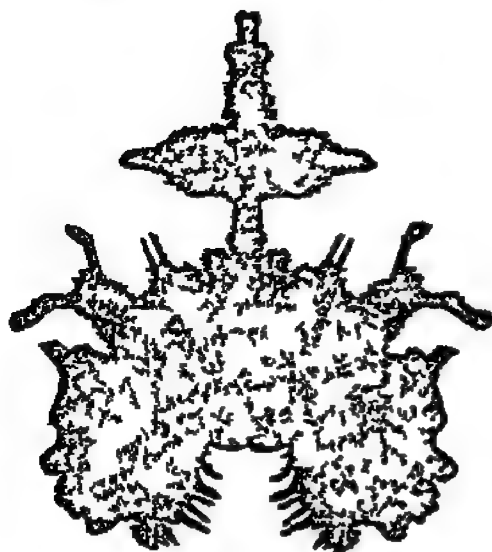
ठीक है कि किसीकी आँखें गुस्से में लाल हों, तो उसे फूल सफेद नहीं, लाल दिखाई देंगे। यह तो कवि कल्पना है। पर उसमें आरोपण के तथ्य की तरफ जो इशारा है, वह यथार्थ है।

बच्चे अक्सर अँधेरे से डरते हैं, अनजाने मनुष्य से डरते हैं, जहाँ भय का कोई कारण न हो, वहाँ भी उन्हें भय लगता है। कुछ भय तो बड़े लोग उनको जान-बूझकर सिखाते हैं। कुछ तो आकस्मिक समावेश (असोसिएशन) के कारण बनते हैं। पर कुछ बच्चों में एक विशेष प्रकार की भीरुता पायी जाती है, जो इन वर्गों में नहीं आती। यह भय मानसिक द्वन्द्व का परिणाम होता है। मन में प्रेम तथा द्वेष के बीच द्वन्द्व चलता हो, द्वेष-भाव के लिए वह अपने को अपराधी समझता हो और द्वेष दब गया हो, तो उसके कारण अन्दर से वह एक तनाव, उद्वेग अनुभव करेगा। पर इस उद्वेग का कारण उसके ही अन्दर होते हुए भी वह उसे बाहर देखता है। कुत्ता, गाय या अजनबी मनुष्य से जितना स्वाभाविक संकोच होना चाहिए, उससे कहीं ज्यादा अधिक, अनुचित भय का उसे अनुभव होगा। काल्पनिक 'हाउ' या जानवर उसे जहाँ तहाँ दीखेंगे। किसी बच्चे में इस प्रकार की भीरुता हो, तो समझना चाहिए कि उसके मन में जबर्दस्त द्वन्द्व चल रहा है और उसको उससे मुक्त करने का उपाय सोचना चाहिए।

अपना दोष दूसरों पर लादना भी इसका एक स्वरूप है। हममें जो दोष होता है, वही हमें उनमें दिखाई देता है। इसकी वैज्ञानिक छानबीन भी की गयी है। एक विश्वविद्यालय में ९७ विद्यार्थियों पर प्रयोग किया गया। कंजूसी, जिद, अव्यवस्थितता तथा दब्बूपन—ये चार दुर्गुण अपने में तथा दूसरों में किस मात्रा में हैं, यह आँकने के लिए उन्हें कहा गया। इनमें से कोई न कोई दोष कम बेशी मात्रा में, हरएक में तो था ही। उन विद्यार्थियों ने अपने बारे में जो राय जाहिर की, उससे पता चला कि

कुछ को अपने स्वभाव की ठीक ठीक जानकारी है, कुछ को नहीं है। जिनको अपने स्वभाव का कम पता था उन्होंने अपने में जो दुर्गुण थे उन्हें दूसरों में ज्यादा देखा।

हम सबमें यह गुण थोड़ा बहुत है पर कुछ लोगों में अधिक मात्रा में दीखता है। किसीको सारे लोग कंजूस ही कंजूस दिखाई देते हैं, किसीको लगता है कि हर कोई उसके खिलाफ कोई षड्यन्त्र रच रहा है। ये सारे अपने मन के दोषों के ही आरोप होते हैं। इस प्रकार आरोप की प्रक्रिया इतनी व्यापक है कि इसके आधार पर मनुष्य के मानसिक भाव को पहचानने के लिए कुछ जाँच या टेस्ट के तरीके आजकल आम उपयोग में लाये जाते हैं। उसमें एक है रोर्सेक (Rorsach) के स्याही के धब्बे का तरीका। कागज पर थोड़ी स्याही छिड़ककर कागज को बीच से तह किया जाय तो खुलने पर एक प्रतिसम (Symmetrical) आकृति बनेगी। इसको किसीको बताकर पूछा जाय कि इसमें क्या दीखता है तो जैसे बादलों में हाथी घोड़ा आदि की आकृतियों की कल्पना हम करते हैं वैसे इसमें भी किसीकी आकृति की कल्पना वह करेगा तो इस पर से उसके मानस के भावों का पता चल सकता है।



रोर्सक स्याही का धब्बा



दूसरा है थैमाटिक आप्परसेप्शन टेस्ट। इसमें कुछ चित्र बनाये जाते हैं जिनमें कुछ मनुष्य हों और जिनके कई अर्थ निकल सकते हों। उस प्रकार के एक चित्र पर जाँचे जानेवाले व्यक्ति को एक कहानी बनाने को कहा जाता है। इस कहानी में वह चित्र के मनुष्यों में किस प्रकार के सम्बन्ध का आरोप करता है इस पर से उसकी मानसिक स्थिति का पता चलता है।

एक और तरीका है—कुछ शब्दों से एक वाक्य बनाने को कहना। मान लीजिए, ये शब्द दिये गये। राम। हमीद। ने। को। छीन लिया। भेट दी। घड़ी।

इनसे चार वाक्य बन सकते हैं

१ राम ने हमीद से घड़ी छीन ली
२ हमीद ने राम से घड़ी छीन ली
३ हमीद ने राम को घड़ी भेट दी
४ राम ने हमीद को घड़ी भेट दी

कोई इनमे से दूसरा वाक्य बनाता है, तो उससे यह पता चलेगा कि उसके मन मे आक्रामक भाव का जोर है, इसलिए वह भेट के बदले छीनना चुनता है। फिर उसके मन में मुसल्मानों के बारे में द्वेष हो सकता है, जिससे उसने हमीद को छीननेवाला बनाया। इस प्रकार के एक सवाल से ही नहीं, पर कई सवालों की एक मालिका के द्वारा किसी व्यक्ति के मनोभाव के बारे मे बहुत सारी जानकारी मिल सकती है।

'समरसता' (आइडेण्टीफिकेशन) एक और उपाय है, जिससे यह आत्मरक्षा का काम सधता है। मनुष्यों मे, खासकर बच्चों में, दूसरे को आदर्श मानने, उसके साथ खुद को एकरूप देखने तथा उसका अनुकरण करने की वृत्ति होती है। इससे बच्चा सीखता है। पर इसी वृत्ति का उपयोग निष्फलता को ढँकने मे भी होता है। उड़िया में एक कहावत है—'मेरे मूँछ नहीं तो क्या हुआ ? देखो, माधोभाई की कितनी बड़ी मूँछे हैं !' हम हिन्दुस्तानी आज की पुरुषार्थहीनता के लाछन से छूटने के लिए अपने पूर्वजों की महान् कीर्तियों का आसरा लेते हैं। कहानी, उपन्यास आदि के नायकों के साथ अपने को समरस करके उनकी सफलता तथा सुख-दुःख का स्वाद खुद चखते है।

चौथा परिणाम है 'प्रतिक्रियात्मक आचरण'। माँ के मन मे अपने बच्चे के लिए प्रेम होता है, पर कठिनाई में पड़ने पर गुस्सा भी आता है और द्वेष भी पैदा होता है। फूहड स्त्रियाँ अपने बच्चों को कोसती हैं कि तू मर, यह मर जाय तो मेरा पिण्ड छूटे आदि। पर जिसको सभ्यता का भान है, वह अपने मे इस प्रकार के भाव का होना अत्यन्त गर्हित समझेगी और उसको दबायेगी। उसके प्रतिक्रियास्वरूप उसमें बच्चे के लिए अत्यधिक भय मिश्रित चिन्ता होगी। वह उसे जरूरत से ज्यादा लाड-प्यार करेगी, उसको अधिक खिलाने की कोशिश करेगी, कष्ट तथा कठिनाइयों से मानो रुई में लपेटकर सुरक्षित रखना चाहेगी।

किसीके प्रति हमारे मन मे आदर है तथा हम उन्हे आदरणीय मानते हैं, फिर भी उनके प्रति किसी कारणवश थोड़ा-सा अनादर या विरोध पैदा हो, तो उसके प्रतिक्रियास्वरूप हम उन्हें अत्यधिक आदर दिखाने लगते हैं। 'अति विनय धूर्त का लक्षण है' इस कहावत मे इस प्रक्रिया की पहचान है।

'अवदमन' या 'रिप्रेशन' से हमारे मन मे द्वन्द्व मचानेवाली दो भावनाओं में से एक अचेतन के गह्वर में दब जाती है। यह पाँचवाँ 'डिफेन्स मेकेनिज्म' है। इसकी चर्चा पहले कई बार आ चुकी है। लड़ाई के समय ऐसी कई घटनाएँ घटी हैं, जब कोई

सिपाही बम या गोले के विस्फोट से भयभीत होकर कहीं भाग गया और साथ-साथ उसके पिछले जीवन की सारी स्मृति ही लुप्त हो गयी। उसके मन में एक तरफ कर्तव्य भावना तथा दूसरी तरफ आत्मरक्षा की प्रेरणा में चलनेवाले द्वन्द्व का अवसान उसके अचेतन मन ने इस तरकीब से किया। सारा पिछला जीवन ही याद न रहा तो फिर कहाँ युद्ध और कहाँ कर्तव्य भावना? इसी तरह किसी विशेष प्रसंग को भी भुला दिया जा सकता है। पर अक्सर इससे ही विस्मरण या अवदमन पूर्ण होता नहीं है। जैसे सम्मोहन के उदाहरण के सिलसिले में हमने देखा कि कोई विचार या स्मृति अचेतन में रहते हुए हमारे चेतन आचरण को प्रभावित करती है यहाँ भी अक्सर वैसा होता है। आक्षेप (प्रोजेक्शन) प्रतिक्रियात्मक आचरण (रिएक्शन फार्मेशन) तथा तर्काभास निर्माण (रैशनालाइजेशन) के पीछे थोड़ा-बहुत अवदमन होता ही है।

इसका एक और स्वरूप है—'विच्छिन्नीकरण' (डिसोसिएशन)। इससे अमुक भावना तथा उससे सम्बद्ध प्रसंग की स्मृति तो अवदमित हो जाती है पर उससे सम्बन्ध रखनेवाला कुछ आचरण प्रतीकरूप से होता रहता है। अक्सर ऐसे लोग पाये जाते हैं जिनकी बार-बार हाथ-पैर धोने की या स्नान करने की आदत होती है। अशुचिता के स्पर्श से वे बचना चाहते हैं। यह अपने मन में अवदमित किसी कार्य का या भावना का परिणाम होता है। किसीने कोई यौन आचरण किया हो और उसकी अपनी दृष्टि में वह उसे अति गर्हित पाप लगा हो या सिर्फ मन में इस प्रकार अत्यन्त गर्हित मालूम होनेवाली भावना उठती हो तो ऐसा हो सकता है कि उस प्रसंग या भावना को वह भूल जाय और उसके स्थान पर वह पाप-क्षालन की कोशिश के रूप में वह हाथ-पैर धोने की असाध्य प्रेरणा उसको होती रहे। किसी दूसरे पाप-बोध के कारण भी यह हो सकता है। किसीको अमुक चीज देखने की इच्छा हुई जो देखना वह भद्रता या शालीनता के खिलाफ मानता है, तो इस कुतूहल तथा शालीनता-बोध के द्वन्द्व में उसकी वह इच्छा तथा उसकी स्मृति अचेतन में दब गयी पर आँखों की एक फड़फड़ाहट में उसका अवशेष रह गया और उस इच्छा के प्रतीक के तौर पर आँख की यह आदत बन गयी जिसको वह लाख चाहने पर भी रोक या मिटा नहीं सकता।

सातवीं प्रक्रिया है 'लक्ष्य परिवर्तन'। जिस अभिलाषा की पूर्ति नहीं हो सकती उसे छोड़कर मनुष्य उसके स्थान पर दूसरी इच्छा अपना सकता है। जहाँ किसी अभिलाषा का सम्बन्ध किसी गहरी वृत्ति से है वहाँ सामान्यतया दो प्रकार से यह परिवर्तन सध सकता है—एक सब्लीमेशन तथा दूसरा 'कॉम्पेन्सेशन' (परिपूरक आचरण) से।

सब्लीमेशन की चर्चा हम यौन प्रेरणा के सन्दर्भ में कर चुके हैं। परिपूरक आचरण से मनुष्य एक दिशा में अपनी असफलता की पूर्ति दूसरी दिशा में अधिक प्रयत्न तथा साफल्य के द्वारा करता है। जैसे अन्धे की दृष्टि शक्ति के अभाव में श्रवण शक्ति

अधिक तीव्र होती है। कुछ मानसशास्त्री बताते हैं कि नेपोलियन, हिटलर, स्तालिन तथा मुसोलिनी नाटे थे और उस नाटेपन के कारण उनकी सत्ता की प्रबल आकांक्षा को पुष्टि मिली है। यानी नाटेपन के कारण उनमें जो 'न्यूनता वृत्ति' आयी, उसको मिटाने के लिए वे अपार सत्ता प्राप्त करने के प्रयत्न में पड़े।

इन आत्मरक्षा की व्यवस्थाओं में से तो अधिकांश हर किसीमें कुछ न कुछ अंश में काम करती ही हैं। पर सब्लीमेशन तथा कॉम्पेन्सेशन को छोड़कर बाकी के सारे गुण निष्फलता की व्यर्थता से मानस को सुरक्षित करने का ही काम करते हैं और यह सुरक्षा एक प्रकार की 'आत्म-वंचना' यानी खुद को धोखा देना ही होता है। उससे मनुष्य उस समय के लिए तो मानसिक द्वन्द्व, निष्फलता या असम्मान से बच जाता है, पर वस्तुस्थिति को ठीक-ठीक समझ करके उसका सफल हल निकालना सम्भव नहीं होता। इनसे बचने का उपाय यह है कि हम अपने मानस के इस आत्मरक्षा-तंत्र को समझें, सतर्क रहें तथा द्वन्द्व, निष्फलता आदि सहन करने की अपनी शक्ति भी बढ़ायें।

हम जिसको सामान्य स्वस्थ मनुष्य कहेंगे, उसमें कुछ थोड़ी-सी खाँसी या जुकाम, खुजली या सिर दर्द हो सकता है, हम उसकी गिनती नहीं करते। पर वही खाँसी या खुजली थोड़ी-सी बढ़ जाती है तो एक हद के बाद उसे बीमार मानना पड़ता है। वैसे ही सामान्य स्वस्थ मनुष्य के मानस में थोड़ी-सी आरोप-वृत्ति, तर्काभास-निर्माण की वृत्ति, विच्छिन्नीकरण के कारण बनी अर्थहीन आदत आदि हों तो हम उतने का खयाल करते नहीं हैं। हममें से हर कोई थोड़ा-बहुत लड़ता-झगड़ता है, गुस्सा करता है या किसी-किसीका अविश्वास की दृष्टि से देखता है। इसे हम स्वाभाविक मानते हैं। पर कोई हमेशा झगड़ने लगता है, हर किसीका सन्देह की दृष्टि से देखता है, पचासों बार हाथ पैर धोता या कपड़ा बदलता रहता है, तो फिर हम उसे अस्वाभाविक मानने लगते हैं।

स्वास्थ्य में शरीर की क्रियाएँ अपने आप चलती रहती हैं और वह बिगड़ने पर ही उसके चलने के नियम या संगठन के बारे में हमें जानकारी मिलती है। थोड़ी-सी खाँसी की हम अवहेलना करते हैं, पर अधिक होने पर उसका इलाज ढूँढ़ते हैं और इलाज हाथ लग गया तो थोड़ी-सी खाँसी का भी उपचार कर लेते हैं। उसको आगे सहन नहीं करते। वैसे ही मानसिक विकृति के बारे में है। अधिक विकृतावस्था का कारण तथा प्रतिकार का उपाय हमें मिल गया तो जिस स्थिति को हम स्वाभाविक मानते थे, उसकी छोटी विकृतियाँ हमें दिखाई देती हैं।

कोई हमेशा सन्देहशील है और उस सन्देहशीलता का कारण तथा प्रतिकार का उपाय हमें मालूम हो जायगा तो अपने में जिस सन्देहशीलता को हम स्वाभाविक या आवश्यक भी मान बैठे हैं, उसको भी विकृति के रूप में पहचानेंगे और मिटाने का प्रयत्न करेंगे। इस तरह विकृतियों के अध्ययन से ही स्वस्थ प्रकृति के बारे में ज्ञान बढ़ता है और उसकी सीमा निश्चित होती जाती है।

मानसिक विकार तथा बचपन के अनुभव १२

हमारे एक मित्र हैं जिन पर यह खब्त सवार है कि चूँकि वे कम्युनिस्ट हैं, इसलिए अमेरिका की गुप्त पुलिस उनको सताने की कोशिश करती है। वे जेल में थे तो उनके सतरें केले ऊधमी लड़के खा जाते थे। पर उनका मानना था कि अमेरिकी पुलिस ही उनको वैसा करने के लिए प्रेरित करती थी। एक बार उन्होंने एक डेक चेयर मँगवाया तो उसका कपड़ा छोटा पड़ा। उनको पूरा यकीन हो गया कि यह अमेरिकी गुप्त पुलिस की करतूत है। उनकी शादी इसलिए नहीं हो सकी थी कि जिस किसी स्त्री से वे शादी करना चाहते थे, उसको भी पुलिस बहका देती थी।

एक सज्जन थे जिनको रास्ते पर चलते समय बार-बार मुड़कर पीछे ताकने की आदत थी मानो कोई उनका पीछा कर रहा हो। पीछे से कोई जोर से चिल्लाता, तो वे हर कदम पर पीछे देखते हुए दौड़ने लगते। इससे लड़कों को मजा आता और उनको सड़क पर देखते ही वे चिल्लाकर उनको तंग करते। ये दोनों ही मानसिक विकार के प्रकार हैं, जिनको हम कहते हैं कि 'उनके दिमाग का कोई पेच ढीला है। एक के मन में एक प्रकार का युक्तिहीन सन्देह तथा बद्धमूल धारणा है, दूसरे के मन में अकारण भय। स्पष्ट है कि इससे उनकी बुद्धि तथा कार्यशक्ति खंडित होती है। दुनिया जैसी है उनको वैसी दिखाई नहीं देती। सन्देही मनुष्य हर परिस्थिति के पीछे एक ही मनगढ़न्त कारण देखता है और इसीलिए उनके सामने एक ही प्रकार के अवास्तविक ढंग से आचरण करता है। उसमें एक प्रकार की जड़ता (रिजिडिटी) आती है। बुद्धि का लचीलापन घट जाता है।

एक और सज्जन थे जिनको अस्वाभाविक शुचिता बोध था। किसी चीज को वे हाथ से छूते नहीं थे। छूना पड़ा तो बार बार हाथ धोते थे। उनके घर की किसी चीज को और कोई छूता, तो उनको सहन नहीं होता था। बार बार नहाते थे पैर धोते थे। इसके कारण भी जीवन किस प्रकार दूभर बनता है यह स्पष्ट ही है।

एक जवान लड़का था जिसके हाथ से अक्सर बर्तन गिरते थे। हर किसीके हाथ से कभी न कभी कोई सामान गिरता है। पर आश्रम के सारे लोगों के हाथ से वर्षों में जितने न गिरे हों उसके हाथ से कुछ महीनों में उतने गिरे, तो उसको अस्वाभाविक समझना चाहिए। इस प्रकार के अनेक लोगों की मानसिक जाँच से मालूम हुआ है कि इस तरह से सामान गिराना या खो देना भी मानसिक विकार का लक्षण है।

लोगों को तुतलाने की आदत होती है। अच्छे घराने के लोगों को चुराने की आदत होती है। कुछ लोग अधिक बकवादी होते हैं कुछ बेहद शरमीले। कोई अत्यन्त डरपोक होता है, तो किसीके दुःसाहसों के पीछे समझदारी का अभाव दिखता है।

जिद्दीपन तो कइयों में होता है जो आदर्श निष्ठा या विचार निष्ठा से भिन्न होता है क्योंकि उसमें दूसरे को समझने समझाने का माद्दा नहीं होता।

इस प्रकार की मानसिक विकृतियों के प्रकार अनगिनत हैं। पूर्व के अध्यायों में दूसरे प्रसगों में हमने इनके कुछ और उदाहरण देखे हैं। मनोविज्ञान में इस प्रकार की विकृतियों को न्युरासिस या विक्षिप्तता कहा जाता है। इन सबके कारण मनुष्य की मानसिक शक्ति कुंठित होती है। जीवन में समाधान का अभाव होता है। इसलिए इनसे बचने का उपाय बड़े महत्त्व का है।

पहले के अध्यायों में अचेतन मन, निष्फलता तथा मानसिक आत्मरक्षा-तन्त्र के बारे में विवेचन करते हुए हमने देखा है कि मन में द्वन्द्व के कारण भावनाओं तथा स्मृतियों का अवदमन होता है और उसके कारण फिर विकृति पैदा होती है, जिसको हमने अब विक्षिप्तता कहा। हमने यह भी देखा है कि बचपन में मन की द्वन्द्व या निष्फलता सहन करने की शक्ति कम होती है, इनको शिशु या बालक अत्यन्त तीव्र रूप से महसूस करता है और परिणामस्वरूप अवदमन अधिक होता है। यों कहा गया है कि बचपन में ही सारी विकृतियों का बीज बोया जाता है। इसलिए बचपन के अनुभव अत्यन्त महत्त्व के होते हैं और उस समय के पालन पोषण के तरीके भी।

बचपन से लेकर मन के विकास के बारे में बहुत कुछ खोज की गयी है तथा तरह-तरह की थियोरी या सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है। जैसे फ्रायड ने यौन-वृत्ति के विकास को ही मानसिक विकास का मुख्य अंग माना है। उनका कहना है कि सामान्य मान्यता है कि यौन प्रेरणा का अन्तर्भाव यौवन में होता है, पर वास्तव में वैसा नहीं है। उसका अस्तित्व तो जन्म से ही होता है। यह बात बहुत लोगों को भद्दी लगती है। शिशु तो निष्पाप समझा जाता है, उसमें यौन-प्रेरणा का आरोप कैसे? पर इससे घबराने की जरूरत नहीं। स्तनपान में, मल मूत्र-त्याग में तथा शारीरिक स्पर्श में जो आनन्द या समाधान मिलता है, उसको फ्रायड यौन-अनुभव मानते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि वे 'यौन-वृत्ति' शब्द का उपयोग सामान्य अर्थ में करते नहीं हैं। 'दैहिक सुखानुभव' के अर्थ में करते हैं। अतः बच्चे को दैहिक सुखानुभव की जो चाह होती है, वह कोई घबड़ाने की बात नहीं है।

डॉ० आयन सट्टी, कारेन हरने, एरिक फ्रम आदि ने यौन-वृत्ति को गौण स्थान दिया है और बच्चे की प्रेम तथा सुरक्षा की चाह को अधिक महत्त्व दिया है। इनके अनुसार बच्चे को प्यार तथा सुरक्षा का अनुभव न हो, तो उसके मन में उद्वेग पैदा होता है और फिर द्वन्द्व। शब्दों का अलग-अलग अर्थों में उपयोग होता है। इसलिए भाषा का भेद तथा सिद्धान्त की बारीकियों को छोड़कर सबका सार लेने का यदि प्रयत्न करते हैं, तो यही भावार्थ निकलता है कि बच्चे को प्यार और सुरक्षा की चाह होती है और भूख, प्यास, मल-मूत्र-त्याग आदि शारीरिक हाजतों की पूर्ति के लिए माँ या उसकी जगह जो भी हो, उनके साथ उसका जो सम्बन्ध आता है, उसीके जरिये उसको प्यार व सुरक्षा का अनुभव मिलता है।

शुरू में उसका सारा सुखानुभव तथा समाधान स्तनपान की क्रिया में केन्द्रित होता है। चूसने की क्रिया का पूरा सन्तोष नहीं मिला तो वह अँगूठा या कुछ और चूसता है। शैशव में उसे यह सन्तोष पूरा पूरा न मिला तो उसका विकास इस स्तर पर उलझा (fixated) रह जायगा। बड़ा होने पर उसे अधिक खाने की, बीड़ी सिगरेट, शराब आदि पीने की अस्वाभाविक चाह होगी, जिससे कि होठों का सुखानुभव मिले।

इस समय माँ की गोद तथा स्तन उसे ठीक ठीक नहीं मिला तो उसको सुरक्षा तथा प्यार के अभाव का जो अनुभव होगा, उसका गहरा असर उसके अचेतन पर रहेगा। बड़ा होने पर भी वह सुरक्षा का तथा प्रेम का अभाव अनुभव करेगा। माँ का आश्रय ढूँढता फिरेगा। अपने पैरों पर खड़ा होने की सामर्थ्य उसमें कम होगी।

हमारे देश में अमुक समय पर बच्चे को स्तन छुड़ाने का रिवाज होता है। कभी कभी इसके लिए जबर्दस्ती की जाती है, मारपीट की जाती है, स्तन पर कड़वी वस्तु लीप दी जाती है। इन सब चेष्टाओं से उसमें गहरा उद्वेग पैदा होता है। उसे लगता है कि वह माँ का प्यार तथा आश्रय खो रहा है। इसलिए यह प्रयत्न धीरे धीरे बच्चे की भावनाओं को ख्याल में रखकर, करना चाहिए।

बच्चे में शरीर तथा स्नायुतन्त्र का अमुक अवस्था तक विकास और परिपक्वता होने पर ही वह रेंगना, बैठना, मल-मूत्र त्याग को नियन्त्रित करना, चलना आदि क्रियाएँ करने में समर्थ होता है। उससे पहले कोई क्रिया सीखने का उसका प्रयत्न व्यर्थ होता है और उसके मन पर बड़ा बोझ पड़ता है।

लगभग एक साल की उम्र के आसपास बच्चा मल-मूत्र त्याग की क्रियाओं पर काबू प्राप्त करता है। उसमें उसे नयी सामर्थ्य का अनुभव होता है और उस ओर दिलचस्पी बढ़ती है। उसके पालक उसमें निश्चित स्थान तथा समय पर टट्टी-पेशाब करने की आदत डालने की जो कोशिश करते हैं उसमें उसी समय उसका भी ध्यान जाता है। उसने वैसा किया तो माँ खुश होती है, नहीं किया तो नाराज। बच्चा भी ताड़ जाता है कि इन क्रियाओं से वह माँ को खुश या नाखुश कर सकता है। माँ पर प्रसन्न हुआ तो उसकी अपेक्षा के अनुसार मल त्याग करके उसको उसका 'दान' दे सकता है। अप्रसन्न हुआ तो मल को रोककर माँ को 'वंचित' कर सकता है। एक लड़का गुस्से में आता था तो जहाँ तहाँ पेशाब कर देता था, मानो माँ को दण्ड देता था।



यह महत्व का सम्बन्ध

मल-मूत्र त्याग की क्रिया के समय भी माता के साथ का सम्बन्ध चरित्र पर गहरा असर डालता है।

इस तरह इन क्रियाओं के माध्यम से माँ के साथ उसके सम्बन्ध में उसके स्वभाव में जिद्दीपन या सहकारिता, उदारता या कंजूसी का उन्मेष होता है ऐसा फ्रायड का

करना है। दूसरा का कहना है कि सिर्फ मल-मूत्र-त्याग की क्रिया के कारण नहीं, उस समय माँ के साथ हर प्रकार के व्यवहार के जरिये उसका जैसा सम्बन्ध रहता है, उसीमें से इन गुण अवगुणों का उन्मेष होता है।

जो भी हो, इस समय इस मामूली क्रिया का भी महत्त्व होता है। इसलिए नियमितता तथा सफाई की आदत डालने में धीरज चाहिए। बच्चे का अपने मल में सहज दिलचस्पी होती है, वह उसके शरीर में पैदा होता है, इसलिए उसमें उसे एक आनन्द भी मिलता है। वह उसको दिलचस्पी के साथ देखता है, हाथ से छूना चाहता है। पर हम उसे रोकते हैं। इसमें ज्यादती हुई, तो वह एक तरह से सिकुड़ जाता है। उसमें एक अस्वाभाविक कुंठा पैदा होती है। वह मिट्टी, पानी, कीचड़ से खेलना नहीं चाहता। अपने हाथों के उपयोग में भी कुछ सकोच अनुभव करता है। निसर्ग के परिचय तथा अवयवों की कार्यक्षमता के विकास के लिए यह आवश्यक है कि बच्चे मिट्टी, कीचड़ में खेलें। इसका रुक जाना वांछनीय नहीं है।

डॉ० सटी ने एक और महत्त्व के मुद्दे की ओर ध्यान खींचा है। स्तन छुटाने की या सफाई की आदत डालने की कोशिश के कारण या और भी किन्हीं कारणों से जब बच्चे को लगता है कि उसको माँ का प्यार मिल नहीं रहा है, तब उसे जो वेदना या उद्वेग होता है, उससे बचने के लिए अपनी प्यार की चाह को वह थोड़ा-बहुत अवदमित करता है। यानी दूसरों से स्नेहपूर्ण कोमल व्यवहार की अपेक्षा वह नहीं रखता या कम रखता है, जिससे इस अपेक्षा के ठुकराये जाने के क्लेश से उसका मन बचे। साथ ही दूसरों के प्रति अपनी कोमलता या स्नेह-वृत्ति के प्रदर्शन में भी वह सकोच करता है, उसके ठुकराये जाने का भय भी उसे होता है। इस तरह उसकी कोमल-वृत्ति अवदमित होकर उसके चरित्र में रूक्षता, कठोरता, मनुष्यों के साथ स्नेह-सम्पर्क के प्रति विमुखता आदि वृत्तियों का प्रादुर्भाव होता है।

घर में दूसरा बच्चा पैदा होने का अवसर उसके ऊपर के बच्चे के जीवन में बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है। माँ छोटे मुन्ने को लेकर व्यस्त रहती है। घर के दूसरे लोगों का ध्यान भी उसीकी ओर रहता है। इससे बड़े मुन्ने को ऐसा लगता है, मानो उसका राज्य छिन गया। वह महसूस करता है कि उसे माँ का प्यार मिल नहीं रहा है, दूसरों का लाड प्यार मिल नहीं रहा है। यह कौन दूसरा लड़का आया है, जो अब माँ की गोद में सोता है? माँ उसीको लेकर दिन-रात व्यस्त रहती है?

नये मुन्ने के प्रति उसके दिल में ईर्ष्या पैदा होती है, गुस्सा आता है। वह कभी चुपके से जाकर उसे नोच लेना चाहता है। माँ उस पर बिगड़ पड़ती है "कैसा कमीना लड़का है!" उसके मन में अब यह विश्वास दृढ़ होने लगता है कि अब लोगों ने उसे प्यार करना छोड़ दिया है। अपने छोटे भाई के तथा दूसरों के प्रति उसके मन में द्वेष की भावना पक्की होने लगती है। फिर प्रेम और द्वेष का सारा द्वन्द्व उसके मन में चलता है। अवदमन की प्रक्रिया काम करती है और उसके चरित्र पर विकृति का एक कायम का धब्बा लग जाता है।

कभी-कभी तो बड़ा को मुन्ने को चिढ़ाने म मजा आता है अब तो छोटा मुन्ना आया। माँ उसको ही प्यार करेगी। तुझे अब कोई पूछेगा ही नहीं ।" वे नही समझते कि उस बच्चे की ही नहीं सारे परिवार की कितनी हानि वे कर रहे हैं। किस प्रकार का विष-वृक्ष वे घर मे रोप रहे है। असल म तो नये बच्चे के जन्म से पहले ही बडे मुन्ने को आश्वासन देने का कार्यक्रम शुरू होना चाहिए। बच्चा पैदा होने क बाद उसे ऐसा महसूस करने नहीं देना चाहिए कि उसकी उपेक्षा हो रही है। बल्कि उसकी ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। उसको यह अनुभव हो कि माँ की गोद म उसका स्थान सुरक्षित है। माँ उसे गले लगाती है और कहती है 'यह देख तेरा छोटा भाई आया है। तुझे भाई कहकर पुकारेगा बडा होकर तेरे साथ खेलेगा' ।' तो शका मिटती है। ईर्ष्या और द्वेष क काले बादलों से उसका जीवन सुरक्षित रहता है।



शाश्वत त्रिकोण
नये बच्चे के साथ उसके ऊपर के बच्चे का प्रथम परिचय प्रेम का होगा या द्वेष का ?

फ्रायड के अनुसार लगभग तीन साल की उम्र मे बालक म अपने यौन अगो का भान तथा उनम दिलचस्पी पैदा होती है। इस समय लडका माता क लिए विशेष आकर्षण अनुभव करता है। इसके बाद बारह तेरह साल तक और कोई विकास नही होता। फिर तेरह-चौदह साल की उम्र मे प्रौढ यौन-वृत्ति का विकास शुरू होता है।

ऐडलर, जो फ्रायड के साथी थे पर बाद में जिन्होने अपने भिन्न सिद्धांतो का प्रतिपादन किया, बच्चे के मानसिक विकास-क्रम मे सत्ता की आकाक्षा को सबसे अधिक महत्त्व देते है। उनके अनुसार अच्छी परिस्थिति म तन्दुरुस्त बच्चा भी अपना छोटापन तथा कमजोरी महसूस करता है बडो के सामने अपने को असहाय पाता है। फिर किसी बच्चे की उपेक्षा हुई उसे प्यार नही मिला या ज्यादा लाड प्यार किया गया तो उसको इस असहायता का अनुभव अधिक तीव्र होगा। इसक कारण उसमे एक न्यूनता का भाव पैदा होगा। उस न्यूनता को हटाने के लिए वह अपनी सामर्थ्य बढाने की कोशिश करेगा दूसरो पर सत्ता चलाने का यत्न करेगा।

विभिन्न व्यक्ति जुदे जुदे ढग से अपनी न्यूनता मिटाकर आत्म-सम्मान की प्रतिष्ठा अपनी श्रेष्ठता का प्रतिपादन करना चाहते है। इसम से उनकी जीवन शैली बनती है। कोई सृजनात्मक कीर्तियों के द्वारा कोई पैसा इकट्ठा करके कोई दूसरो पर सत्ता प्राप्त करक कोई तरह-तरह के यौन भोगो के जरिये अथवा किसी और तरह से अपना श्रेष्ठत्व हासिल करना चाहता है।

फ्रायड और ऐडलर ने एक दूसरे के सिद्धातो का खडन किया। पर हम देख सकते हैं कि ये सिद्धात परस्पर सर्वथा विरोधी नहीं हैं—कुछ अश में परस्पर परिपूरक हैं। बच्चे

में सुखानुभव की चाह और न्यूनता का अनुभव दोनों साथ हो सकते हैं। फिर सत्ता या श्रेष्ठता वह अपनी चाहों की पूर्ति के लिए ही चाहता है।

कारेन हरने ने बताया है कि जब बच्चे को 'अहेतुक' प्यार मिलता है, तभी उसे सुरक्षा का अनुभव होता है। अहेतुक प्यार याने जो प्यार उसके भले बुरेपन पर निर्भर नहीं करता, हर हालत म मिलता रहता है। माँ-बाप की अपनी चारित्रिक कमियों के कारण या दूसरे कारणों से यह परिपूर्ण प्यार उसे नहीं मिला, तो अपनी क्षुद्रता तथा दुर्बलता के अनुभव के साथ इस अभाव का अनुभव भी जुड जाता है और उसके मन में बडा उद्वेग और बडी शका पैदा होती है। उसको लगता है कि लोग उसे गाली देने, पीटने, अपमानित करने, ईर्ष्या करने पर तुले हुए हैं। दुनिया उसको निर्दय, अन्यायपूर्ण, खतरनाक, डरावनी मालूम होती है।

इससे बचने के लिए वह अपने माता-पिता तथा दूसरो से तीन तरह से पेश आ सकता है—उनके साथ चलना, उनसे उदासीन रहना या उनका विरोध करना।

यह भी हो सकता है कि वह अपनी असहायता को मान ले और दूसरों का प्यार पाने के लिए अस्वाभाविक रूप से व्याकुल हो। उस स्थिति में वह दूसरों पर निर्भरशील बनेगा, सबकी बात मानकर सबको खुश करना चाहेगा। प्यार की उसकी भूख कभी मिटेगी नहीं, क्योंकि उसके मन में प्यार खोने की शका सदा बनी रहेगी। हर बात में उसे दूसरों की तारीफ तथा समर्थन की जरूरत रहेगी।

दूसरे तरीके में वह लोगों से उदासीन रहकर अपने को बचाना चाहेगा। लोगों के साथ सबध रखने पर ही न ठोकरें खानी पडेगी? उनसे प्यार या समझदारी की अपेक्षा रखकर फिर निराश होना पड़ेगा! सबध ही न रहे तो? बचपन में कोमल वृत्तियों के अवदमन के बारे में डॉ० सट्टी का विचार हमने देखा है। उसके साथ हरने के इस विश्लेषण का मेल स्पष्ट है।

तीसरे प्रकार में वह लोगों के खिलाफ चलने लगेगा तो उसम सबके लिए सशक दृष्टि होगी। उसे सबमें वैर और विरोध ही दीखेगा। वह सत्ता और अधिकार प्राप्त करके दूसरो पर अपना श्रेष्ठत्व साबित करना तथा उनको अपने वश म रखना चाहेगा। सत्ता की आकाक्षा स्वाभाविक हो सकती है। किसीमें विशेष क्षमता हो तो उसके उपयोग के लिए वह सत्ता चाह सकता है। किसीने कोई सामाजिक, आर्थिक या राजनीतिक ध्येय स्वीकार किया हो तो उसकी प्राप्ति के लिए सत्ता की अपेक्षा रख सकता है। पर सत्ता की विकृत या विक्षिप्त आकाक्षा इससे भिन्न होती है। उद्वेग, भय तथा न्यूनता की भावना से यह पैदा होती है, इसलिए वह हर मामले में दूसरों से श्रेष्ठ बनना चाहेगा। जिस विषय के साथ उसका सबध नहीं है, उसमें भी अन्य किसीकी श्रेष्ठता वह सहन नहीं करेगा। उसकी सत्ताकाक्षा के पीछे दूसरों के लिए द्वेष होने के कारण वह दूसरों को हमेशा बदनाम करना, विफल करना और पराजित करना चाहेगा। उसमें एक तरफ दूसरों से प्रतिशोध का भय रहेगा तो दूसरी ओर उनसे प्यार और समझदारी की अपेक्षा भी रहेगी। इसलिए उसके मन में सदा द्वन्द्व रहेगा।

इनके अनुसार विभिन्न व्यक्ति में ये तीनों मनोभाव साथ साथ रहते हैं। किसीमें कोई ज्यादा प्रबल है, तो दूसरे में कोई और। फिर कइयों में इनका प्राधान्य बदलता रहता है। कभी वह उदासीन रहता है, तो फिर कभी विरोध और वैर का रुख अपनाता है। फिर शरण आना चाहता है। इससे उनके जीवन में अधिक उलझनें पैदा होती हैं।

कुछ वैज्ञानिकों का कहना है कि बच्चों में दूसरों की भावनाओं को ताड़ जाने की एक विशेष शक्ति होती है जिसको उन्होंने 'एम्पैथी' नाम दिया है। माँ या और लोगों में प्यार, क्रोध, भय आदि भाव उठें और वे उसे प्रकट करने के लिए कोई हलचल न भी करें तो भी बच्चा ताड़ जाता है। इससे माँ-बाप या परिवार के दूसरे लोगों के मन में उठनेवाले भावों का असर उस पर होता है। घर में माँ-बाप में अनबन हो, दुश्चिन्ता हो या और कुछ हो, तो बच्चा उससे गहरे ढंग से प्रभावित होता है।

प्रयोगों से जानवरों में इस प्रकार की शक्ति का पता लगा है। किसी बड़े नये कुत्ते को देखकर आपके मन में भय पैदा हो तो कुत्ता समझ जायगा और भूँकने लगेगा, भले ही आपके प्रकट आचरण में भय प्रकट न होता हो। मन में कोई भाव उठने के साथ-साथ शरीर में भी कुछ रासायनिक परिवर्तन होता है। ग्रन्थियों से कुछ रसों का क्षरण होता है। हो सकता है कि इस तरह के भय, क्रोध आदि के समय इस प्रकार कोई सूक्ष्म गन्ध शरीर से निकलती हो जिसका पता जानवरों को तथा बच्चों को लगता हो। किसी भाव के आवेश के समय पेशियों के तनाव में अवयवों की भंगिमा में जो सूक्ष्म परिवर्तन होता होगा उसका अनुभव भी बच्चे को स्पर्श से मिलता होगा।

आटो रैंक ने प्रयोगों से यह सिद्ध किया कि जन्म के समय बच्चे को जो अनुभव होता है, उसका भी असर उसके चरित्र पर होता है। प्रसव में कठिनाई हुई, देर लगी तो बच्चे को भी तकलीफ होती है। स्वाभाविक सहज प्रसव में भी गर्भ के निरापद आश्रय से अचानक बाहर आ पड़ने के कारण थोड़ा तनाव उसके मन में होता है। बहुत सारे लोगों के बारे में जानकारी प्राप्त कर यह पता लगाया गया है कि जिनके जन्म के समय कठिनाई हुई थी वैसे लोगों के स्वभाव में उद्वेग का अंश कुछ ज्यादा है। जन्म के पूर्व गर्भावस्था में भी माता के मनोभावों का असर बच्चों पर होता है यह मान्यता अपने देश में परम्परा से है और उसके समर्थन में भी पर्याप्त सबूत मिले हैं।

शुरू में बच्चे में सुरक्षा की चाह सर्वोपरि होती है और वह पूरा-पूरा निर्भरशील तथा असहाय रहता है। पर डेढ़ दो साल की उम्र में उसमें स्वतन्त्रता की चाह प्रकट होती है। वह चलने फिरने लगता है तो उसे अपनी स्वतन्त्र सामर्थ्य का अनुभव होता है। यह चाह और सामर्थ्य धीरे धीरे बढ़ती है। स्वतन्त्र व्यक्तित्व के विकास की यह प्रक्रिया है।

अब बच्चे तथा पालकों के बीच दूसरे प्रकार का संघर्ष शुरू होता है। पहले तो भूख, प्यास, मल-मूत्र त्याग, नींद आदि हाजतों की पूर्ति के संदर्भ में उसको निष्फलता तथा उद्वेग का अनुभव होता था। अब उसकी स्वतंत्र गतिविधि शुरू होने के साथ-साथ उस पर रोक लगनी शुरू होती है। घर की शांति तथा बालक की अपनी सुरक्षा के ख्याल से उसे बार बार सचेत किया जाता है कि 'उधर मत जाओ', 'मत दौडो', 'चुपचाप बैठो', 'उसको मत छूओ', 'तुमने क्यों आलमारी खोली ?', 'एक जलेबी मुन्ने को दे दो' इत्यादि। इससे उसे निष्फलता का अनुभव होता है, गुस्सा आता है। गुस्से को स्वाभाविक समझा जाय और उसकी उपेक्षा की जाय, तो थोडी देर में वह निकल जाता है। पर बालक की स्वतन्त्रता पर नियंत्रण ज्यादा हो और गुस्सा करना भी गलत माना जाय और उसे दबाने की कोशिश की जाय, तो निष्फलता की भावना और बढती है तथा गुस्से में से द्वेष पैदा होता है।

अब एक तरफ पालकों से प्यार की अपेक्षा और उनके प्रति अपना प्यार तथा दूसरी तरफ उनसे द्वेष और बगावत में द्वन्द्व चलता है। इस द्वन्द्व में अकसर द्वेष अवदमित होता है। पर अवदमित हुआ, तो केटली के अंदर भाप के जैसा रहा न ? वह तरह-तरह के उपसर्गों के रूप में प्रकट होता है, विक्षिप्तता पैदा होती है। शुरू में हमने जो थाली गिरानेवाले लडके का उल्लेख किया था, उसकी यह आदत इसी कारण थी। सामान गिराना, तोडना, खो देना यह सब पालकों के खिलाफ अचेतन में छिपे द्वेष का आक्रमण होता है, जैसे आतंकवादी लोग छिपकर सरकार पर इधर-उधर छोटे-छोटे आक्रमण करते हैं।

तुतलाहट भी अक्सर अदरूनी द्वन्द्व का परिणाम होता है, जीभ या मुँह की रचना में कोई त्रुटि न हो तो।

एक परिवार मे दो लडके तुतलानेवाले हुए। पाँच-छह साल की उम्र तक वे माँ की देखरेख में रहते थे, तब तक उनमे तुतलाने का कोई लक्षण नही था। उसके बाद पिताजी के ताबे मे आये तो तुतलाना शुरू हुआ। पिताजी सख्त अनुशासन चलानेवाले थे तथा हर तफसील में लडकों के जीवन को नियन्त्रित करना चाहते थे। फिर वे एक-के-बाद एक कॉलेज मे पहुँचे तो उनका तुतलाना छूट गया। कॉलेज में अधिक आत्मप्रकाश की सुविधा मिली। फिर लडके के कॉलेज जाने पर घर मे भी उसके साथ थोडा भिन्न व्यवहार होता है। तीसरा लडका दूसरों के जैसा दब्बू नहीं निकला, उसमें बगावत की वृत्ति थी। इसलिए वह तुतलानेवाला नही हुआ।

ग्यारहवें अध्याय में हमने देखा है कि छोटे बच्चे में द्वन्द्व तथा उद्वेग हो, तो उसका आरोपण वह बाहरी वस्तुओं पर करता है और उसमें अस्वाभाविक तथा अकारण भय प्रकट होता है। बडी उम्र तक बिस्तर में पेशाब कर देने की आदत भी अक्सर विक्षिप्तता का लक्षण होता है।

कई ऐसे अच्छे घराने के लडके लडकियों को अपने घर से, दूसरों के घर से या दूकानों से चीज चुराने की आदत होती है। उनको किसी प्रकार का आर्थिक अभाव

तो नहीं होता। इसके पीछे भी सुरक्षा के अभाव का अनुभव ही कारण होता है। मनोवैज्ञानिक अब्राहामसेन् ने एक लड़के की कहानी कही है, जो मोटरें चुराया करता था। एक मोटर उठा लेता था और जहाँ पेट्रोल खतम होता था वहाँ उसको छोड़ कर दूसरी उठाता था। मानसिक उपचार से पता चला कि उसको बचपन में माँ का प्यार मिला नहीं था। वह अनाथालय में पाला पोसा गया था। उसके मानस में बदला लेने की भावना थी। मोटर चुराना उसीका रूप था तथा माँ को ढूँढने की प्रतीक स्वरूप चेष्टा थी।

इस प्रकार बहुत सारे मानसिक विकारों के पीछे बचपन के अनुभव कारण होते हैं। यों कह सकते हैं कि बचपन के छोटे-छोटे अनुभवों के माध्यम से अपनी माता तथा फिर पिता तथा और कुटुम्बी-जनों से बच्चे का जो संबंध बनता है, उसीके अनुसार उसका चरित्र बनता है। उनसे वह जिस तरह पेश आता है बाहर की दुनिया से भी उसी प्रकार आता है। उनके प्रति उसका जो मनोभाव बनता है, उसका आरोप वह समाज में उसके साथ उन्हींके जैसे संबंध रखनेवाले व्यक्तियों पर करता है। ●

३

व्यक्ति और समाज

यौन-प्रेरणा का महत्त्व और विकास : १४ :

हमने देखा है कि फ्रायड ने जीवन में यौन-वृत्ति को महत्त्व का, बल्कि बहुत अधिक महत्त्व का स्थान दिया। मानसिक रोगियों की विकृतियों के विश्लेषण से उन्होंने यह साबित किया कि इन विकृतियों के मूल में अक्सर अवदमित यौन-वृत्ति होती है। फिर उन्होंने यह बतलाया कि बच्चे में यह वृत्ति जन्म से ही होती है; यह नहीं कि यौवन के प्रारंभ में ही इसका उन्मेष होता हो।

उनके इन प्रतिपादनों की बड़ी जोरदार प्रतिक्रिया शुरू-शुरू में हुई। लोगों को लगा कि यौन वृत्ति को इतना महत्त्व देकर वे समाज में नीति नियमों का आधार ही तोड़ रहे हैं। और वैसा कुछ असर समाज में दीख भी पड़ा। कई लोगों में एक मान्यता पैदा हुई कि यौन-वृत्ति को रोकने की कोशिश से इतनी सारी मानसिक विकृतियाँ पैदा होती हैं, तो चलो! मन में जो आये कर लो, किसी भी वासना को रोको मत। इस तरह एक प्रकार की उच्छृंखलता के लिए फ्रायड का आधार लिया गया। लेकिन किसी वैज्ञानिक तथ्य का यदि दुरुपयोग होता है, तो उससे उसकी सत्यता अप्रमाणित नहीं होती। आणविक शक्ति का उपयोग विध्वंस के लिए किया जाता है, इससे उसका अस्तित्व गलत साबित नहीं होता। फ्रायड के सारे सिद्धांत सही हैं, ऐसा नहीं है। उनकी काफी आलोचना हुई है और उन्हींके कई अनुयायियों ने उनमें दोष निकाले हैं और सुधार किये हैं। तिस पर भी उनमें काफी तथ्य हैं और फ्रायड के उन सिद्धांतों के कारण जो नयी दृष्टि खुल गयी, उसके महत्त्व को ठीक-ठीक समझ लेना जरूरी है। वैसे ये विचार लोगों को क्यों अवांछनीय मालूम होते हैं, यह भी शुरू में समझ लेना जरूरी है।

अक्सर हमारे जैसे सामान्य लोग उसका विरोध आवेश के साथ करते हैं, उसके मुख्य दो कारण हैं। एक यह कि फ्रायड के कथनों से हमारी अपनी आत्मप्रतिष्ठा को ठेस लगती है। दूसरे लोगों में यौन-वृत्ति की प्रबलता हम अक्सर देखते भी हैं और मंजूर भी करते हैं। पर उसको हम उनकी असंस्कारिता समझते हैं। पर अपने को तो हम संस्कारवान, सभ्य, संयमी समझते हैं और इसलिए उन असंस्कारी 'दुर्जनों' के साथ अपना इस प्रकार का कोई सादृश्य हो कैसे सकता है? दूसरा कारण यह कि किसी चीज से हमें भय या घृणा होती है, तो हमको लगता है कि उस चीज से आँख मींच लेने से या उसका नाम न लेने से भय का वह कारण मिट जायगा। इसलिए कई जगह रात को साँप का नाम नहीं लेते। जंगल में शेर का नाम नहीं लेते।

काम वृत्ति की प्रबलता को नीतिकारों ने ठीक-ठीक समझा है। पर उन्होंने अक्सर यह माना था कि उस पर सिर्फ प्रतिबंध डालने से या उसे जबर्दस्ती दबाने से ही उसको काबू में ला सकते। इसलिए दुनियाभर के समाजों में हजारों प्रकार के सख्त

प्रतिबंध नियम तथा रीति रिवाजों का प्रचलन इसको वश में लाने के लिए हुआ है। पर मनोविज्ञान यह साबित करता है कि सिर्फ जबरदस्ती से काम बनता नहीं। बुद्धिमानी और समझदारी से काम लेना चाहिए। इसलिए हमें अपने दिमाग को नैतिक वितृष्णा या जुगुप्सा से मुक्त रखकर इस विषय को समझने की कोशिश करनी चाहिए।

फ्रायड ने बतलाया कि यौन वृत्ति बच्चे में जन्म से ही होती है। हमने पहले ही उसका विवेचन किया है कि उन्होंने उस शब्द का प्रचलित सामान्य अर्थ से व्यापक कर दिया और 'दैहिक सुखभोग की वृत्ति' के अर्थ में उसका उपयोग किया। यौन भोग तथा दूसरे दैहिक भोगों के बीच परस्पर सूक्ष्म संबंध नीतिकारों के ध्यान में भी आया है। और इसलिए उन्होंने यौन वृत्ति को रोकने के लिए दूसरे दैहिक भोगों के संयम भी आवश्यक बताये हैं। ब्रह्मचर्य के लिए गांधीजी ने अस्वाद यानी जीभ के संयम को आवश्यक माना।

बारहवें अध्याय में व्यक्ति के विकास-क्रम में बचपन के अनुभवों का महत्त्व हमने देखा है। उसकी हाजतों की पूर्ति सुरक्षा तथा प्रेम की चाह आदि के संदर्भ में छोटी छोटी बातों का उसके चरित्र पर कैसा असर होता है यह भी ध्यान में आया है। फ्रायड के समान हम यौन-वृत्ति के विकास को मुख्य चीज न मानें फिर भी इस बात से इनकार नहीं कर सकते कि व्यक्तित्व के विकास में उसका भी बड़ा महत्त्व का स्थान होता है।

बच्चों को जैसे और विषयों में कुतूहल होता है वैसे यौन विषयों में भी होता है। अपने तथा दूसरों के अंगों के बारे में वे जानना चाहते हैं। लड़के तथा लड़कियों के गठन में क्यों फरक है यह वे जानना चाहते हैं। बच्चा कैसे पैदा होता है यह जानना चाहते हैं। इसके पीछे उनकी जिज्ञासा-वृत्ति होती है। यौन वृत्ति होती है ऐसा नहीं कह सकते। पर हम यौन-विषयों को शर्मनाक घृणित या हेय समझते हैं और अपने ही भावों का आरोप उन पर करके महसूस करते हैं कि बच्चों के ऐसे प्रश्न पूछने में या कुतूहल प्रकट करने में बुराई है। इसलिए हम उनको झिड़कते हैं धमकाते हैं झूठ का आश्रय लेते हैं या ऐसा भाव प्रकट करते हैं जिससे या तो ऊपर से बच्चा दब जाता है या उसका कुतूहल और भी तीव्र होकर अस्वाभाविक बन जाता है।



माँ, मुन्ना कहाँ से आया ?
इस सवाल का जवाब माँ
किस ढंग से देगी ?

योरोप की तुलना में हमारे देश में इस विषय में कुछ अधिक सहजभाव तथा खुलापन है। कुछ दिन पहले तक उधर तो यह विषय अत्यधिक लज्जा तथा गोपनीयता का पात्र था। 'बच्चा कैसे पैदा होता है' यह पूछने पर वहाँ कहा जाता है कि 'बगुला दे गया या दाई दे गयी।' 'बच्चा माँ के पेट से पैदा होता है' यही सीधा-सादा उत्तर यहाँ, खासकर गांवों में दिया जाता है। कहीं कहीं गाय को बछड़ा जनते हुए

दिखलाकर समझाया जाता है कि ऐसे ही बच्चा पैदा होता है। इस तरह सहजभाव से उनके कुतूहल को शांत किया जाय, तो उनको समाधान हो जाता है वह कुतूहल अस्वाभाविक स्वरूप नहीं लेता।

नंगेपन को भी कहीं सहजभाव से लिया जाता है, तो कहीं उसके साथ लज्जा आदि की आत्यंतिक भावना जुड़ी हुई होती है, जिससे छोटे बच्चे का नंगापन भी सहन नहीं होता। बच्चों को पहले-पहले कपड़े बंधन ही मालूम होते हैं पर धीरे-धीरे आदत हो जाती है, फिर दूसरों को देखकर उसकी चाह भी होती है। पर कपड़े की आदत डालने के लिए या उस विषय की अपनी भावना के कारण हम लज्जा, क्रोध आदि के आवेश के साथ बरताव करते हैं, तो बच्चे में भी थोड़ी अस्वाभाविकता आती है। इसके कारण नंगेपन के बारे में आस्वाभाविक कुतूहल पैदा होता है।

यौन-अंगों की उत्तेजक अनुभूति का आविष्कार भी बच्चे किसी-न-किसी उम्र में करते हैं। अपने यौन-अंगों के बारे में स्वाभाविक कुतूहल के कारण वे उन्हें हाथ से छूते हैं और फिर उसमें से हस्त मैथुन से उत्तेजक अनुभव का आविष्कार करते हैं। अन्य कारणों से मानसिक तनाव हो, मुक्तभाव से खेलकूद करने या भाव प्रकट करने की सहूलियत या स्वतंत्रता न हो, सुरक्षा का अनुभव कम हो, तो बच्चे उस क्रिया के जरिये मानसिक तनाव से मुक्त होने की राह ढूँढते हैं। फिर इसकी लत पड़ गयी, तो आसानी से छूटती नहीं। कुछ मानसशास्त्रियों का कहना है कि यह क्रिया सबके लिए एक तरह से स्वाभाविक है, इसलिए उसमें चिंतित होने की या उस पर ध्यान देने की जरूरत नहीं है। पर ब्रह्मचर्य की कल्पना के संदर्भ में इसको गलत और हानिकारक माना जाता है। अक्सर इसको रोकने की कोशिश में जबरदस्ती की जाती है, बालक को इसके दुष्परिणाम के बारे में खूब डराया जाता है। कहीं-कहीं सोते समय उसके हाथ बाँध देते हैं। पर इस प्रकार के प्रयत्नों का परिणाम अधिक बुरा होता है। उसको खूब डरा देने से उसकी उस आदत को रोकने की शक्ति तो बढ़ती नहीं, सिर्फ उसके मन में एक बड़ा पाप-बोध पैठ जाता है, जिसके कारण वह मायूस बना रहता है, उसमें एक दब्बूपन आ जाता है, वह आत्मविश्वास खोता है और वह आदत भी ज्यादा मजबूत होती है यानी ये प्रयत्न ही उस आदत के मूल कारणों के साथ मिलकर उनको अधिक बलवान् बनाते हैं।

इसलिए ऐसी परिस्थिति में धीरज रखना चाहिए और किन परिस्थितियों के कारण बच्चे में मानसिक तनाव है, यह देखकर उसका निराकरण करना चाहिए। क्या वह सुरक्षा का अभाव अनुभव कर रहा है? क्योंकि माँ-बाप में मनमुटाव हो और उसके कारण परिवार में तनाव हो तो उसको बच्चा अनुभव करता है, उससे उसे सुरक्षा का, प्रेम का अभाव मालूम होता है और उसके मन में भी तनाव पैदा होता है। क्या उसे खेलकूद या भाव-प्रकटन के लिए पर्याप्त अवसर नहीं मिलता? क्या उसको हमेशा दबाया जाता है? ऐसे कई कारण हो सकते हैं। मनोविज्ञान के शोधों से हमको यह ज्ञान मिलता है कि इस आदत के कारण बच्चे को जितना नुकसान होता है, उससे

उसको दड या भय से रोकने की कोशिश से ज्यादा नुकसान होता है। जिससे बालक म आत्मविश्वास बढे, सुरक्षा का अनुभव हो मानसिक तनाव घटे ऐसे उपाय किये जाने चाहिए।

बचपन के इन सब अनुभवो मे से प्रौढ मनुष्य का व्यक्तित्व विकसित होता है। जैसे ऊपर के उदाहरणो म बताया गया है उसके विकास के क्रम म उसका विकास अमुक अमुक स्तर पर उलझ गया या उसम बाधाएँ आयी तो उसका व्यक्तित्व कुठित होता है तथा उसम विकृतियाँ आ जाती हैं। सके एक सिरे पर व्यक्तित्व की छोटी मोटी त्रुटियाँ होती है जो हरएक म थोडी-बहुत होती है, तो दूसरे सिरे पर आत्यतिक मानसिक विकृतिया हो सकती हैं।

पति पत्नी मे समाधानकारक परस्पर सबध प्रौढावस्था का स्वाभाविक और स्वस्थ परिणाम होना चाहिए। पर बचपन तथा किशोरावस्था के अनुभवो के कारण कुछ पुरुषो म स्त्रियो के लिए घृणा या डर होता है। कुछ स्त्रियो मे भी पुरुषो के बारे म आत्यतिक सकुचितता होती है। इस वजह से आम सामाजिक जीवन म वे एक दूसरा के साथ सहज आचरण नही कर पाते। फिर दाम्पत्य जीवन मे भी पति पत्नी का सबध स्वाभाविक नहीं होता। स्वाभाविक यौन व्यवहार म रुचि नही होती। कइयो म अस्वाभाविक यौन व्यवहार की अपने लिंग के साथी के साथ यौन व्यवहार की विकृत रुचि पैदा होती है। इन सब तथा ऐसे और कारणों से इस प्रकार के लोग पूरे स्वाभाविक व्यक्ति भी बन नही पाते।

काम-वृत्ति का सयम तथा ऊर्ध्वगति से आध्यात्मिक शक्ति बढती है ऐसा माना जाता है। फ्रायड आदि ने भी प्रतिपादित किया है कि इस वृत्ति की इस प्रकार की ऊर्ध्वगति या सब्लीमेशन हो सकता है। यौन वृत्ति के सयमन से उसकी शक्ति को किसी दूसरे ध्येय की ओर चालित किया जा सकता है। इसीसे मानव सभ्यता साहित्य शिल्प कला दर्शन, विज्ञान, अध्यात्म मानव सेवा आदि का विकास हुआ है। बड़े बड़े सफल ब्रह्मचारी अपनी सारी यौन प्रेरणा को इस तरह परिवर्तित कर लेते हैं। सामान्य मनुष्य उतना तो कर नहीं पाता।

परतु कुछ अश मे तो कर ही लेता है। पर इस प्रकार के सब्लीमेशन तथा अवदमन का फर्क ध्यान म रखना चाहिए। यौन वृत्ति की शक्ति को किसी दूसरे ध्येय की ओर मोडने की सामर्थ्य के बिना उसे सिर्फ दबाने की कोशिश की जाय तो उस अवदमन से जो स्थिति निपजेगी वह सामान्य मनुष्य के स्वाभाविक जीवन से बदतर होगी। •

प्रेम और द्वेष

मनुष्य के जीवन में प्रेम और द्वेष का संघर्ष तथा सहकार का तुलनात्मक महत्त्व क्या है? इन सवालों के जवाबों पर मानव-समाज का भविष्य निर्भर है।

आधुनिक मनोविज्ञान के अन्यतम प्रतिष्ठाता फ्रायड की मान्यता थी कि आक्रामक वृत्ति मनुष्य-स्वभाव में मूलभूत वृत्ति है। प्यार से द्वेष ज्यादा बुनियादी है। इसलिए दुनिया से लड़ाई, झगड़, संघर्ष कभी खतम नहीं होंगे। इसी प्रकार की मान्यता सामान्य मनुष्यों में है।

फ्रायड ने मन की गहराई का पता लगाने की जो प्रणाली निकाली, उससे तो पहले यही पता लगा कि अच्छे सज्जनों के, मासूम बच्चों के मन की तह में द्वेष तथा वैर की किस प्रकार की तीव्र भावना छिपी रहती है। इससे तो यह धारणा मजबूत बनने में मदद मिली कि द्वेष तथा संघर्ष बुनियादी प्रेरणाएँ हैं। पर खोज आगे बढ़ती गयी, तो जैसा हमने पिछले अध्याय में देखा, यह पाया गया कि यह द्वेष निष्फलता के अनुभवों से पैदा होता है। सुरक्षा तथा प्रेम के अनुभव न मिलने पर सबसे अधिक निष्फलता पैदा होती है। बिल्कुल शैशव में ही इस प्रकार की निष्फलता के अनुभव मिलते हैं, इसलिए यह बहस की जा सकती है कि चूँकि जीवन में निष्फलता का अनुभव अवश्यम्भावी है, इसलिए द्वेष का पैदा होना भी अवश्यम्भावी हो जाता है। उसको टाला नहीं जा सकता, इसलिए द्वेष और संघर्ष भी अवश्यम्भावी है।

परन्तु बचपन में किन कारणों से निष्फलता, मानसिक द्वन्द्व तथा उद्वेग पैदा होते हैं और उनका असर चित्त पर किस प्रकार पड़ता है, इस संबंध में विस्तृत जानकारी मिलने पर बच्चों को अधिक समझदारी के साथ सँभालने की आवश्यकता भी ध्यान में आयी है और उसके तरीके में भी परिवर्तन हुआ है। इससे मनुष्यों में बचपन में द्वेष और संदेह के अंतर्भाव की मात्रा घटायी जा सकती है। हमने देखा है कि बचपन में मनुष्यों के मन में जो द्वेष वगैरह जमा होते हैं, उनका आरोप वे समाज पर करते हैं। अधिक झगड़ालूपन, क्रूरता आदि की वृत्तियाँ बचपन में पैदा होकर फिर स्थायी आदत बन जाती हैं। ये मानसिक विकार विक्षिप्तता के ही लक्षण होते हैं। बच्चों का सही ढंग से पालन-पोषण होता है, तो उनके स्वभाव में स्नेह और सहकार का प्राधान्य रह सकता है।

मानसिक उपचार का भी यही अनुभव है कि मानसिक स्वास्थ्य वापस मिलने पर उस मनुष्य में दूसरों के साथ स्नेह और मैत्री का समाधानकारक तथा लाभदायक संबंध स्थापित करने की सामर्थ्य आती है। बल्कि यह सामर्थ्य मानसिक स्वास्थ्य का लक्षण माना जाता है। इससे यही धारणा दृढ़ होती है कि मनुष्य-जीवन में प्रेम का महत्त्व

बुनियादी है। प्रेम की लेन-देन स्वस्थ जीवन का लक्षण तथा बुनियाद है। मानसिक विकृति के कारण ही इस प्रेम की अभिव्यक्ति कुण्ठित हो जाती है रुक जाती है।

पिछले अध्यायों के सारे विवेचन से भी यही मुद्दा पाठकों के ध्यान मे आया होगा। बच्चो मे प्रेम तथा सुरक्षा के अभाव से ही मानसिक उद्वेग, द्वन्द्व आदि पैदा होते है। उसी स्थिति म मन क अन्दर मानसिक विकृति के लिए अनुकूल क्षेत्र बनता है। बडो म भी जो यौन वृत्ति के अवदमन का मानसिक विकृति पैदा करने में इतना असर होता है वह भी सिर्फ शारीरिक कामोपभोग के अभाव के कारण नहीं, बल्कि उसके साथ प्रेम का अनुभव या प्रकाशन भी दब जाता है इसलिए होता है।

बचपन के अनुभवो के कारण जिस तरह मनुष्य की कोमल वृत्तियाँ अवदमित हैं और उसके चरित्र म कठोरता का प्रादुर्भाव होता है, इस सबध मे कुछ विवेचन हमने १२वें अध्याय म किया है। डॉ सट्टी ने इग्लैण्ड के समाज का विवेचन करते हुए तफसील से इसका विश्लेषण किया है कि किस तरह उस समाज में किसी प्रकार की कोमलता के प्रदर्शन को गलत समझा जाता है उपहास का विषय समझा जाता है तथा एक प्रकार क रूखेपन या कठोरता को ही सही गुण माना जाता है, खास कर पुरुषों क बारे मे। वहाँ का सामाजिक मूल्यबोध ही इस प्रकार बन गया है और इसकी परपरा बन गयी है। इसका सबध वे बचपन के अनुभवों से जोडते है, यह हमने देखा है।

उन्होने इग्लैण्ड का अध्ययन किया है तो उसका यह मतलब नहीं कि वहीं ऐसा होता है। प्यार, करुणा आदि कोमल वृत्तियों का अवदमन हर समाज में थोडा बहुत होता है। अपने अनुभवो का मनन करने पर इसके कई उदाहरण हमको मिल जायेगे। बच्चो म दूसरों के लिए जो स्वाभाविक सहानुभूति होती है, उसके प्रकाशन को अक्सर रोका जाता है। लडका स्कूल में नाश्ता लेकर गया और वहाँ दूसरे लडको के साथ बाँटकर खाया। तो घर म उस पर डाँट पडती है कि 'ऐसा क्यो करता है?' किसी गरीब को देखकर दया आती है और उसे वह कपडा या भोजन देना चाहता है तो उसे रोका जाता है। आर्थिक तगी के कारण या परिवार के सामाजिक मूल्य बोधो के कारण ऐसा किया जाता है। पर इसका स्थायी असर बालक के चरित्र पर हुए बिना नहीं रहता। फ्रायड ने ही कहा है 'मानसिक खोजो से अगर यह मालूम हुआ है कि हम अपने को जैसा समझते हों, हम उससे अधिक दुष्ट होते हैं, तो यह भी साबित हुआ है कि जितना दीखते हैं उससे अधिक बड़े फरिश्ते भी होते है।

मानसिक उपचार म इस प्रेमानुभव के अभाव की पूर्ति एक मुख्य स्थान रखता है। मानसिक चिकित्सक रोगी के साथ बातचीत और चर्चा के द्वारा उसके मन की ग्रथियो को जो सुलझाता है उसमे रोगी के प्रति उसके आदर तथा श्रद्धा का भी बडा महत्त्व होता है। रोगी को लगता है कि यह एक मनुष्य है जो मेरे लिए इतना समय दे रहा है धीरज से मेरी बाते सुन रहा है। रोगी के मन की दबी हुई भावनाएँ जब उमड आती है, तब वह उन्हें चिकित्सक पर उँडेल देता है। अपने पिता माता भाई

या बहन—जिस किसीके प्रति उसके मन मे दबी हुई भावनाएँ हो, वह उसके स्थान पर चिकित्सक को रखता है और उन भावनाओ को उसी पर चरितार्थ करता है। चिकित्सक यह सब धीरज से सह लेता है। इसमे उसको प्रेम तथा आदर का अनुभव होता है। इस प्रकार मानसिक उपचार ने भी प्रेम का महत्त्व सिद्ध किया है।

शिक्षण-सबधी शोधों से यह भी पाया गया है कि जिन बच्चों को पर्याप्त मातृ प्रेम मिला नहीं होता, उनमे बुद्धि का विकास, खास करके अमूर्त (ऐब्स्ट्रैक्ट) चिंतन की शक्ति का विकास कुठित होता है। मनुष्य-जीवन मे प्यार के मूलभूत महत्त्व के और भी सबूत मिले है। योरोप मे एक समय मैरेसमस नाम की बच्चो की एक घातक बीमारी बहुत फैली हुई थी। बच्चो को पूरा भोजन तथा सारी शारीरिक सुख-सुविधाएँ मिलने पर भी उस बीमारी में बच्चा पनपता नहीं है। उसकी हड्डियाँ कमजोर रहती है। इसमे मृत्यु का अनुपात भी बहुत ऊँचा था। अनुसधान से पता चला कि यह बीमारी अस्पतालों म तथा बड़े घरानो म अधिक होती है। गरीबों मे यह नही के बराबर होती है, यद्यपि इनके यहाँ अक्सर भोजन की तथा सुख सुविधाओ की कमी रहती है। इसका कारण यही मालूम हुआ कि बड़े घरानों में तथा अस्पतालो म बच्चो को पालको का या अन्य किसीका प्रेमपूर्ण स्पर्श नही के बराबर मिलता है। वहाँ नौकर-चाकर या नर्स उनकी देखभाल करते है। ये लोग नियम के मुताबिक उनकी सेवा करते हैं, लेकिन अक्सर प्यार नहीं करते। अब उधर के अच्छे अस्पतालो में बच्चों के उपचार का यह एक अपरिहार्य अग बन गया है कि उसे नियमित रूप से गोद मे लिया जाय और लाड-प्यार किया जाय।

चूहो पर भी इसका एक रोचक प्रयोग हुआ। अमेरिका की एक प्रयोगशाला मे सैकड़ों चूहों को दो भागों में बाँटा गया। दोनों भागो को एक सा भोजन मिलता था, एक ही प्रकार के पिंजड़े म वे रखे गये थे। दूसरी सारी परिस्थितियाँ बराबर थीं। सिर्फ फर्क यह था कि एक टोली को उसके पालक नियमित रूप से एक-आध घटा हाथ से सहलाते थे, पुचकारते थे। कुछ दिनों के बाद पाया गया कि इस तरह प्यार पानेवाली टोली का स्वास्थ्य दूसरी टोली से बेहतर है और वजन भी अधिक है। फिर एक प्रयोग के सिलसिले मे उन पर एक ऑपरेशन किया गया। तो प्यार पानेवाली टोली के ७५ से ७८ प्रतिशत चूहे उस ऑपरेशन को सहन करके बच निकले। बाकी के २२ से २५ प्रतिशत मर गये। जगली टोली मे उलटा हुआ। उसके ८० प्रतिशत मरे और बाकी बचे।

यह एक जानी हुई बात है कि जिस बच्चे की माँ नही होती या दूसरे कारण से उसे माँ या माँ के स्थान पर किसी और का प्यार नही मिलता, वह अधिक खाता है, पेटू बनता है, मानो प्यार की भूख वह भोजन से भरना चाहता है। भरपूर प्रेम पानेवाले बच्चे की पुष्टि अपेक्षाकृत अल्प आहार से ही हो जाती है।

मानव विज्ञान (एंथ्रोपोलोजी) के शोध म विभिन्न मानव गोष्ठियो के अध्ययन से भी इसके समर्थन मे सबूत मिला है। सामान्यतया लोगो की यह धारणा रहती है कि

हम जिस तरह जीवन व्यतीत करते हैं, जो विश्वास करते हैं, जिस तरह बच्चो को पालते हैं तथा दूसरे कामकाज करते है वही सही है और अपने समाज मे हम लोगो का जिस प्रकार का चरित्र देखते हैं वही सारी दुनिया का मानव स्वभाव है।

पर विभिन्न मानव गोष्ठियों तथा समाजो के अध्ययन से यह स्पष्ट हुआ है कि वास्तव मे वैसा नहीं है। खास करके छोटे छोटे आदिवासी समाजो मे आचार व्यवहार, रीति नीति, समाज व संगठन का स्वरूप तथा खास करके बच्चों को पालने-पोसने के तरीकों में बडा फरक पाया जाता है और उनके कारण भिन्न भिन्न समाज में लोगों के चरित्रों मे भी बडा फरक पाया जाता है।

मार्गारेट मीड नाम की एक महिला वैज्ञानिक ने न्युगिनी में कुछ आदिवासी समाजों का अध्ययन किया। उन्होने पाया कि स्त्री और पुरुषो मे जिन सिफ्तों को पश्चिम के लोग उनके मूलभूत स्वभाव का अंग मानते थे, वस्तुत वे वैसे नहीं हैं। आरापेश जाति मे पुरुष और स्त्री दोनो मृदु स्वभाव के तथा दूसरो की फिकर रखनेवाले होते हैं। मडुगुमोर जाति मे पुरुष अत्यंत हिंसक और आक्रामक होते है तथा स्त्रियाँ भी। चम्बुली जाति मे स्त्रियाँ ही प्रबल होती हैं परिवार मे कर्तृत्व उन्हीके हाथ में होता है, पुरुष कम जिम्मेवार तथा निर्भरशील होते है, याने स्त्रियों में (हमारे यहाँ के विचार के अनुसार) मर्दाना स्वभाव और पुरुषो मे स्त्री सुलभ स्वभाव का दर्शन होता है।

आरापेश अपने बच्चो के साथ बडी मृदुता और स्नेह से काम लेते हैं। आपस में वे सहकार की वृत्ति रखते है तथा आक्रामक नहीं होते। मडुगुमोर जाति में पारस्परिक सहकार नहीं के बराबर होता है वे बडे आक्रामक याने झगडालू होते हैं। बच्चों के साथ भी बडी कठोरता व सख्ती से पेश आते हैं। आरापेशों में बच्चो को कभी दंड नही दिया जाता। उनको यही सिखाया जाता है कि सब 'अच्छा' है। भोजन अच्छा होता है घर अच्छा होता है काका, मामा दादा आदि सब अच्छे होते हैं।

रूथ बेनेडिक्ट ने अमेरिका की जुनी जाति के बारे मे अपने अध्ययन का जो विवरण दिया है उसमे उनका चरित्र आरापेशो से मिलता-जुलता दीखता है। प्रतियोगिता में दूसरे पर बाजी मार लेने की धुन उनमे नही होती, कोई दौड की प्रतियोगिता हो तो उसमे हरएक हारने की कोशिश करता है और कोई किसी सत्ता के पद पर आना नहीं चाहता। मुखिया वगैरह बनाना हो तो और लोग ही किसीको जबर्दस्ती उस पद पर बिठा देते हैं। फिर पद को कभी प्रतिष्ठा का स्थान नहीं माना जाता। 'डोबु' जाति के लोगो मे परस्पर बेहद संदेह होता है हरएक सोचता है कि दूसरे लोग उसका नुकसान करने पर तुले हुए हैं। एस्कीमों में लडाई नहीं होती।

फ्यूरर हाइमेनडर्फ ने नागा जातियो का अध्ययन किया है। एक नागा उपजाति के बारे में वे लिखते हैं कि वे बच्चों को बहुत प्यार से पालते हैं तथा काफी स्वतन्त्रता देते हैं। बच्चो के लिए भी उनमे उतना ही आदर और सम्मान होता है जितना कि बडो के लिए। ये लोग आपस मे शायद ही झगडते हैं। वहाँ हत्याएँ कभी होती ही

नहीं। इन महाशय ने पूछा कि गाँव में कोई किसीको मार डाले, तो उसको क्या दण्ड दिया जायगा, तो वे लोग यह समझ ही नहीं सके कि कोई किसीको क्यों कत्ल करना चाहेगा। उन्होंने सुझाया कि स्त्री या जमीन को लेकर झगड़े के कारण ऐसा हो सकता है, तो जवाब मिला कि 'लेकिन उस वजह से कोई किसीको मार डालेगा क्यों ?'

इन अध्ययनों से मनुष्य स्वभाव के बारे में नयी दृष्टि मिलती है। मानव के भविष्य की नयी आशा बँधती है। ●

आक्रमण, पराक्रम और आत्म-प्रतिष्ठा : १६ :

कनाडा में ओजिब्वा नामक एक आदिवासी जाति है। इसमें कभी कभी किसी-न किसीको एक 'दर्शन' या 'स्वप्नादेश' होता है कि उस लड़ाई में विजय प्राप्त होने वाली है। तो वह दूसरों को इसका सन्देश देता है और स्वयंसेवकों की माँग करता है। ये स्वयंसेवक करीब एक साल तक तालीम लेते हैं, युद्ध की तैयारी करते हैं। फिर पड़ोस की किसी बस्ती पर हमला करते हैं। जो इस लड़ाई में अच्छा पराक्रम दिखाते हैं, उनको इनाम मिलता है।

नागाओं में तथा दुनिया की और कई आदिवासी जातियों में मुण्ड शिकार की प्रथा थी और आज भी शायद अफ्रीका में कहीं-कहीं होगी। इसमें किसी एक गाँव के या ग्राम-समूह के लोग दूसरे गाँव या गाँवों पर हमला करके वहाँ के लोगों के सिर काट-कर ले आते थे। इन कटे मुण्डों को बड़े गौरव के साथ गाँव के सार्वजनिक स्थान में रखा जाता था। इस अवसर पर पूजा, उत्सव आदि भी होते थे।

अपने देश में दिग्विजय की प्रथा थी। कोई न कोई राजा अपनी श्रेष्ठता साबित करने के लिए युद्ध करने निकलते थे। दुनियाभर में इस प्रकार हुआ है। सिकन्दर, चंगेज खाँ, तैमूर, अशोक आदि तो मशहूर दिग्विजेता थे।

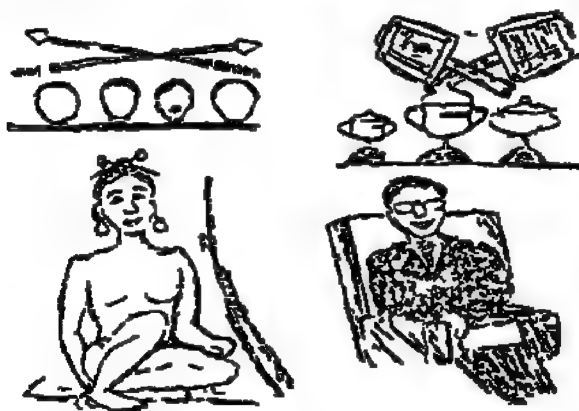
गिरोह या समाज में जिस प्रकार यह आचरण दिखाई देता है, उसी प्रकार व्यक्तियों में भी देखने को मिलता है। नागा आदि आदिवासियों में व्यक्ति भी मुण्ड-शिकार करने पर उतारू होते थे। पड़ोस के गाँव के पास या जंगल में छिपकर बैठते थे और कोई अकेला बेखबर मनुष्य उधर से निकला, तो उसका सिर काट लेते थे। मारपीट, लड़ाई-झगड़े तो दुनिया में हर रोज चल ही रहे हैं।

स्वार्थ के विरोध से तो झगड़ा होता ही है। राम की गाय श्याम के खेत में गयी तो श्याम गाय को पीटेगा और शायद राम को भी पीटने पर उतारू हो जायगा। स्वार्थ तथा मतवादों के संघर्ष के कारण दुनिया में लड़ाइयाँ हुई हैं और हो भी रही हैं। पर ऊपर दिये गये ओजिब्वा तथा दूसरी जातियों की करतूतों में स्वार्थ का भी सवाल नहीं होता। ओजिब्वा लड़ाकू टोली या नागा ग्रामवासी जिन बस्तियों पर

हमला करते थे उनके साथ इनका किसी प्रकार के स्वार्थ क संघर्ष का अस्तित्व तक नहीं होता था। न उनसे इनको किसी प्रकार के आक्रमण का खतरा होता था, जिसमे ये अपने बचाव के लिए हमला करते। तो यह लडाइ के शुद्ध आनन्द के लिए ही लडाइ हुई न?

इसी प्रकार क सबूतो क आधार पर यह व्यापक तौर पर माना जाता है कि मनुष्य म एक आक्रामक वृत्ति है, जो लडाइ-झगडे से ही तुष्ट होती है। इसलिए लडाई झगडो को मनुष्य जीवन का अपरिहार्य अंग माना गया है और शान्ति चाहनेवालों के लिए यह एक महत्त्व का सवाल बन गया है। अगर सिर्फ झगडे ही नही, युद्ध भी मनुष्य की बुनियादी वृत्ति या प्रेरणा है तो फिर शान्ति कहाँ!

पर मानव विज्ञान के शोधो से दूसरे प्रकार का सबूत भी मिला है। नागाओं के बारे म हमने पहले देखा है उनम आपस मे कभी झगडे नही होते। आरापेश जाति के



एक प्रेरणा दो स्वरूप
सामाजिक सन्दर्भ के अनुसार
पराक्रम वृत्ति का स्वरूप बदलता है।

बारे मे भी हमने यही देखा। इस तरह और कइ जातियो के उदाहरण दिये जा सकते है। इसका रहस्य क्या है?

मनुष्यो म तथा प्राणियों मे भी भूख यास काम वृत्ति जैसी कोइ हाजत पैदा होती है तो उसकी पूर्ति के लिए वह प्रयत्न करता है। इस प्रयत्न में बाधा आती है तो उसको लाँघने के लिए भी वह प्रयत्न करता है।

मनुष्य अपना अन्न पैदा करने के लिए खेती करता है। कोइ मजदूरी नौकरी या व्यापार करके कमाता है और पैसे से अन्न खरीदता है। इन सब धन्धो के लिए मनुष्य बहुत पुरुषार्थ करता है। पथरीली जमीन को तोडकर खेती क लायक बनाता है।

जमीन फोड़कर कुआँ बनाता है। महीना या बरसों प्रयत्न करके धन्धा सीखता है। नींद हराम करके रात को पढ़ाई करता है या दूकान का हिसाब लिखता है।

यह पराक्रम सामाजिक रूप भी लेता है। नदियों को वश में करने के लिए तथा सिंचाई के लिए विशाल बाँध बनाये जाते हैं, बड़ी-बड़ी नहरें खोदी जाती हैं। सूक्ष्म यन्त्र और विराट् कारखाने बनाये जाते हैं। इस तरह प्रतिकूलताओं को लाँघकर अपना ध्येय हासिल करने के लिए अकेले व्यक्ति भी तथा समूह भी प्रयत्न करते पाये जाते हैं।

सिर्फ अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही नहीं, उनसे कोई सम्बन्ध न रखनेवाले ध्येयों के लिए भी मनुष्य इस प्रकार पुरुषार्थ करता है। हिलारी और टेनजिंग एवरेस्ट की चोटी पर चढ़े, तो उनके पीछे भूख-प्यास या काम-वृत्ति का कौन-सा तकाजा था? जगदीशचन्द्र वसु या चन्द्रशेखर वेंकट रामन् विज्ञान के महान आविष्कार किये बिना भी अपना पेट पाल सकते थे। महात्मा गांधी या जवाहरलाल नेहरू आजादी के लिए मेहनत किये बिना भी आराम की जिन्दगी जी सकते थे।

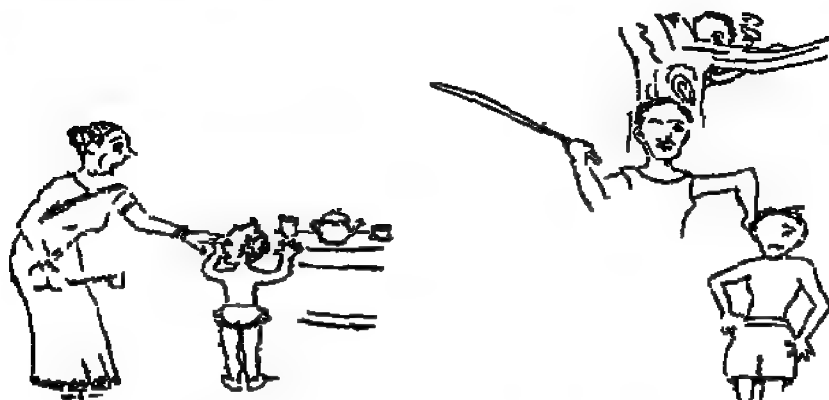
मतलब यह कि सामाजिक सन्दर्भ से भी मनुष्य के ध्येय पैदा होते हैं और भूख, प्यास आदि से भी उन ध्येयों की प्रेरणा अधिक जबर्दस्त हो सकती है। राष्ट्रीयता, मानवीय अधिकार, सामाजिक न्याय, आज की प्रतिष्ठा, धर्म का गौरव आदि पचासों या सैकड़ों ध्येय मनुष्य सामाजिक सन्दर्भ में अपनाता है और उनके लिए जीवन न्योछावर करने को तैयार हो जाता है।

इस तरह पुरुषार्थ करने की, प्रतिकूलता के सामने जूझने की वृत्ति मनुष्यों में सर्वत्र पायी जाती है। फ्रायड आदि कई वैज्ञानिकों का मानना था कि यह आक्रामक वृत्ति का ही सुसंस्कृत (सब्लाइमेटेड) रूप है। यानी दूसरों से लड़ने-झगड़ने की वृत्ति ही संयत होकर तथा लक्ष्य परिवर्तन करके बाधा विघ्नों के सामने जूझने के रूप में प्रकट होती है। आजकल मनोविज्ञान में अक्सर 'आक्रामक वृत्ति' (अग्रेसिवनेस) शब्द का उपयोग इसी अर्थ में किया जाता है। अधिक पैदा करने के लिए मेहनत करनेवाला किसान, बाँध बनाकर नदियों को काबू में करने की कोशिश करनेवाला इंजीनियर, मरीज की जान बचाने के लिए दिन-रात एक करनेवाला वैद्य और कुदरत के रहस्यों को उद्घाटित करने के लिए खोज और प्रयोग करनेवाला वैज्ञानिक भी अपनी अपनी 'आक्रामक वृत्ति' चरितार्थ करते हैं, ऐसा कहा जाता है।

लेकिन अब प्रयोगों से यह साबित हुआ है कि मनुष्यों में इस प्रकार पुरुषार्थ करने की एक बुनियादी प्रेरणा ही होती है। उसको एचीवमेंट मोटीवेशन ('साफल्य-प्राप्ति की प्रेरणा') के नाम से पहचाना गया है।

जॉर्ज वाशिंगटन का एक मशहूर वचन है, जो उसने अपने बचपन में अपनी डायरी में लिखा था "ए फेन्स इज ए टेंपटेशन टू जंप"—"सामने बाड़ हो तो वह फाँदकर पार करने को प्रेरित करती है।" असफलता मिली या बाधा आयी तो उसका सामना करने के लिए चित्त विशेष रूप से प्रेरित होता है। इसका रोचक प्रयोग हुआ है। कुछ बच्चों को खिलौनों से कुछ काम करने को दिये गये। इनमें से आधे कामों को

उन्होंने पूरा किया पर बाकी के आधे को पूरा करने से उनको रोक लिया गया। फिर बाद में उनको खेलने के लिए मौका दिया गया। पर देखा गया कि खेल के बीच में वे अपने अधूरे कामों को पूरा करने की कोशिश अधिक करते थे। इसी तरह वर्गों को



नयी सामर्थ्य प्राप्त करने की आपके बच्चों की
कोशिशों को आप नापसन्दगी की दृष्टि से देखते हैं?



काम करने दिया गया और कुछ काम अधूरे छोड़ गये तो बाद में याद करने पर अधूरे काम ही ज्यादा याद आये।

व्यक्तियों में पुरुषार्थ या पराक्रम में फर्क देखने को मिलता ही है। जिन्होंने समाज-सेवा, राजनीति, विज्ञान, साहित्य, कला, दर्शन आदि के क्षेत्रों में विशेष पराक्रम किया है उनकी बात छोड़िए, सामान्य जीवन में भी अपनी समस्याओं के सामने कोई अधिक पराक्रम करता है, कोई कम, तो और कोई पहले से ही हार मानकर घुटने टेक देता है। अपने देश में अक्सर यह शिकायत की जाती है कि सरकारी कर्मचारियों में काम के प्रति निष्ठा कम होती है। अपनी जिम्मेवारियों को पूरा करने के लिए वे भरसक प्रयत्न नहीं करते। काम हुआ तो हुआ। नहीं हुआ तो नहीं हुआ, कागजात दुरुस्त रहे तो ठीक है। कहा जाता है कि ये पैसे के लिए काम करते हैं, उनमें त्याग भावना या देश-प्रेम नहीं होता, इसलिए ऐसा होता है।

पर दूसरे कई देशों में देखने को मिलता है कि सरकारी कर्मचारी कहीं अधिक लगन से काम करते हैं। जिम्मेवारी पूरी करने के लिए तकलीफ उठाते हैं। उनको तनख्वाह तो भरपूर मिलती है बल्कि हमारे देश की तुलना में ज्यादा मिलती है। अपने यहाँ भी ज्यादा तनख्वाह देकर देखा गया है। पर ज्यादा तनख्वाह से लग





या प्रोत्साहित करते हैं?

पुरुषार्थ बढ़ता है, ऐसा दीखता नहीं। असल में देश-देश के बीच भी पराक्रम-वृत्ति की मात्रा में फरक होता है। एक देश से दूसरे देश की पराक्रम-वृत्ति का औसत स्तर ऊँचा-नीचा होता है। समाज की रीति नीति और श्रद्धाएँ, परिवार में बच्चों की परवरिश के तरीके, शिक्षण-पद्धति आदि पर यह निर्भर है।

इन दिनों दुनिया के कई पिछड़े हुए राष्ट्र अपनी तरक्की के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। उनको बाहर से भी तरह-तरह की मदद मिल रही है। पर सब राष्ट्रों में प्रयत्न का स्तर एक सा नहीं है। कहीं देशवासी ज्यादा बुद्धि और मेहनत लगाकर आगे बढ़ रहे हैं, तो कहीं पुरुषार्थ की कमी है। बाहर से मदद जितनी मिल सकती है मिल जाय, हम अपनी उँगली नहीं हिलायेंगे, इस प्रकार की भिखारी वृत्ति भी कई जगह लोगों में देखने को मिलती है। तो, इस प्रकार यह एक बहुत बड़ी और व्यापक समस्या है। तफसील से इसकी छानबीन में यहाँ उतरना सम्भव नहीं है। व्यक्तियों की मानसिक विशेषताओं के अलावा बाहर की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक सन्दर्भ की परिस्थिति के कारण भी लोगों में पराक्रम वृत्ति के प्रस्फुटन में बाधा आती है।

पराक्रम-वृत्ति को जाँचने के तरीके भी सोचे गये हैं, जिससे किसी व्यक्ति में उसके प्रमाण का पता लग सके। किसी जिम्मेदारी के स्थान के लिए मनुष्य को चुनना हो, जिसमें पुरुषार्थ, अभिक्रम आदि के गुण जरूरी हों, तो इन तरीकों के द्वारा उम्मीदवारों

में पराक्रम-वृत्ति का पता लगाकर योग्य व्यक्ति चुना जा सकता है। आजकल फौजों में अफसर चुनने के लिए, व्यापारी संस्था या बड़े उद्योगों में संचालक चुनने के लिए इस प्रकार की जाँचों का उपयोग दूसरे देशों में काफी व्यापक पैमाने पर हो रहा है।



प्रोत्साहन का परिणाम

यह वृत्ति ही व्यक्ति तथा समाज के सभी प्रकार के विकास और प्रगति का उद्गम स्थल है। सर्वोदय आन्दोलन में हम 'जन शक्ति' की बात करते हैं तो जनता में इसी वृत्ति का सामूहिक विकास हमारा ध्येय होता है। इसलिए बचपन से इस वृत्ति के विकास के लिए पर्याप्त अवसर तथा प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। लेकिन अपने देश में अक्सर उल्टा ही होता है, खास करके मध्यम वर्ग में। 'उधर मत जा

गिरोगे !" "मत दौडो", "उसको हाथ मत लगाओ", "चुप बैठो" इस प्रकार के निषेधो से बच्चों का जीवन घिरा हुआ होता है। नदी या तालाब मे तैरने, पेड पर चढने, धूप में खेलने की मनाही होती है। इस तरह उनकी पराक्रम वृत्ति बचपन में ही कुचल दी जाती है।

इसके मुख्यतया तीन प्रकार के परिणाम होते हैं। एक तो यह कि बच्चे दब्बू और डरपोक बन जाते हैं। फिर उनमे इस वृत्ति की विकृति चुगलखोरी, गुटबाजी आदि के रूप मे प्रकट होती है। दूसरा परिणाम यह होता है कि बच्चे बगावत करते है। कुछ लडके, और कभी कभी लडकी भी, ऊधमी, अबाध्य, दु साहसी निकलते है। यह बगावत प्राणशक्ति की स्वस्थ प्रतिक्रिया है। इन्हींमे जान होती है और आगे चलकर ऐसों से ही समाज को कुछ लाभ मिलने की आशा रखी जा सकती है। तीसरे प्रकार में, बच्चे ऊपर-ऊपर से विधि-निषेधों का पालन करते हैं, परन्तु पालको से छिपाकर मनमानी करते हैं। इस तरह वे अपना मार्ग बना लेते हैं, पर इसमे खतरा होता है। मार्गदर्शन के अभाव में बडी गलतियाँ करने की सम्भावना होती है। बच्चों को पराक्रम करने का मौका देना चाहिए, फिर उसके खतरों से आगाह भी कर देना चाहिए।

एक लडका तैरना सीखना चाहता है। उसके पालक उसका विरोध करते है, तो हो सकता है, वह लुक-छिपकर तैरने जाय और किसी दुर्घटना का शिकार हो जाय। बेहतर यही है कि उसे तैरना सीखने में मदद की जाय और साथ-साथ उसमें किस प्रकार की सावधानी रखनी चाहिए, इसकी भी जानकारी दी जाय। इस तरह से यह अधिक सम्भव है कि पालकों पर उसका विश्वास बना रहेगा और उनकी सलाह लेने के लिए उसकी अधिक तैयारी रहेगी।

हमने आक्रामक वृत्ति से चर्चा शुरू की थी। पराक्रम-वृत्ति आक्रामक वृत्ति का सुधरा हुआ स्वरूप है, इस धारणा से लेकर पराक्रम की स्वतन्त्र वृत्ति को मान्यता देने तक हम पहुँचे। अब इससे भी आगे की बात मानने का कारण भी है और वह यह कि लडाई-झगडे की वृत्ति अलग मूलभूत वृत्ति नहीं है, बल्कि पराक्रम या पुरुषार्थ का ही एक विशिष्ट या विकृत रूप है।

एरिक फ्रम ने इसका अच्छा विवेचन किया है। उनका कहना है कि मनुष्य मे एक 'श्रेष्ठत्व लाभ की वृत्ति' होती है। इसकी व्याख्या उन्होंने इस प्रकार की है:

मनुष्य का बच्चा जन्म से असहाय होता है, दूसरों पर निर्भर रहता है। इसलिए उसमें इस असहायता से छुटकारा पाने की प्रेरणा होती है। फिर आगे चलकर कुदरत की शक्तियों के सामने वह अपने को असहाय पाता है, तो कुदरत को जीतकर उस असहायता से अपने को मुक्त करने की, कुदरत की शक्तियों पर अपना 'श्रेष्ठत्व' साबित करने की प्रेरणा होती है।

अपनी शारीरिक और बौद्धिक योग्यता बढाकर वह बचपन की असहायता से मुक्त होता है। कुदरत के नियमों को जानकर तथा अपनी कला और कारीगरी के द्वारा वह

कुदरत पर श्रेष्ठता प्राप्त कर सकता है करता है। किसान खेती से अन्न उपजाता है, तो उसमे कुदरत पर उसकी विजय होती है। इञ्जीनियर बाँध बनाता है, तो उसी रूप मे अपनी श्रेष्ठता का प्रतिपादन करता है।

जो बात कुदरत के बारे म है, वही मनुष्य समाज मे भी है। मनुष्य अपने समाज म अपनी समझ और सूझ क द्वारा बेहतर मानवीय सम्बध स्थापित करने म मदद करके अपने तकनीकी ज्ञान के द्वारा समाज को भौतिक कठिनाइयो से मुक्त करके तथा अपनी कलाकृतियो तथा दूसरी सास्कृतिक सृष्टिया के द्वारा समाज के आन्तरिक जीवन को समृद्ध करके अपना श्रेष्ठत्व साबित कर सकता है।

लेकिन जहाँ मनुष्य म इस प्रकार सृजनशीलता के द्वारा या ज्ञान क द्वारा अपना श्रेष्ठत्व साबित करने की सूझ नही होती वहाँ वह विध्वस के द्वारा उसे जाहिर करने की कोशिश करता है। मै बना नही सकता हूँ, तो बिगाड तो सकता हूँ। 'फ्रम क



सस्कृति और विकृति
एक को बनाने में पुरुषार्थ का अनुभव होता है दूसरे को तोडने म।

अनुसार चगेज खॉ जैसे विध्वसकों की वृत्ति इसी प्रकार की थी। लाखों मनुष्यों का कत्ल करके सैकडो गॉव और शहरो को जलाकर, इस प्रकार के मनुष्य अपना श्रेष्ठत्व जाहिर करना चाहते है। इस दृष्टि से विध्वसक-वृत्ति सृजनशीलता की विकृति है।

दूसरे वैज्ञानिको ने भी इस तरह मास्टरी या विजय लाभ की वृत्ति का स्वतन्त्र अस्तित्व माना है। 'योनर ने विवेचन किया है कि इसके मुख्य चार पहलू हैं। ज्ञान की रुचि या कुतूहल को वह इसका अंश मानते हैं। कुतूहल या एषणा को हम अलग माने या श्रेष्ठत्व लाभ या विजय लाभ का अश माने यह विचार गौण है लेकिन प्रयोग से साबित हुआ है कि यह वृत्ति मनुष्येतर प्राणियों में भी होती है। चूहा को भूलभुलैया म डालकर उन पर मनोवैज्ञानिक प्रयोग किया जाता है। खाद्य की खोज म वे कितनी जल्दी उसका मार्ग निकाल सकते हैं इसका पता लगाया जाता है। तो कई बार बिना खाद्य के आकर्षण क ही ये चूहे भूलभुलैया म घूम फिरकर उसका पता लगाने लगते हैं। बन्दरा में भी यह वृत्ति जोरदार होती है। ज्ञान से ही विजय प्राप्ति म मदद मिलती है। दूसरा ये मानते हैं कि मनुष्य म अपनी अन्दरूनी शक्ति तथा सम्भावनाओ का

विकास करके अपने 'अपनापन' को मूर्त-स्वरूप देने की प्रेरणा होती है। श्रेष्ठत्व या विजय लाभ का यह भी एक पहलू है। इसमें मनुष्य अपनी अन्दरूनी शक्तियों पर विजय प्राप्त करता है। इसकी अधिक चर्चा हम आगे करेंगे।

तीसरा, नेतृत्व करने, दूसरो पर प्रभाव जमाने की प्रेरणा को भी वे इसका एक रूप मानते हैं तथा अन्तिम है सृजनशीलता।

इसके अलावा 'वोनर' तथा दूसरा ने 'स्टेटस' या प्रतिष्ठा को भी एक 'नीड' या हाजत गिनायी है। धन के जरिये, जातिगत श्रेष्ठता का प्रतिपादन करके, विद्या की श्रेष्ठता से, सत्ता का पद पाकर, और इसी तरह के तरीकों से समाज में अपनी प्रतिष्ठा या बडप्पन जतलाने की कोशिशों से हम सब परिचित हैं।

हम देख सकते हैं कि यद्यपि 'क्रम' तथा 'वोनर' के विश्लेषणों में कुछ फरक है, फिर भी दोनों ने एक ही चीज की ओर इशारा किया है। 'वोनर' आदि की 'प्रतिष्ठा' (स्टेटस) भी 'क्रम' के 'श्रेष्ठत्व लाभ' में आ जाती है।

जैसे दूसरी वृत्ति या प्रेरणाओं के चरितार्थ होने का या काम करने का ढग उस-उस समाज की परम्परा या रीति-नीति के अनुसार निर्धारित होता है, वैसे इस वृत्ति के मामले में भी होता है। भिन्न-भिन्न समाज में पराक्रम या श्रेष्ठत्व-लाभ के अलग-अलग तरीके प्रचलित हुए हैं। परिवार की परम्परा से बच्चे सीखते हैं, पर पारिवारिक परम्परा भी सामान्यतया आसपास के समाज के अनुसार बनती है। मारवाडी, कोमटी या चेट्टीयार परिवार के लडके को व्यापार में ही पराक्रम करने का सूझेगा। नेपाली, कोडगी या पजाबी को अक्सर फौजी पराक्रम ही सूझने की सम्भावना है। इस तरह एक-एक समाज की या जाति की अमुक-अमुक परम्पराएँ बन गयी हैं। अब आर्थिक, राजनैतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों के बदलने के कारण इन सबमें भी परिवर्तन हो रहा है। परन्तु पुराना ढाँचा आज भी देखने को मिलता है और विशेष रूप से आदिवासी समाजों में।

अध्याय के शुरू में हमने ओजिब्वा जाति की युद्ध-प्रथा का तथा दूसरी जातियों के मुण्ड शिकार का उल्लेख किया था। हमने देखा कि उनके इन प्रयासों में आत्मरक्षा, धन प्राप्ति या बदला आदि की आकांक्षा गौण होती है। जो लडाई में या मुण्ड-शिकार में भाग लेते हैं, समाज में उनकी प्रतिष्ठा बढती है, गौरव होता है, विशेषत: अभियान के नेता का। नागाओं में तो हालत यह थी कि कोई जवान एक आध मुण्ड शिकार करके नहीं लाता है, तो उससे शादी करने के लिए कोई लडकी तैयार ही नहीं होती थी। स्पष्ट है कि इनमें पराक्रम करने के, प्रतिष्ठा तथा गौरव प्राप्त करने के ये परम्परागत तरीके हैं। जैसे किसी अंग्रेज या अमेरिकन को सूझता है कि चलो, एक टोली बनाकर उत्तरी ध्रुव या एवरेस्ट की चोटी पर सैर कर आयें, ओजिब्वा लोगों की वह विजय-यात्रा वैसी ही होती है।

कनाडा में क्वाकीउटल नाम की दूसरी एक जाति है। उसमें दूसरों पर श्रेष्ठत्व जतलाने का तरीका दूसरा होता है। सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए उनमें आपस में

जबरदस्त प्रतियोगिता चलती है, पर शांतिपूर्ण ढंग से। बीच बीच में ये लोग भोज का उत्सव करते हैं, इसे पोटलाच कहा जाता है। इन अवसरों पर खिलाने पिलाने में तो दूसरों से अधिक खर्च करके बड़प्पन दिखाया जाता है, उसके अलावा कम्बल, ताँबे के बरतन तथा दूसरी कीमती चीजें नष्ट भी कर दी जाती हैं। जो जितना ज्यादा बरबाद कर सके, वह उतना बड़ा। इस तरह की प्रतियोगिता में किसीकी हार होती है, तो बहुधा वह आत्मघात कर बैठता है। अपने देश में ब्याह शादी, श्राद्ध आदि में दीखनेवाले खर्चीलेपन में भी इसी चीज की झलक मिलती है।

आरापेश जाति के बारे में पिछले अध्याय में जिक्र आया है। यह बिल्कुल शांति प्रिय जाति है। इनमें आपस में लड़ाई वगैरह होती ही नहीं। पर अलग-अलग गाँवों के व्यक्तियों के बीच में प्रतियोगिता की छूट रहती है। दो गाँवों के दो व्यक्ति एक-दूसरे को चुनौती देते हैं कि चलो, शिकार में, अन्न उपजाने में या सूअर पालने में कौन अधिक कर दिखाता है।

ग्रीनलैण्ड की एस्कीमो जाति में लड़ाई की परम्परा है ही नहीं। किसी दूसरे का अपमान करना हो या उससे अपने को श्रेष्ठ साबित करना हो, तो दोनों आमने सामने खड़े होकर एक दूसरे का विद्रूप करके गाना गाते हैं। दूसरे लोग दर्शक के तौर पर उपस्थित रहते हैं। फिर वे ही बताते हैं कि किसकी जीत हुई।

सामाजिक या सांस्कृतिक वातावरण के कारण किस प्रकार इस वृत्ति का स्वरूप बनता है इसका अच्छा उदाहरण अमेरिका की कोमांचे जाति है। अठारहवीं सदी में यह बड़ी शांत और घुमक्कड़ जाति थी। योरोप के लोग अमेरिका में पहुँचे, तो उनके जरिये उन्नीसवीं सदी में घोड़े और बन्दूक उनके पास पहुँचे। इनके सहारे दूर दूर जाकर लूटमार करने, गाय बैल चुराने में सहूलियत हुई और इस प्रकार के उपद्रव करने के लिए आसपास बसे हुए योरोपियन लोगों ने उनको प्रोत्साहन दिया। चोरी के गाय-बैल और गुलाम बनाने के लिए पकड़े गये कैदी आदि को ये इन योरोपियनों के हाथों बेचते थे। इस तरह ये लोग उस प्रदेश के लिए आतंक बन गये। बाद में उनके रहने के लिए अमेरिकी सरकार ने एक विशेष क्षेत्र निश्चित कर दिया। कुछ दिनों बाद परिस्थिति फिर बदली और लूटमार का कोई अवसर या लाभ नहीं रहा तब ये लोग फिर से धीरे धीरे शांत स्वभाव के बन गये।

तो इस तरह हम देखते हैं कि श्रेष्ठत्व लाभ के तरीके अलग अलग समाजों की परम्पराओं के अनुसार अलग अलग होते हैं। और जो चीज परम्परा के कारण बनती है परम्परा को बदलकर उस चीज को बदला भी जा सकता है।

पराक्रम के और प्रतिष्ठा प्राप्त करने के जिन तरीकों से अशान्ति पैदा होती है दूसरों को त्रास होता है अपमान होता है समाज में संघर्ष पैदा होता है उनको टाला जा सकता है। जिनसे समाज को लाभ ही हो परस्पर सौमनस्य बढ़े उस प्रकार के ध्येय अपनाये जा सकते हैं।

आरापेश समाज में हमने देखा कि पैदावार बढाने मे ही वहाँ प्रतियोगिता होती है। इनमें तथा जुनी जाति मे धन या सत्ता से प्रतिष्ठा प्राप्त करने का रिवाज नहीं है। सत्ता के पद पर कोई स्वेच्छा से नहीं जाता, लोग किसीको मनाकर बैठाते है, यह हमने देखा है। विनय को ही वहाँ महत्त्व दिया जाता है। तो, जो अधिक विनयशील हो, उसीकी ज्यादा प्रतिष्ठा उस समाज में होती है। इस तरह दूसरों को दबाकर वहाँ कोई प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं करता।

इस तरह अपने देश में तथा दुनिया के कई भागों में धन कमाने मे प्रतिष्ठा मानी जाती है। पर आरापेशों में वैसा नहीं है। वहाँ कोई जानवर मारता है तो दूसरो को ही दे देता है। खुद नहीं खाता, इसीमें प्रतिष्ठा मानी जाती है। अपना मारा हुआ शिकार जो खाता है, वह समाज का नियम भग करनेवाला समझा जाता है।

अपने देश में यह भी परम्परा थी और है कि धन कमाकर उससे कुऑ, तालाब, धर्मशाला आदि बनवानी चाहिए। इस तरह समाज का कल्याण करने मे प्रतिष्ठा मानी जाती थी। आधुनिक सन्दर्भ में भूदान, ग्रामदान, सम्पत्तिदान आदि के द्वारा प्रतिष्ठा प्राप्त करने का मार्ग विनोबाजी ने बताया है। यह परम्परा चल पडी, तो प्रतिष्ठा के ये कल्याणकारी मार्ग होंगे।

विद्या से, साहित्य, कला, शिल्प आदि की कृतियों से, इञ्जीनियरिंग के निर्माण-कार्यों से, उद्योग-धन्धों के सगठन से, बीमारियों के निराकरण के प्रयत्न से, निसर्ग के रहस्यों के शोध से तथा और सैकडों-हजारों तरीकों से मनुष्य अपनी श्रेष्ठत्व-वृत्ति चरितार्थ कर सकता है, विजय और प्रतिष्ठा का अनुभव प्राप्त कर सकता है, जो तरीके कल्याणकारी, शान्तिमय हों। इनकी सम्भावनाएँ आज चारो ओर खुल गयी है।

पर सवाल होगा कि अपने ध्येय के लिए प्रयत्न करते हुए मनुष्य को बाधाओं का सामना करना पडता है, एक के साथ दूसरे के ध्येय का विरोध होता है। इस तरह निष्फलता का अनुभव होता है, और जहाँ निष्फलता आयी, वहाँ गुस्सा भी आता है। मनुष्य स्वभाव मे गुस्सा तो है ही। इसलिए लडाई-झगडे भी जरूर पैदा होते रहेंगे। उनका अन्त कहाँ होगा?

इस सवाल की चर्चा आगे करेंगे। उससे पहले निष्फलता का कुछ विवेचन कर लेना उचित होगा।

निष्फलता के परिणाम १७

मानसिक द्वन्द्व तथा निष्फलता के कुछ परिणामों की चर्चा हमने इससे पूर्व —११वें अध्याय में—की है। मानसिक आत्म-रक्षा का तंत्र किस तरह मनुष्य को उसमें से बचा लेता है यह हमने वहाँ देखा। उससे वह व्यक्ति तो द्वन्द्व या निष्फलता के अनुभव से बच जाता है पर सफलता उससे दूर रहती है।



स्थानान्तरित आक्रमण 

यहाँ हम बाहरी कारणों से होनेवाली निष्फलता के कुछ और परिणाम देखेंगे।

कुछ बच्चों को एक अहाते में खेलने को छोड़ दिया गया। वहाँ कुछ खिलौने थे जो टूटे हुए या अधूरे थे। उनमें से कुछ बच्चे उन्हीं अधूरे खिलौनों से ही शौक से खेलने लगे। खिलौनों की अपूर्णता उन्होंने कल्पना से पूरी कर ली। नाव को तैराने के लिए पानी नहीं था तो फर्श पर ही उसे ढकेलने लगे इत्यादि। पर और कुछ बच्चे इस तरह से खेले नहीं। उनमें से कुछ आपस में झगड़ने लगे। कुछ चुपचाप बैठे रहे। कुछ खिलौनों की तोड़फोड़ करने लगे। कोई जमीन पर लेटकर गाना गाने लगा। कुछ बच्चे वहाँ खड़े बड़े मनुष्यों के पास रोने गिड़गिड़ाने लगे।

इस प्रभेद का कारण क्या था? जो बच्चे मस्त होकर खेल रहे थे उन्होंने कभी पूरे खिलौने देखे ही नहीं थे। जो मिला, उसीसे उन्हें आनन्द हुआ। पर बाकी को इससे पहले पूरे खिलौनों से खेलने दिया गया था उसका अनुभव उन्हें हो चुका था इसलिए टूटे खिलौने देखकर उनको निष्फलता का अनुभव हुआ। उनमें उसके कई परिणाम देखने को मिले। इसका एक सामान्य परिणाम है—उद्देश्यहीन छटपटाहट। क्या करें यह सूझता नहीं है तो मनुष्य बेहद छटपटाता है।

दूसरा असर होता है गुस्सा आक्रमण की भावना। उसे ऐसा लगता हो कि अमुक व्यक्ति के कारण अपनी इच्छा पूरी नहीं हो रही है तो उस पर आक्रमण करने की

प्रेरणा होती है। मनुष्य पर आक्रमण नहीं कर सकता, तो वस्तुओं को ही तोडने-फोडने लगता है।

यह आक्रमण वृत्ति दूसरे के प्रति भी मुड सकती है। माँ-बाप बच्चे को बाधा देते हैं, तो उन पर आक्रमण करने से बच्चा डरता है, इसीलिए वह अपना गुस्सा दूसरे किसी पर उतारता है। खिलौनों को तोडता है। बाबू दफ्तर में बडे साहब से धमकियाँ खाकर घर आते हैं और बीवी पर गुस्सा उतारते हैं। बहू सास से जली-कटी सुनने के बाद अपने बेटे को पीटने लगती है। इसको 'स्थानांतरित आक्रमण' (displaced aggression) कहा जाता है।

इसी तरह देश में बेकारी है, चीजों के भाव बढ गये हैं, नौकरी का ठिकाना नहीं है, तो लोग निष्फल होकर कहीं बंगालियों पर, तो कहीं मुसलमानों पर गुस्सा उतार लेते हैं।





की शृङ्खला !

निष्फलता की तीसरी प्रतिक्रिया है उदासीनता, 'एपैथी'। अपनी मानसिक दुविधाओं में परिश्रांत होकर या बुद्धि कुंठित होने पर मनुष्य उदासीन बन जाता है। उसे फिर उस विषय में ही नहीं, दूसरे विषयों में भी खास रस नहीं रहता। उसकी काम करने की शक्ति भी बहुत घट जाती है। जैसे—उपर्युक्त प्रयोग में—टूटे खिलौने देखकर कुछ बच्चे चुपचाप बैठे रहे।

उसकी एक और प्रतिक्रिया है 'फण्टेसी' या आकाश-कुसुम रचना—मन के लड्डू खाना। व्यवहार में जो नहीं हुआ, उसे कल्पना में पूरा कर लेते हैं। जैसे बच्चों के खेल में इस कल्पना का बहुत बडा स्थान होता है। लाठी को वे घोडा बना देते हैं। चारपाई उनके लिए जहाज बन जाती है। खेल में यह चीज अच्छी है। इस कल्पना-शक्ति के सहारे ही तो सारे काव्य, साहित्य आदि कलाकृतियों की रचना हुई है। इसके द्वारा मनुष्य जीवन समस्याओं का तरह तरह का हल ढूंढता है और इस तरह समस्याओं के नये हल हाथ लगते हैं।



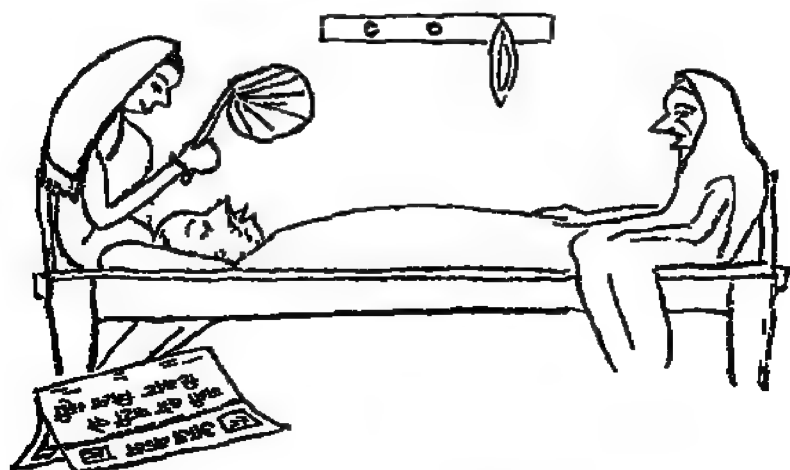
दिवास्वप्न !

पर जब यह कल्पना शक्ति निष्फलता से बचने के लिए एक आश्रय बन जाता है, तब उसकी सूरत कुछ भिन्न होती है। पागल मनुष्य इसकी चरम अवस्था मे मन ही मन अपने को राजा मानता है। वास्तविक दुनिया से बिछुड़कर वह अपनी मनगढ़त दुनिया मे विचरता है। सामान्य मनुष्य उस हद तक तो नहीं जाता। पर अपने कल्पना राज्य मे बहुत हद तक विहार करता है। हम सभी कभी न कभी 'दिवास्वप्न' देखते ही हैं।

एक और प्रक्रिया है, जिसे 'दृष्टि विभ्रम'—हैलुसिनेशन—कहा जाता है। उसका उल्लेख यही कर लेना चाहिए। मनोगत भावना अत्यधिक तीव्र होती है तो आँखो के सामने आकांक्षित वस्तु दिखती है। कानो से वैसी आवाज सुनाई देती है मानो जाग्रत अवस्था का स्वप्न ही हो। एक मशहूर फ्रांसीसी विमान-चालक तथा लेखक साँत एक्सुपेरी तथा उनके एक साथी एक बार सहारा मरुभूमि में हवाई जहाज टूट जाने के कारण खो गये थे। वहाँ उस साथी के साथ इधर-उधर भटकते रहे। तो तीन चार दिन के बाद उन्हें दृष्टि भ्रम होने लगा। उनको दिखाई देता कि कुछ लोग लालटेन लेकर उनकी ओर आ रहे हैं, तो कभी देखते कि बस अब गाँव और कुँए दिख रहे हैं। भूख तथा प्यास से कमजोरी तथा अत्यधिक उद्वेग के कारण वैसा होता था।

कभी कभी सुनने या पढ़ने मे आता है कि फलाँ मनुष्य के सामने उसके इष्टदेव या दिवंगत गुरु प्रकट हुए और यह आदेश दिया। तो समझना चाहिए कि वह उनके अपने मन की आत्यंतिक भावना का ही परिणाम है।

निष्फलता की पाँचवी प्रतिक्रिया होती है, 'रिग्रेशन' या पश्चात्‌वर्तन। यानी जब



मनोरथ भंग का परिणाम पश्चात्‌वर्तन

बुद्धि आगे नहीं चलती तब पिछली उम्र मे उसने जिस प्रकार आचरण किया हो वैसा

करती है। तीन साल का मुन्ना सामान्यतया अपने हाथ से खा सकता है। टट्टी-पेशाब पर उसका काबू होता है, यानी बिछौना भिगोता नहीं है। अपने आप घूम-फिरकर खेलता है। अब उसके एक छोटा भाई पैदा हुआ। उसकी माँ उसीको लेकर व्यस्त रहने लगी, मुन्ने के लिए उसके पास समय कम रहा। तो अब मुन्ने का छोटे भाई के प्रति गुस्सा आयेगा कि इसीने मेरी माँ को मुझसे छीन लिया। वह कभी कभी उसे मारने की, नोच लेने की कोशिश करेगा। माँ उसे झिटकेगी। अब वह बिछौना भिगोने लगेगा, अपने हाथ से खाना नहीं खायेगा, स्वतंत्र घूमने के बदले बिस्तर पर पड़े रहकर हाथ-पैर पटकेगा। यानी अब वह छह महीने के बच्चे जैसा आचरण करने लगेगा। दस साल का बच्चा गुस्सा करने पर खिलौना को तोड़ता है, किताब फाड़ता है। पचीस साल का आदमी ऐसा नहीं करता। पर किसी-किसी परिस्थिति में अत्यधिक निष्फलता का अनुभव होने पर वह भी दस साल के लड़के जैसा तोड़-फोड़ करता है।

बच्चे किसी कठिनाई में पड़ने पर माँ के आँचल में आश्रय लेते हैं। कई बड़े मनुष्य भी अधिक कठिनाई पड़ने पर माँ या स्त्री का आश्रय लेते हैं। आजकल हमारे देश में किसी-न-किसी आध्यात्मिक 'माता' के शिष्य बनने का सिलसिला खूब चला है। इन शिष्यों में ऐसे कई लोग दीख पड़ते हैं, जो जीवन की समस्याओं से हारकर किसी माता का आश्रय लेते हैं, मानो बच्चा होकर माँ की गोद में मुँह छिपाते हैं।

एक छठी प्रतिक्रिया को अंग्रेजी में 'स्टीरियोटाइप' कहते हैं। उसे हम हिंदी में 'मूढाग्रह' कहेंगे। किसी काम में बार बार निष्फलता मिलती है, तो मन में कुछ ऐसा घरोंदा-सा बन जाता है कि फिर मनुष्य उसी काम को उसी ढंग से करता रहता है, एक प्रकार की लीक बन जाती है, जिसके बाहर वह निकल नहीं सकता। चूहों पर इसका अच्छा प्रयोग किया गया था।

एक चूहे के सामने दो बक्से रखे गये। एक के ढक्कन पर एक सफेद चिह्न था, दूसरे पर काला। सफेद चिह्नवाले बक्से में खाना रखा गया और चूहे के उस पर कूदते ही ढक्कन खुल जाता था और उसे खाना मिल सकता था। थोड़े समय के बाद वह उसे जान गया और हमेशा सफेद पर ही कूदकर खाना खाने लगा। अब उसके लिए निष्फलता की परिस्थिति रची गयी। किस बक्से में खाना मिले, यह अनिश्चित कर दिया गया। कभी इसमें मिलता, तो कभी उसमें, कभी यह खाली, तो कभी वह।

अब इस परिस्थिति में पड़कर चूहे की एक आदत बन गयी। वह एक ही तरफ एक ही बक्से पर हमेशा कूदने लगा। यहाँ तक कि जब दूसरा बक्सा खुला रखा जाता और उसमें रखा हुआ खाना साफ दिखाई देता, तब भी वह अपनी आदत छोड़ नहीं सकता था।

मनुष्यों में भी ऐसा होता है। मान लीजिए कि गाँव में कार्यकर्ता ने सफाई का कार्यक्रम उठाया है। पर उसमें लोग साथ नहीं देते। उसे निष्फलता का अनुभव होता है। पर वह न उस कार्यक्रम को बदल सकता है, न दूसरे ढंग से ही उसे कर सकता

है। एक ही प्रकार से वह बार-बार उसकी कोशिश करता रहता है। अपने उद्देश्य को आगे बढानेवाला दूसरा समर्थ कार्यक्रम सामने आ जाय तो भी वह उसका ध्यान खींच नही सकता।

बच्चे कभी कभी गणित म पढने लिखने आदि मे एक ही गलती बार बार करते रहते हैं। वह चाहे जितनी कोशिश करने पर भी सुधरती नहीं। हो सकता है कि जब उसने पहले गल्ती की, तब उसे समझाकर दुरुस्त करने के बदले उस पर धमकी या मार पडी हो। उसकी बुद्धि मे वह चीज उतरी नही। इस तरह बार बार धमकी या मार के साथ-साथ वह गल्ती भी करता गया, उसमें निष्फलता बढती गयी और इस तरह वह गल्ती बद्धमूल हो गयी।

निष्फलता के सामने जो सारी प्रतिक्रियाएँ स्वाभाविक रूप से होती है उनके सारे परिणाम बुरे या निरर्थक होते है ऐसा नही।

कल्पना प्रवणता, उदासीनता सातत्य, पराक्रम—ये सब अच्छे गुण हैं, जब तक वे बुद्धियुक्त होते है और बाहर की वास्तविकता से सबध रखते हैं। कल्पना से मनुष्य परिस्थिति का नया हल ढूँढता है। कभी किसी परिस्थिति का हल निकालना असभव सा लगता है तो उससे अपने को कुछ देर के लिए अलग कर हम उसके बारे में शाति से सोच सकते है। सातत्य के बिना किसी कठिन समस्या का हल निकलेगा ही कैसे! पर जब ये गुण जड आदत बन जाते हैं या व्यथता को ढँकने के लिए मनबहलाव के साधन बन जाते है तब उसका स्वरूप व्यर्थ प्रतिक्रिया का ही रह जाता है।

मा बी इन प्रतिक्रियाओ का ज्ञान हम हो तो हम उनसे सावधान रहने का प्रयत्न कर सकगे और दूसरो के साथ भी अधिक समझदारी से बरताव कर सकेंगे।

इन प्रतिक्रियाओं मे एक मुख्य प्रतिक्रिया है गुस्सा। अब उसकी चर्चा जरा तफसील से करगे। भय शोक आनद आदि दूसरे भावो के समान गुस्सा भी मनुष्य तथा प्राणियो मे एक बुनियादी भाव है। गाय के चारे में दूसरी गाय मुँह डालने लगती है तो वह सींग हिलाती है फुँकारती है और उससे भी काम न बना तो हमला करती है। बिलकुल छोटे बच्चे के हाथ पैर पकड रखे जायँ उसे हिलने डुलने न दिया जाय तो वह गुस्से से चिल्लाने लगता है। उसका मुँह लाल हो जाता है अपने को छुडाने के लिए वह जोर से कोशिश करता है।

गुस्सा प्राणी या मनुष्य को शारीरिक मुठभेड या सघर्ष के लिए तैयार करता है। उस समय उसके शरीर की स्वाभाविक क्रियाओं में कई परिवतन होते हैं। किडनी क ऊपर स्थित आड्रेनाल ग्रथि से नोराड्रनालिन नामक रासायनिक पदार्थ का क्षरण होने लगता है। इसके असर से हृदय अधिक तेजी से चलने लगता है। शरीर में खून का प्रवाह तेज होता है। उदर आदि अदरूनी यत्रो म खून का सचालन घट जाता है और हाथ पैर आदि अवयवों में बढ जाता है। यकृत रक्त प्रवाह म ज्यादा शक्कर डालने लगता है। साँस फूलने लगती है, जिससे फेफडों म ज्यादा हवा जाय और शरीर को अधिक अम्लजान मिले। इनके अलावा और कई छोटे मोटे परिवर्तन भ

होते हैं। इन सबका उद्देश्य होता है शरीर को मेहनत के लिए, लड़ाई के लिए तैयार करना। हृद्यन्त्र तेजी से चलकर पेशियों को ज्यादा खून पहुँचाता है और उसमें अधिक शक्कर तथा अम्ल जमा होते हैं तो इससे पेशियों को अधिक मेहनत के लिए खुराक मिलती है। इस तरह गुस्से का संबंध लड़ाई से जुड़ा हुआ है।

गाय, कुत्ते या बंदरों में एक-दूसरे के साथ विरोध होता है तो अक्सर दैहिक ताकत आजमाकर ही उसका हल होता है। दिमाग चलाने की खास जरूरत नहीं होती। बहुत पुराने जमाने में मनुष्य के जीवन में भी वही प्रकार था। आज भी बिल्कुल सरल आदिवासी समाज में इस प्रकार शारीरिक प्रतिकार का कुछ उपयोग हो सकता है। पर बहुत सारे क्षेत्रों में मानव का जीवन इतना जटिल बन चुका है कि उसमें इस प्रकार के शरीर-बल का कोई उपयोग नहीं रहा है। मान लीजिए, दूकानदार आपको उचित कीमत पर सामान बेच नहीं रहा है। आप गुस्से में आकर उसको दो चपत जड़ देंगे तो मामला सुधरने के बजाय अधिक बिगड़ेगा। कई बार लोग गुस्से में आकर प्रदर्शन, तोड़फोड़ आदि करते हैं, पर उन सबका कोई खास परिणाम आता दीखता नहीं। मान लीजिए, प्रधानमंत्री को काला बाजार करनेवालों पर गुस्सा आता है। तो उनकी पेशियों में शक्कर की मात्रा बढ़ने से काले बाजार से लड़ने की ताकत तो नहीं बढ़ेगी! आजकल लड़ाइयों में भी शस्त्रों के उपयोग के लिए ठंडे दिमाग की जरूरत होती है। गुस्से का खास उपयोग नहीं होता। अधिक गुस्सा आने पर व्यवस्थित चिंतन में भी बाधा आती है।

बाधा का कारण यदि मनुष्य न हो, नैसर्गिक हो, तो अक्सर गुस्सा नहीं आता, और आता भी है तो उसकी व्यर्थता बिल्कुल साफ दीखती है। मेरा रेडियो काम नहीं करता है, तो मैं गुस्से में आकर उसे पटक सकता हूँ, लेकिन मुझमें उसकी यांत्रिक बनावट का ज्ञान होगा, तो पेचकस लेकर उसे दुरुस्त करने बैठूँगा। रेडियो मेकानिक के पास बिगड़े हुए पचासों रेडियो आते हैं, लेकिन उसे गुस्सा नहीं आता। बिगड़ा रेडियो देखकर उसे उत्साह आता है, उसकी पराक्रम वृत्ति को चुनौती मिलती है।

यानी समस्या के हल का उपाय मालूम है, तो गुस्सा आता नहीं है। उपाय न सूझने पर झुँझलाहट—गुस्सा—आता है। जड़ वस्तुओं के बारे में मानव ने अनुभव से सीखा है कि उनके पीछे निसर्ग के जो नियम हैं, उनके बनावट की जो बारीकियाँ हैं, उनको समझकर ही उन वस्तुओं से सम्बद्ध समस्याओं का हल निकाला जा सकता है। पर यह ज्ञान उसे काफी अनुभव के बाद ही मिला होगा।

शिशु अपनी माँ या दूसरे बड़े मनुष्यों के सहारे ही जीना शुरू करता है। उसकी इच्छा तथा हाजतों की पूर्ति उन्हींके माध्यम से होती है। उसी प्रकार इच्छा या हाजतों की पूर्ति में बाधा भी वह उन्हींसे पहले अनुभव करता है। खाना नहीं मिला, तो लगता है कि माँ नहीं दे रही है। जाड़ा लगा तो समझता है कि माँ ने फिकर नहीं की। इसलिए उसकी यह धारणा बनती है कि उसकी इच्छाओं की पूर्ति में दूसरे व्यक्तियों के प्यार, गुस्सा आदि ही बाधक या साधक होते हैं। तो, वह जड़ वस्तुओं

में भी मनुष्यों जैसी भावनाओं का आरोप करता है। मानव की आदिम अवस्था में बचपन की इस धारणा जैसी श्रद्धा बड़ों के प्रति भी होती थी तथा अभी भी कई जगह है। निसर्ग की हर चीज में किसी आत्मा देवता भूत आदि का आरोप वे करते थे। बारिश नहीं हुई बाढ़ आयी, फसल में कीड़े लगे तो वह मानता था कि किसी न किसी देवता या भूत प्रेत के रोष या द्वेष के कारण ही ऐसा होता होगा। तो इनको संतुष्ट करने या भगाने के लिए वह प्रयत्न करता था। कभी कभी यह भी सोचता था कि उसकी फसल अच्छी नहीं आयी या गाय मर गयी तो यह दुर्घटना उसके किसी दुश्मन के कारण हुई, जिसने तन्त्र मन्त्र से ऐसा करवाया है। तो जिस पर वह सदेह करता था उससे बदला लेने को उतारू हो जाता था।

बहुत अनुभवों के बाद मानव निसर्ग के बारे में बहुत हद तक वास्तविक दृष्टि प्राप्त करने में समर्थ हुआ है। लेकिन मनुष्यों तथा समाज-रचना के बारे में वास्तविक दृष्टि अभी तक न पूरी आयी है न व्यापक हो पायी है। इसलिए जहाँ मनुष्यों के कारण निष्फलता का अनुभव होता है, वहाँ सहज गुस्सा आ जाता है। पर यह प्राचीन युग का एक अवशेष है ऐसा मानकर चलना चाहिए। मनुष्य की रीढ़ के नीचे दुम की चार-पाँच हड्डियों का अवशेष है। शरीर पर रोंओं का अवशेष है। इनका कोई खास उपयोग नहीं है फिर भी वे हैं। इस तरह गुस्से की शारीरिक प्रतिक्रियाएँ भी एक जमाने के अवशेष हैं यह समझ लें और जब गुस्सा आता है, तब उसकी ओर खास ध्यान न दें और उसे महत्त्व न दें तो उस गुस्से का प्रभाव हमारे आचरण पर पड़ने का खतरा नहीं रहता। गुस्सा आया, कुछ निरुपद्रवी शब्दों में और हाथ-पैर हिलाने में प्रकट हुआ फिर धीरे धीरे शात हो गया। जब गुस्से को बहुत गलत मानकर दबाने की कोशिश करते हैं तब वह ज्यादा खतरनाक होता है। उसे पूरा पूरा दबाना तो कभी सभव नहीं होता इसलिए जब वह दबाव के बावजूद फूट निकलता है तब अत्यत जोरदार और काबू के बाहर हो जाता है।

हमने पहले भी देखा है कि गुस्से को बाहर से रोकने पर द्वेष पैदा होता है। शुरू में द्वेष नहीं होता। खास करके बचपन में गुस्सा बहुत आसानी से और तीव्रता के साथ आता है और उतनी ही जल्दी चला भी जाता है। बच्चे आपस में टकरायेंगे, कुछ मिनट झगड़ेंगे मारपीट करेंगे फिर आधे घंटे के बाद गले मिलकर साथ खेलने लगेंगे। माँ ने मुन्ने को अमरूद खाने से रोका क्योंकि उसका पेट खराब है। मुन्ने ने गुस्से में आकर माँ को नोच लिया मुक्का मारा। माँ हँसती हुई उसे रोक लेती है या गले लगा लेती है तो ठीक है। दस मिनट के बाद मुन्ना वह प्रसग भूल जाता है। लेकिन माँ यदि उसे उलटे चपत लगाती है डाँटती है तथा दूसरे लोग भी कहते हैं अरे, तू माँ को मार रहा है कैसा बेहूदा लड़का है इत्यादि तो उससे उस बच्चे का गुस्सा क्रमशः द्वेष की ओर बढ़ता है।

यह विचार गलत है कि बच्चों को लड़ाई झगड़े से या गुस्सा करने से रोकने से उनके चारित्र्य में शांतता आयेगी। हाँ ऐसा वातावरण पैदा करना चाहिए, जिसमें

लड़ाई-झगड़े का मौका कम हो, सहकार और मेलजोल के लिए अनुकूलता ज्यादा हो। तिस पर भी झगड़े होंगे। इनको बाहर से रोकने की कोशिश करेंगे, डरायेंगे, धमकायेंगे, सदुपदेशों की बौछार बरसायेंगे, तो उसका परिणाम स्थायी द्वेष और कटुता पैदा करने में होगा। इसकी तो उपेक्षा ही करनी चाहिए और अंदर से अपने को रोकने की शक्ति उनमें विकसित हो, ऐसी मदद करनी चाहिए, उसकी राह देखनी चाहिए। यह शक्ति तो कुछ समझ बढ़ने से और कुछ उमर बढ़ने से आती है। चाय की केतली में भाप तो पैदा होती है, पर साथ साथ निकल जाने के कारण उसकी कोई ताकत नहीं बनती। पर इंजन में वही भाप आबद्ध होकर जमा होने के कारण उसमें बड़ी ताकत पैदा होती है। गुस्सा आदि के बारे में भी यही नियम लागू होता है।

फिर हमें ध्यान में रखना चाहिए कि निष्फलता के कारणों के बारे में सही जानकारी, निराकरण के उपाय का ज्ञान होने पर गुस्से का अनुभव नहीं होता। ज्ञान से ही समस्या का हल होगा—यह ज्ञान भी संतुलन रखने में मदद कर सकता है।

ज्ञान के लिए समय भी लगता है। प्रयोग करना पड़ता है, चिंतन करना पड़ता है। यानी तब तक निष्फलता को सहन करते रहने की जरूरत होती है। बच्चों में निष्फलता या द्वंद्व को सहन करने की शक्ति बहुत कम होती है। इसलिए उनमें अवदमन, आरोपण आदि मानसिक आत्म-रक्षा के तंत्र जोरों से काम करते हैं। बड़ों में भी किसीमें यह शक्ति कम, तो किसीमें ज्यादा होती है। निष्फलता या द्वंद्व सहन करने की शक्ति कम होने पर उसका मन अपने बचाव के लिए कई उपाय करता है, जिसका विवेचन हमने इस अध्याय के शुरू में तथा ११वें अध्याय में किया है। आत्मरक्षा के तंत्र के सहारे अपने को धोखा देने या इस अध्याय में वर्णित प्रतिक्रियाओं से मानसिक तनाव से मुक्त हो जाने से मानसिक शांति तो मिलती है, पर सफलता मिलती नहीं। हाँ, कभी कभी समस्या अपनी शक्ति से बाहर की हो और निष्फलता का अनुभव अति प्रबल हो, तो इस प्रकार मन अपने आपको बचाकर ठीक ही करता है। लेकिन आखिर द्वंद्व या निष्फलता के असमाधान को सहन करने की शक्ति बढ़ानी चाहिए, तभी समस्याओं के सही हल निकालने की सामर्थ्य बढ़ेगी।

मन और व्यक्तित्व की रचना : १८ :

पिछले अध्यायों में हम बार-बार देख चुके हैं कि बच्चों को प्रेम और सुरक्षा की कितनी जरूरत होती है। बड़ों में भी बच्चों के प्रति प्रेम होता है, तो फिर प्रेम का अभाव कहाँ है? बात यह है कि बच्चे को सभ्यता और नैतिकता सिखाने के लिए, कोई भी चीज सिखाने के लिए, ताड़न की आवश्यकता मानी जाती है। इसके बिना नैतिक और सभ्य आचरण असम्भव माना जाता है।

में भी मनुष्य जैसी भावनाओं का आरोप करता है। मानव की आदिम अवस्था में बचपन की इस धारणा जैसी श्रद्धा वस्तु के प्रति भी होती थी तथा अभी भी कई जगह है। निसर्ग की हर चीज में किसी आत्मा, देवता, भूत आदि का आरोप वे करते थे। बारिश नहीं हुई, बाढ़ आयी, फसल में कीड़े लगे, तो वह मानता था कि किसी न किसी देवता या भूत-प्रेत के रोष या द्वेष के कारण ही ऐसा होता होगा। तो इनको संतुष्ट करने या भगाने के लिए वह प्रयत्न करता था। कभी-कभी वह भी सोचता था कि उसकी फसल अच्छी नहीं आयी या गाय मर गयी या यह दुर्घटना उसके किसी दुश्मन के कारण हुई जिसने तंत्र-मंत्र से प्रेरण करवाया है। तो जिस पर वह शक करता था उससे बदला लेने को उतारू हो जाता था।

बहुत अनुभवों के बाद मानव निसर्ग के बारे में बहुत हद तक वास्तविक दृष्टि प्राप्त करने में समर्थ हुआ है। लेकिन मनुष्यों तथा समाज-रचना के बारे में वास्तविक दृष्टि अभी तक न पूरी आयी है न व्यापक हो पायी है। इसलिए जहाँ मनुष्यों के कारण विफलता का अनुभव होता है वहाँ सहज गुस्सा आ जाता है। पर यह प्राचीन युग का एक अवशेष है ऐसा मानकर चलना चाहिए। मनुष्य की रीढ़ के नीचे दुम की चार पाँच हड्डियों का अवशेष है। शरीर पर रोंओं का अवशेष है। इनका कोई खास उपयोग नहीं है फिर भी वे हैं। इस तरह गुस्से की शारीरिक प्रतिक्रियाएँ भी एक जमाने के अवशेष हैं यह समझ लें और जब गुस्सा आता है, तब उसकी ओर खास ध्यान न दें और उसे महत्त्व न दें तो उस गुस्से का प्रभाव हमारे आचरण पर पड़ने का खतरा नहीं रहता। गुस्सा आया, कुछ निरुपद्रवी शब्दों में और हाथ-पैर हिलाने में प्रकट हुआ फिर धीरे-धीरे शांत हो गया। जब गुस्से को बहुत गलत मानकर दबाने की कोशिश करते हैं तब वह ज्यादा खतरनाक होता है। उसे पूरा पूरा दबाना तो कभी संभव नहीं होता इसलिए जब वह दबाव के बावजूद फूट निकलता है तब अत्यंत जोरदार और काबू के बाहर हो जाता है।

हमने पहले भी देखा है कि गुस्से को बाहर से रोकने पर द्वेष पैदा होता है। शुरू में द्वेष नहीं होता। खास करके बचपन में गुस्सा बहुत आसानी से और तीव्रता के साथ आता है और उतनी ही जल्दी चला भी जाता है। बच्चे आपस में टकरायेंगे कुछ मिनट झगड़ेंगे मारपीट करेंगे फिर आधे घंटे के बाद गले मिलकर साथ खेलने लगेंगे। माँ ने मुन्ने को अमरूद खाने से रोका, क्योंकि उसका पेट खराब है। मुन्ने ने गुस्से में आकर माँ को नोच लिया मुक्का मारा। माँ हँसती हुई उसे रोक लेती है या गले लगा लेती है तो ठीक है। दस मिनट के बाद मुन्ना वह प्रसंग भूल जाता है। लेकिन माँ यदि उसे उल्टे चपत लगाती है डाँटती है तथा दूसरे लोग भी कहते हैं 'अरे, तू माँ को मार रहा है कैसा बेहूदा लड़का है' इत्यादि तो उससे उस बच्चे का गुस्सा क्रमशः द्वेष की ओर बढ़ता है।

यह विचार गलत है कि बच्चों को लड़ाई झगड़े से या गुस्सा करने से रोकने से उनके चारित्र्य में शांतता आयेगी। हाँ, ऐसा वातावरण पैदा करना चाहिए, जिसमें

लड़ाई-झगड़े का मौका कम हो, सहकार और मलजोल के लिए अनुकूलता ज्यादा हो। तिस पर भी झगड़े होंगे। इनको बाहर से रोकने की कोशिश करेंगे, डरायेंगे, धमकायेंगे, सदुपदेशों की बौछार बरसायेंगे, तो उसका परिणाम स्थायी द्वेष और कटुता पैदा करने में होगा। इसकी तो उपेक्षा ही करनी चाहिए और अंदर से अपने को संयत करने की शक्ति उनमें विकसित हो, ऐसी मदद करनी चाहिए, उसकी राह देखनी चाहिए। यह शक्ति तो कुछ समझ बढ़ने से और कुछ उमर बढ़ने से आती है। चाय की केतली में भाप तो पैदा होती है, पर साथ-साथ निकल जाने के कारण उसकी कोई ताकत नहीं बनती। पर इंजन में वही भाप आबद्ध होकर जमा होने के कारण उसमें बड़ी ताकत पैदा होती है। गुस्सा आदि के बारे में भी यही नियम लागू होता है।

फिर हमें ध्यान में रखना चाहिए कि निष्फलता के कारणों के बारे में सही जानकारी, निराकरण के उपाय का ज्ञान होने पर गुस्से का अनुभव नहीं होता। ज्ञान से ही समस्या का हल होगा—यह ज्ञान भी संतुलन रखने में मदद कर सकता है।

ज्ञान के लिए समय भी लगता है। प्रयोग करना पड़ता है, चिंतन करना पड़ता है। यानी तब तक निष्फलता को सहन करते रहने की जरूरत होती है। बच्चों में निष्फलता या द्वंद्व को सहन करने की शक्ति बहुत कम होती है। इसलिए उनमें अवदमन, आरोपण आदि मानसिक आत्म-रक्षा के तंत्र जोरों से काम करते हैं। बच्चों में भी किसीमें यह शक्ति कम, तो किसीमें ज्यादा होती है। निष्फलता या द्वंद्व सहन करने की शक्ति कम होने पर उसका मन अपने बचाव के लिए कई उपाय करता है, जिसका विवेचन हमने इस अध्याय के शुरू में तथा ११वें अध्याय में किया है। आत्मरक्षा के तंत्र के सहारे अपने को धोखा देने या इस अध्याय में वर्णित प्रतिक्रियाओं से मानसिक तनाव से मुक्त हो जाने से मानसिक शांति तो मिलती है, पर सफलता मिलती नहीं। हाँ, कभी कभी समस्या अपनी शक्ति से बाहर की हो और निष्फलता का अनुभव अति प्रबल हो, तो इस प्रकार मन अपने आपको बचाकर ठीक ही करता है। लेकिन आखिर द्वंद्व या निष्फलता के असमाधान को सहन करने की शक्ति बढ़ानी चाहिए, तभी समस्याओं के सही हल निकालने की सामर्थ्य बढ़ेगी। ●

मन और व्यक्तित्व की रचना : १८ :

पिछले अध्यायों में हम बार-बार देख चुके हैं कि बच्चों को प्रेम और सुरक्षा की कितनी जरूरत होती है। बड़ों में भी बच्चों के प्रति प्रेम होता है, तो फिर प्रेम का अभाव कहाँ है? बात यह है कि बच्चे को सभ्यता और नैतिकता सिखाने के लिए, कोई भी चीज सिखाने के लिए, ताड़न की आवश्यकता मानी जाती है। इसके बिना नैतिक और सभ्य आचरण असम्भव माना जाता है।

पर बच्चों के साथ कठोर बरताव करने का क्या दुष्परिणाम आ सकता है, इसके कुछ उदाहरण हमने देखे हैं। तो क्या नैतिकता सिखाने की कोशिश छोड़ देनी चाहिए?

हममें जिस प्रकार सिखाने की धुन होती है, उसी प्रकार बच्चों को भी सीखने की जरूरत होती है। इसलिए उनमें उसके अनुरूप स्वाभाविक प्रेरणाएँ होती हैं। हैडफिल्ड के अनुसार इसके क्रमशः चार स्तर होते हैं।

बिल्कुल छुटपन से ही बच्चों को बड़ों के अनुकरण करने की प्रेरणा होती है। बड़े जो करेंगे बच्चे भी वही करने की कोशिश करेंगे। इस उम्र में उदाहरण ही सच्चा उपदेश यह कथन अक्षरशः लागू होता है। बच्चे से आप जो करवाना चाहते हैं वह खुद करके बताइये। हमको अक्सर भय होता है कि बच्चे सामान तोड़ेंगे बिगाड़ेंगे। पर उनको सही ढंग से चीजों का इस्तेमाल करना सिखा दिया जाय तो वे उसमें बहुत सावधानी बरतते हैं और उसमें अपनी कुशलता के लिए प्रसन्नता और गर्व भी महसूस करते हैं। एक सज्जन ने अपने छोटे बच्चों को कप तश्तरी आदि चीनी बरतन इस्तेमाल करने दिया और टूटे बरतनों का हिसाब रखा तो पाया कि बच्चों ने एक अवधि के अन्दर जितने बरतन तोड़े बड़ों ने उससे कहीं अधिक बरतन तोड़े थे।

दो-ढाई साल में इसके साथ अभिभावशीलता जुड़ती है। वह बड़ों की सिर्फ क्रियाओं का अनुकरण नहीं करता उनके भावों से भी प्रभावित होता है। यह एक प्रकार की मानसिक निमग्नशीलता है। इस समय बड़े जिस प्रकार के भाव दिखायेंगे बच्चों में भी वही संक्रमित होगा। बड़े लोग झगड़ालू होंगे तो बच्चे भी झगड़ालू होंगे। बड़े लोग शान्त होते हैं तो बच्चे भी शान्त होते हैं। पिछली लड़ाई के समय लन्दन में पाया गया कि जब माताएँ बम की वर्षा से डरती नहीं थीं तो बच्चे भी डरते नहीं थे।

इस समय उससे आप चिढ़कर कहेंगे कि 'ए! क्या करते हो? ऐसा मत करो।' तो वह भी उसी लहजे में जवाब देगा 'नहीं! मैं जरूर करूँगा।' पर आप शान्त भाव से कहेंगे कि 'अरे! तुम ऐसा गन्दा काम नहीं करते हो। करोगे क्या?' तो वह भी शान्त भाव से कहेगा 'नहीं! नहीं करूँगा।' बड़ों में मेहनत के प्रति अरुचि होगी मजबूरन् अप्रसन्न होकर वे काम करते होंगे तो बच्चे भी मेहनत के लिए अरुचि रखने लगेंगे।

स्पष्ट है कि बच्चे के प्रति बड़ों का जो रुख होगा बच्चा वही ग्रहण करेगा। बच्चा बीमार होगा और माँ खुद उद्विग्न होकर कहेगी कि 'कुछ हुआ नहीं है, तुम अच्छे हो जाओगे' तो वह बच्चा माँ के उद्वेग से प्रभावित होकर खुद उद्विग्न होगा, उसके शब्दों से नहीं। माँ चिढ़कर बच्चों को चुपचाप बैठने के लिए या अदब से बरताव करने के लिए कहेगी तो वे चिढ़ना ही सीखेंगे।

अक्सर बच्चों को कड़वी दवा पिलानी हो तो उससे बार बार कहा जाता है— 'मीठी है, पी लो। खराब नहीं लगेगी।' पर जिस भाव से कहा जाता है उसका

असर उल्टा ही होता है। बडो की चिन्तायुक्त भावना के असर से बच्चा भी चिन्तित हो उठता है और दवा पीना नहीं चाहता। फिर जबर्दस्ती पिलायी जाती है। मुझे अपने बच्चों को तीन-चार साल की उम्र में क्विनाइन मिक्सचर पिलाना पडता था। मै उनसे शान्त भाव से कहता था कि यह कडवी तो है, पर आराम होने के लिए पीना होता है। तो वे बिना किसी प्रकार की जबर्दस्ती के पी लेते थे। झूठा आश्वासन मै उनको कभी नहीं देता था।

इस समय बच्चों मे स्वतन्त्रता की इच्छा भी पैदा होती है। वे अपनी इच्छा से काम करना चाहते है। इसलिए वे जिद्द करते है। अक्सर उनकी इस जिद्द को तोडना मुनासिब समझा जाता है। यह प्रयत्न सफल हुआ, तो बच्चा बिल्कुल निष्प्राण और कमजोर हो जाता है। उसमे इच्छा-शक्ति नहीं पनपती। वह जीवनभर अत्यन्त अभिभावशील रह जाता है। दूसरो की इच्छा से चालित होता है, भीड के आवेश मे बहक जाता है।

अब बच्चे की जिद्द को क्या करें? अक्सर वह ऐसे बहुत सारे कामों के लिए जिद्द करता है, जिन्हे करने दिया जाय तो कोई नुकसान नहीं है। फिर इस समय उसमे जिज्ञासा और पराक्रम की जो प्रेरणाएँ होती हैं और जिनके अनुसार वह बहुत कुछ करना चाहता है, उनको विधायक मार्ग देना चाहिए। बाकी कम-से-कम विषयों मे उसे रोकना चाहिए। फिर ऐसे मामलों में आप शान्त भाव से, लेकिन दृढता से 'नहीं' कहेंगे, तो वह समझ जायगा। अक्सर उसकी हर हरकत को रोकने की वृत्ति बडों मे होती है, उसकी हर हरकत को अविश्वास की दृष्टि से देखा जाता है तो उसमे भी बडों के लिए अविश्वास ही पैदा होता है।

तीसरी सीढी होती है समरसता (आयडेण्टीफिकेशन) की। अब बच्चा एक कदम आगे बढकर अपने को दूसरों के साथ एकरूप मानने लगता है। अक्सर लडके अपने पिता से और लडकियाँ माता से समरस होती है। पर समय समय पर दूसरो के साथ भी समरस होते है। कभी वह मजदूर बनकर 'काम' करता रहेगा, कभी इजन-ड्राइवर बनेगा और कभी इजन भी बन जायगा। इससे दूसरा के रग-ढग सीखने मे मदद होती है। इस तरह बच्चे माँ बाप के और दूसरा के भी साथ अपने को समरस करते है, उनके छोटे छोटे रग ढग भी खुद मे उतार लेते है। इस तरह माता-पिता के दुर्गुण भी उनमे उतर आते है। ऐसी स्थिति मे माता-पिता बच्चो पर जबर्दस्ती करते है और अपने जैसे बनने के लिए उन पर दबाव डालते है, तो उसमे क्या लाभ होता है? इसमे बच्चे की अन्त प्रेरणा, अभिक्रम और स्व-शासन की वृत्तियाँ मारी जाती है। बहुत सम्भव है कि वह इससे बगावत करे और फिर उन बुजुर्गों के साथ अपने को समरस न करे। उसे समरस बनने के लिए इस समय दूसरा कोई अच्छा आदर्श मिल जाय तो ठीक, वरना वह कुमार्ग पर जा सकता है। बगावत तो अच्छी होती है। उसके बजाय वह अपने को बुजुर्गों की कठोरता के साथ समरस करने का प्रयत्न करे और उनकी भाँति अपने को निन्दा की दृष्टि से देखने लगे, तो इसकी परिणति

मानसिक व्याधि मे हो सकती है। इस उम्र मे माता पिताओं के अलावा दूसरे उन्नत स्वभाव के व्यक्तियों से समरस होने का मौका मिलता है, तो विकास का अधिक सुयोग मिलता है।

यह समरसता की वृत्ति बड़ी उम्र मे भी रहती है। हमने देखा है जिस तरह मानसिक स्वास्थ्य के लिए इसका उपयोग होता है।

इससे आगे जाकर बच्चा अपने लिए एक आदर्श बना लेता है। कहा गया है समरसता की अवस्था मे वह कहता था "मै काका के जैसा बहादुर हूँ।" अब वह कहता है "मैं बहादुर हूँ।" हमने पिछले अध्याय मे 'सुपर इगो' के बारे में देखा है। बालक धीरे धीरे माता पिता के विधि निषेधो को अपने में समा लेता है और फिर वही उसको अन्दर से प्रेरणा देनेवाला विवेक बन जाता है। 'अहं का आदर्श' इस सुपर इगो से सम्बन्ध रखता है। बाहर से जो आदेश मिलता है वह है सुपर इगो। उसके अनुसार अपने लिए जो धारणा बनती है वह 'ईगो-आयडियल'। सुपर-ईगो कहता है 'डरना नही चाहिए।' इगो आयडियल कहता है "मै बहादुर हूँ।"

इस सुपर इगो के स्वरूप से उसके भविष्य का जीवन बहुत सम्बन्ध रखता है।

छोटे बच्चो की भावनाएँ तीव्र होती हैं। बौद्धिक विचार शक्ति अविकसित होती है। इसलिए उन्हे जो जरा भला लगता है, तो भला ही लगता है और जो बुरा लगता है, सो बुरा ही लगता है। जीजी बिस्कुट नही देती तो वह 'बुरी' हो जाती है जब तक कि जीजी कोई सत्कार्य करके उसकी सदिच्छा सम्पादन न करे। इस तरह बच्चे 'भला और बुरा'—इन दो स्पष्ट पर्यायो मे ही सोच सकते है किसी वस्तु के किसी मनुष्य की खिपतों का सूक्ष्म पृथक्करण उनकी पहुँच के बाहर होता है।



बच्चा अपने स्वरूप की प्रथम कल्पना दूसरों से पाता है।

जो माता-पिता अनुशासन प्रिय और कड़े होते हैं उनकी नैतिकता भी इसी प्रकार काला और सफेद दो रंगो की होती है। आदेश माननेवाला—न माननेवाला पढ़ाई करनेवाला—न करनेवाला शिष्ट—दुष्ट इस प्रकार के टुकड़ों मे ही वे सोचते हैं। इस कड़े अनुशासन को बालक अपने सुपर इगो मे समा लेता है तो वह उसके भी सहज अच्छा-बुरावाले नीतिबोध के साथ मेल खाता है। इससे वह सुपर इगो मजबूत बन जाता है। फिर वह बालक अपने को तथा दूसरो को बहुत कड़ाई के साथ ही जाँचता रहता है। उसका अभिक्रम और विचार शक्ति मारी जाती है। विवेक और बुद्धि एक-दूसरे से बिछुड़ जाते है। सूक्ष्म विवेचन करने की सामर्थ्य उसमे आती नहीं।

फिर सुपर ईगो बिल्कुल ढीला हो, तो उसके सामने आचरण का कोई आदर्श नहीं रह जाता। वह अपने को बहुत कम सयत कर पाता है और उसका चरित्र बहुत दुर्बल बनता है। इसलिए उसके सामने सूक्ष्म विवेकयुक्त तथा उदार आचरण का आदर्श रहना चाहिए।

इस तरह एक तरफ अपना अह और दूसरी तरफ आदर्श या सुपर ईगो के बीच मे उसमें एक द्वैत पैदा होता है। यह द्वैत अन्य प्राणियों मे नहीं होता, सिर्फ मनुष्यों में होता है। इससे वह अपने को देखनेवाला, आत्म-सचेतन, बन जाता है। बिल्कुल छोटे बच्चे में आत्म सचेतनता नहीं होती। अपने बारे में दूसरे क्या सोच रहे होंगे, यह उसकी चिन्ता का विषय नही होता। परन्तु चार पाँच साल में जब सुपर ईगो का समावेश होता है, तब दूसरे मेरे बारे में क्या सोचते होंगे, इसकी बडी चिन्ता उसे होने लगती है। किसी बालक की ओर आप थोडी देर ताकेंगे, तो वह शर्माने लगेगा। उसे लगता होगा कि क्या मेरे कपड़े गन्दे हैं? क्या मैं बदसूरत हूँ? क्यों ये मेरी ओर ताक रहे है? यह सचेतनता बडी उम्र तक रहती है। बारह-चौदह साल के लडके-लडकियाँ अपने हाथ पैरों के बारे मे, भावभगी के बारे मे, कपडो के बारे में बडे सचेतन होते है।

फिर उनमे अपनी आलोचना करने की शक्ति आती है। अपने सुपर ईगो के नाप से वे अपने को नापते हैं। तीसरी, उनमें आत्म सयम की शक्ति आती है। 'मैं सत्यवादी हूँ' यह मानकर वह सच बोलता है। 'मै साहसी हूँ' यह मानकर वह हिम्मत हारता नहीं है।

इस तरह वह नैतिक मूल्यों की दुनिया म पहुँचता है। नैतिक दुविधा का शिकार बनता है। एक तरफ उसकी सहज प्रेरणाएँ अन्दर से उठती रहती है। दूसरी तरफ सुपर ईगो का आदर्श होता है। इन दोनों मे बहुत फरक हो और सुपर-ईगो सिर्फ स्वाभाविक प्रेरणाओं का निषेध करनेवाला हो, तो इन दोनों मे सघर्ष प्रबल होगा और बहुत करके सुपर ईगो को अवाछित लगनेवाली प्रेरणा दबायी जायगी। इस प्रकार के अवदमन के परिणाम के कई उदाहरण हमने पहले देखे हे। उनको बढाने की जरूरत नहीं है। इस तरह से उसके मन के बिल्कुल दो टुकडे भी बन सकते है। एक वैज्ञानिक ने एक लडकी के इतिहास का वर्णन किया है, जिसके दो अलग अलग व्यक्तित्व थे। एक व्यक्तित्व बहुत ही शान्त, मितव्ययी, कठोर नैतिकता को माननेवाला, और दूसरा इससे करीब-करीब उलटा हल्लाप्रिय, मौज शौक का रसिक, फिजूलखर्ची। वह शुरू में पहले प्रकार की थी। अचानक उसमें परिवर्तन हुआ और वह दूसरे ढग से वर्ताव करने लगी। पहली स्थिति की स्मृतियाँ भी वह भूल गयी और अपना नाम तक। दूसरी स्थिति म उसने अपना एक नया नाम रखा था। ये दोनों स्थितियाँ बारी-बारी से आती थी और एक की जानकारी दूसरे को जरा भी नहीं होती थी। दूसरी स्थिति के बाद पहली स्थिति लौटी तो उससे पहले की पहली स्थिति की सारी

स्मृतियाँ, अपना नाम वगैरह वापस आतीं। पर दूसरी स्थिति की स्मृतियाँ बिल्कुल लुप्त हो जातीं। इस तरह उसका जीवन चलता रहा। इसका कारण यह था कि उसके बड़े-बुजुर्गों ने उसके स्वभाव के एक खास हिस्से का अवदमन किया था। यह अवदमित हिस्सा जोर करता रहा और उसकी एक बीमारी का मुयोग पाकर ऊपर उठ आया और दूसरे हिस्से को दबा दिया। फिर दोनों बारी-बारी से उठते मिटते रहे।

यह एक आत्यन्तिक घटना हुई। पर सामान्य अवदमन का परिणाम भी शोचनीय होता है। अवदमन को पूरा-पूरा टालना कठिन है। पर यथासम्भव कम करने की कोशिश करनी चाहिए।

यह तभी होगा जब हम अपनी अन्दरूनी प्रेरणाओं को मूलतः गलत न मानें। किसी प्रकार का आनन्द उपभोग करना पाप न समझें। कई लोगों के नीति-शास्त्र में आनन्द ही गलत होता है। हँसी, मजाक, नाटक, उपन्यास, भोजन, पान आदि किसीके द्वारा आनन्द पाना गलत लगता है, यौन-व्यवहार की तो बात ही नहीं। इसमें फिर हरएक प्रेरणा ही गलत और दबाये जाने के योग्य बनती है। कुछ भी करते समय मन में एक पाप-बोध रहता है।

आखिर नैतिकता है क्या? जैसे अफसरों के राज में था—कई समाजों में बाहरी अमन-चैन का बड़ा महत्त्व होता है। शासक वर्गों की सत्ता सुरक्षित रहे, सम्पत्तिवालों की सम्पत्ति सुरक्षित रहे, इसीकी मुख्य चिन्ता रहती है। इसलिए लोगों को डरा-धमकाकर अनुशासन में रखा जाता है। तो परिवारों में भी इसी प्रकार नैतिकता चलती है, जिसमें चुपचाप रहने पर, कोई हरकत न करने पर, समाज में जो भी नियम हों उसे मानने पर जोर दिया जाता है। अनुशासन मानना यही कइयों की दृष्टि में नैतिकता का सार है।

परन्तु यदि सृष्टि के वैचित्र्य का स्वाद लेना और उसका रहस्य खोजना जीवन का ध्येय मानते हों, तो फिर दुःख मिटाना, अन्याय और शोषण का अन्त करना, बीमारी के खिलाफ लड़ना, उत्पादन बढ़ाने तथा कुदरत को वश में लाने के लिए पराक्रम करना आदि बातों को नैतिकता की सूची में ऊँचा स्थान मिलेगा। लोगों से प्यार और मैत्री का सम्बन्ध जोड़ सकना उसका आधारभूत गुण होगा। ऐसी हालत में लोगों के बीच घुलने-मिलने की शिक्षा ही सबसे अधिक महत्त्व की होगी। अमन-चैन का महत्त्व भी रहेगा, पर इतना नहीं कि लोगों पर उसे भय के सहारे लादना पड़े। फिर अपनी क्रियाशीलता और पराक्रम-वृत्ति के लिए विधायक मार्ग मिलेगा, तो वह विध्वंसक राह नहीं पकड़ेगी। आगे आकर हम इस बात की चर्चा तफसील से करेंगे और इस बात की भी कि मनुष्य में दूसरों से मिल-जुलकर रहने की, दूसरों से प्यार पाने की और प्यार देने की भी चाह होती है।

बच्चे में जन्म से नैतिकता का कोई भान नहीं होता। पर उसका बीज होता है भला और बुरा पहचानने की चाह होती है। इसलिए उसको आकार देने की तथा

उसके अभ्यास और शिक्षण का सवाल आता है। इसका श्रेष्ठ मार्ग यही है कि बुजुर्ग उसके सामने सही आचरण का आदर्श रखें, सूक्ष्म विवेक-शीलता और उदार-सहिष्णुता का नमूना पेश करें तथा बालक की अपनी विचार-शक्ति के विकास के लिए अवसर दें। बालकों को दूसरों के सग से आनन्द मिलता है। इसलिए बॉटकर खाने में, साथ मिलकर खेलने में भी आनन्द मिलता है। हम इन वृत्तियों की सराहना करें, प्रोत्साहन दें, तो ये विकसित तथा दृढ होगी। इससे उल्टा हम आदेश से उस पर दूसरों के लिए आदर या दूसरों का साथ लादने की कोशिश करेंगे, तो बालक की स्वतन्त्र वृत्ति इस दबाव के खिलाफ बगावत करेगी। फिर वह आपके प्रति विरोध जाहिर करने के लिए स्वार्थी बनेगा। या आप उसको दबाव से अपनी बात मनवायगे, तो वह बाहर से सहकार करेगा, बॉटकर खायेगा, पर अन्दर से उसमें वैर, विरोध भरा रहेगा।

अक्सर बडो की आलोचना करना पुराने समाज मे बडा गलत माना जाता है। ऐसी स्थिति मे पारिवारिक और सामाजिक दबाव के कारण बालक बड़े विनयी होते हैं। बडों के सम्पर्क में बिलकुल सुशील स्वभाव के दीखते है। परन्तु हजारों परीक्षणो मे पाया गया कि ऐसों के मन के अचेतन में बडों के लिए बडा अनादर, द्वेष और आलोचना भरी हुई होती है, जैसे अमेरिका मे कॉलेज की विद्यार्थिनियो मे इस प्रकार के एक सर्वेक्षण मे पाया गया। उनका यह दबा हुआ द्वेष 'परायी' जमातों की ओर, जिनको वे अपने से निचले स्तर के समझते हैं उनकी ओर, बहने लगता है। इससे विपरीत, जो लडकियॉ अपने माता-पिताओं की आलोचना खुलकर करती थी, उनमे दबा हुआ द्वेष बहुत कम था और उनमे 'परायी' जमातो के प्रति उदार दृष्टि थी।

इस तरह बालक को स्वतन्त्रता का वातावरण मिलता है, उदार और सहिष्णु नैतिकता का आदर्श देखने को मिलता है और उसकी अन्दरूनी प्रेरणाओं को विधायक मार्ग मिलता है, तो उसमे स्वस्थ नैतिकता का विकास होता है। वह खुद निर्णय लेने मे समर्थ होता है, उसकी इच्छा शक्ति पनपती है और दृढ बनती है।

चार-पॉच साल के बाद बालक मे सवाल पूछने का तर्ज बदल जाता है। पहले वह सिर्फ 'क्या' पूछता था—यह क्या है, वह क्या है, अब 'क्यों' पूछने लगता है—'पिताजी क्यों दफ्तर जाते हैं?' और 'रामदीन का लडका क्यो स्कूल नहीं जाता?' और सीता ने क्यों गाय को पीटा?'—इस तरह वह 'कारण' जानना चाहता है। उसमे विचार-शक्ति का उन्मेष शुरू होता है। वह तर्क समझने के लिए तैयार होता है, समझना चाहता है।

अब हम बुद्धि का सहारा लेकर उसको नैतिक शिक्षण दे सकते है। इस उम्र मे चार से लगाकर सात, आठ साल की उम्र तक उसमे आत्मकेन्द्रिता अधिक होती है। अपनी सामर्थ्य के विकास की ओर उसका ध्यान होता है। 'मै कितना फॉद सकता हूँ', 'मैने कितना अच्छा चित्र बनाया है'—इस प्रकार अपनी नयी सामर्थ्य का प्रदर्शन करने मे उसे आनन्द मिलता है। उसके सामर्थ्य की प्रशंसा हम करते है, तो

उसे उत्साह मिलेगा उसका आत्मविश्वास बढ़ेगा। इस आधार पर उनमें हम जिम्मेदारी की आदत भी डाल सकते हैं। पर इस समय उनमें दूसरों के लिए फिकर कम होती है, दूसरे बालकों के साथ मेलजोल और सहकार के बदले प्रतियोगिता का भाव अधिक होता है। वह अपने में डूबा रहता है। इसलिए बच्चों का धीरज रखना चाहिए।

आठ साल के बाद बच्चों में फिर दूसरे साथियों में मिल जाने की रुचि बढ़ती है और चौदह पन्द्रह साल तक वे हमजोलियों की टोलियाँ बनाकर खेलना, घूमना आदि पसन्द करते हैं। आठ साल से उनमें दूसरों का अनुकरण करने की (नकल करने की) वृत्ति जोरदार होती है। दूसरे जैसा कपड़ा पहनते हैं, उससे अन्य प्रकार का पहनना उन्हें बुरा लगता है। दूसरे जो खेल खेलते हैं, जिस प्रकार बर्ताव करते हैं, वैसा ही खेलना, वैसा ही बर्ताव करना चाहते हैं। फर्क यह है कि तीन साल की उम्र में यह एक तरह से बिना सोचे अचेतन रूप से होता था अब सचेतन रूप से करना चाहते हैं न कर पायें तो बुरा लगता है। इस बात का ख्याल पालकों को रखना चाहिए। दूसरे जो करते हैं वह करना आर्थिक कारणों से सम्भव न हो या अनुचित लगे तो बालकों को शान्ति से समझाना चाहिए।

डोलर ने बालक के व्यक्तिगत और सामाजिक विकास का एक 'नाप' बनाया है। यह कोई सूक्ष्म नाप नहीं है पर मोटी धारणा के लिए पर्याप्त है।

व्यक्तिगत	उम्र	सामाजिकता
पूर्ण क्षमता	१८	मानव-जाति के लिए सोच सकता है
काफी क्षमता	१२	व्यापक समाज के लिए सोच सकता है
अपनी जिम्मेदारी निभा सकता है	१०½	समाज के लिए सोचता है करता है
दूसरों का अनुकरण	९	दूसरों के जैसा करना चाहता है
कम शक्ति	८	असामाजिक
बहुत ही कम शक्ति	६	गुण्डा
अक्षम।	४	समाज विरोधी—तोड़फोड़ करने में आनन्द—
	२	क्रूरता-दूसरों के लिए लापरवाही के कारण—

इसमें 'व्यक्तिगत' का अर्थ है खुद की जिम्मेदारी लेने की कामकाज करने की शक्ति। 'सामाजिक' का अर्थ है समाज के साथ सृष्टि के साथ सम्बन्ध। इसकी अवस्थाओं की कुछ चर्चा तो हमने ऊपर की है। पर सफाई जोड़नी है। छोटा, दो साल का बच्चा 'क्रूर' होता है यानी उसकी इच्छा का विरोध हो उसकी स्वतन्त्रता पर

आक्रमण हो, तो गुस्से में आकर नोच लेता है, काट लेता है। चार साल के आसपास वह फल फूल तोड़ता है, जानवरों को तकलीफ देता है। ऐसा करने में उसे अपनी शक्ति का एहसास होता है। उसको विधायक मार्ग दिया जाय, तो यह वृत्ति कम हो सकती है।

पन्द्रह साल के बाद तो उनमें बड़ों-जैसी सामर्थ्य आती है। तब वे अपने स्वतन्त्र विचार से चलना चाहते हैं। उनको वैसे चलने का मौका देना चाहिए। पर उनमें अनुभव की कमी होती है, इसलिए बड़ों की सलाह लेने के लिए वे उत्सुक होते हैं, अगर वह लादी न जाय।

हमने देखा कि बचपन में बाहर के नीति-नियमों, विधि-निषेधों को सुपर इगो के रूप में अपने में लेना स्वाभाविक होता है, पर आगे उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए उसके खुद के विवेक का विकास होना आवश्यक है। अधिकांश लोगों में यह नहीं होता। जीवनभर बाहर से प्राप्त सुपर इगो ही उन्हें अन्दर से आदेश देता रहता है। वह अक्सर अच्छा आदेश देता है—'सुबह उठो।' 'नियमित नहाओ' 'पर्व के दिन दान दो।' 'गरीब की मदद करो।' लेकिन ऐसे आदेश भी देता है—'हरिजन को मत छुओ', 'स्त्रियों का विश्वास मत करो', 'जहाँ सम्पत्ति का सवाल है, वहाँ झूठ बोलो।' ये सारे आदेश उन्हें अन्तर्वाणी जैसे ही लगते हैं। कभी कभी भयंकर आदेश भी अन्दर से उठते हैं। इसके उदाहरण हमने पहले देखे हैं। (अचेतन के खेल—अध्याय १४)।

बचपन से स्वतन्त्र विचार की आदत डाली जाय, तो धीरे-धीरे बड़े होने तक मनुष्य अपने को बाहर से प्राप्त विवेक का मूल्यवान् अंश अपने स्वतन्त्र विचार के प्रकाश में उद्भासित करके रख लेगा और बाकी को फेंक देगा। बचपन में दबाव और बाहरी अनुशासन की आदत डाली गयी होगी, तो जैसा हमने पहले कहा है—बुद्धि कुण्ठित और बद्ध हो जायगी। वह सिर्फ अच्छा-बुरा, सफेद-काला, ऐसे स्थूल विभाजनों में ही सोच सकेगा। अच्छाई और बुराई अक्सर मिली हुई होती हैं। बुरे में भी अच्छाई और अच्छे में भी बुराई पायी जाती है, यह समझने का विवेक उसमें बड़ी उम्र में भी विकसित नहीं होगा। उसमें असहिष्णुता होगी। उसका सुपर-इगो भय, द्वेष, उद्वेग आदि की जोरदार भावनाओं से रँगा हुआ होगा। इसलिए उससे छुटकारा पाना मुश्किल होगा।

अब हम नैतिकता यानी सामाजिक आचरण की शिक्षा के एक दूसरे पहलू पर ध्यान दें। बच्चे में जन्म से 'मैं पन' का अनुभव तो होता है—पर उसकी सीमा तय नहीं होती। भूख 'मुझे' ही लगती है। पीड़ा 'मैं' ही अनुभव करता हूँ। यह तो होता है। पर जैसे पहले उल्लेख किया जा चुका है, प्रयोगों से मालूम होता है कि उसके अपने शरीर की सीमाओं का भान भी नवजात शिशु को नहीं होता। वह अपना अँगूठा पकड़कर मुँह में डालता है, तो पहले पहल उसे वह अपने शरीर का हिस्सा

नहीं समझता। धीरे धीरे अनुभव से उसे यह भान होता है। पहले तो माँ के स्तन और गोद को भी वह अपना हिस्सा मानता है। पर अनुभव से समझता है कि ये अलग हैं। शुरू में तो उसके हाथ पैर बिना उसकी इच्छा के हिलते रहते हैं। स्नायुतन्त्र विकसित होने पर उन पर वह काबू प्राप्त करता है, अपने इच्छानुसार उन्हें हिलाता है और इस तरह उनको अपना समझने लगता है।

फिर बड़ा होकर वह अपने को दूसरों के साथ समरस करता है और अपना एक चित्र खड़ा करता है—'मैं बापूजी के जैसा हूँ।' 'रमण काका के जैसा हूँ।' फिर अपना आदर्श (आइडियल) बनाने लगता है—'मैं वीर हूँ' 'मैं अच्छा दौड़नेवाला हूँ', 'मैं सबका प्यार करता हूँ' आदि।

इस समय उसका अन्य लोगों की राय के प्रति सचेतन बनता है और लोग उसे जैसा देखते हैं, वह अपने को वैसा ही देखने लगता है। माँ बाप उसे 'अच्छा' कहते हैं तो वह अपने को अच्छा समझता है। वे उसे 'नटखट' समझते हैं तो वह भी मानने लगता है कि 'मैं नटखट हूँ।' ऐसे अभिप्रायों के साथ प्रशंसा का भाव होता है तो उसका आत्मविश्वास बढ़ता है। तिरस्कार का भाव होता है, तो अपने को तिरस्कार की दृष्टि से देखता है, उसमें न्यूनता का भाव पैदा होता है। मेरे बचपन में मेरी दादी का मुझ पर बड़ा असर था और मुझे वह बड़ा कमजोर समझती थी, नाजुक स्वास्थ्यवाला समझती थी। मैं भी अपने को वैसा मानता था। बाद में उस उम्र के अपने फोटो देखे तो ध्यान में आया कि मैं अपने साथियों की तुलना में काफी मोटा ताजा था!

इस तरह अपने बारे में जो धारणा हम बाहर से ग्रहण करते हैं, अपने चारित्र्य पर उसका बड़ा असर होता है। किसीको बार बार बुरा कहा जाय, उसकी निन्दा की जाय, तो वह उसे मान लेगा और हताश होकर अच्छा बनने का प्रयत्न छोड़ देगा।

यह असर बड़ी उम्र में भी होता है। एक कॉलेज में प्रयोग के तौर पर अक्सर फेल होनेवाले कुछ विद्यार्थियों को एक बार इम्तहान में अच्छे नम्बर दे दिये गये। आगे सचमुच उनकी पढ़ाई में तरक्की हुई और वे अच्छे नम्बर प्राप्त करने लगे। इस प्रकार के कई प्रयोग हुए हैं।

इस तरह मनुष्य अपने मैंपन या ईगो का उपादान (कण्टेण्ट्स) बनाता जाता है। वह कहता है—'मैं भारतीय हूँ' 'मैं बंगाली हूँ' 'मुसलमान हूँ' 'साम्यवादी हूँ'। यह नहीं कहता कि भारत के बारे में मेरी अमुक भावना है। या इस्लाम, साम्यवाद या बंगला भाषा के बारे में मेरे अमुक विचार हैं।

इससे बड़ा फरक होता है। एक सज्जन अपने को संस्कृत के पण्डित मानते हैं। आप उनसे गणित का सवाल पूछेंगे और वे उसका जवाब नहीं दे पायेंगे, तो उनको उसकी परवाह नहीं होगी। वे गणितज्ञ नहीं हैं न!

हमने देखा है कि मनुष्य की मूलभूत प्रेरणाओं में एक 'आत्मप्रतिष्ठा' की प्रेरणा होती है। उसका मुख्य स्वरूप यह है कि मनुष्य अपने 'मैं पन' को खण्डित होने नहीं देता। अपने हाथ-पैर कट जाने पर उसे जैसी वेदना होती है, अपने 'मैं पन' पर चोट लगने से वैसी ही वेदना होती है। 'मैं-पन' की जिस धारणा में उसकी आत्मप्रतिष्ठा की भावना जुड़ी हुई होती है, उसीके बारे में ऐसा होता है। मनोविज्ञान में कहा जाता है कि उस धारणा में उसका 'अहम्' लिप्त हुआ है।

मैं एक सज्जन के पास भूदान माँगने जाता हूँ, भूदान प्राप्त करने की अपनी सामर्थ्य पर मुझे आस्था है। वे दान नहीं देते। मुझे बड़ी चोट लगती है। इसका अर्थ है कि उस काम में मेरी अहम्-लिप्तता थी।

मैं एक होटल में खाने जाता हूँ। होटलवाला कहता है कि होटल बन्द हो गया है, खाना नहीं मिलेगा। मुझे कुछ चिन्ता हो सकती है कि अब कहाँ खाना मिलेगा। पर चोट नहीं लगती, क्योंकि इसमें मेरी अहम्-लिप्तता नहीं है। होटल का खुलना-बन्द होना मेरे वश की बात नहीं है। उसमें मेरी प्रतिष्ठा का सवाल नहीं है।

जिस विषय में मनुष्य का अहम् लिप्त होता है, उसके प्रति उसकी इन्द्रियाँ अधिक जागरूक रहती हैं। ऐसे विषय अधिक याद रहते हैं। एक प्रयोग में कुछ विद्यार्थियों की टोलियाँ बनायी गयीं और हर टोली के प्रथम व्यक्ति को कुछ कहानियाँ कही गयीं, जिन्हें उसने दूसरे को सुनाया, दूसरे ने तीसरे को और इस तरह हर कथन के समय उसका कितना अंश याद रहा और कितना भुला दिया गया, इसकी जाँच की गयी। इन कहानियों में एक कहानी विद्यार्थियों से सम्बन्ध रखती थी। यह तीन हफ्ते के बाद होनेवाली परीक्षा के बारे में शिक्षकों में हुई चर्चा के बारे में थी। पाया गया कि इस अहम्-लिप्त कहानी का अधिक भाग याद रहा। आठ व्यक्तियों के मुँह से गुजरने के बाद जहाँ दूसरी कहानियों की तफसील का पाँच से बीस प्रतिशत याद रहा, वहाँ इस कहानी का ३५ प्रतिशत से अधिक याद रहा।

मनुष्य की अहम्-लिप्तता विचारों से, रीति-नीतियों से, समाज से, संस्थाओं से तथा व्यक्तियों से भी होती है। 'मैं अमुक का लड़का हूँ' या 'फलाँ मेरा लड़का है, मेरी पत्नी है' ऐसा हम मानते हैं और पिता, पत्नी या लड़का भी हमारे अहम् के हिस्से बन जाते हैं। फिर उनकी प्रतिष्ठा या भला-बुरा अपने बन जाते हैं। कुछ इस प्रकार के प्रयोग हुए, जिसमें एक मनुष्य को एक निशाने पर हाथ से तीर फेंकने को दिया गया और एक दूसरे व्यक्ति को दर्शक के रूप में रखा गया। हर बार तीर फेंके जाने में पहले निशाना कितना सही होगा, इसका अपना अपना अन्दाजा लिख डालने के लिए दोनों से कहा गया। इस प्रयोग से पता चला कि तीर फेंकनेवाले अपने बारे में जो अन्दाजा लगाते थे, कई अनुभवों के बाद भी उसमें अधिक फरक नहीं होता था। यानी किसीने अपने सहीपन का अन्दाजा ७५ लगाया हो तो बार-बार ५०, ४० या ३० का निशाना लगाने पर भी अगली बारी का अन्दाजा ७५ के आसपास ही रहता था। अपनी क्षमता के बारे में उनकी अपनी जो धारणा बनी हुई होती थी, अपनी

सफलता का अ दाजा उसीके नाप से वे करते थे। यह उनकी 'अभिलाषा' का नाप था। दर्शक जो अन्दाजा लगाते थे, वह अधिक 'तटस्थ' होता था। फकनेवाले के हर बार के वास्तविक मूल्य के आधार पर अगली बार की सफलता का अन्दाजा वे लगाते थे। अब यह प्रयोग ऐसी जोडियों को लेकर किया गया, जिसमे कुछ एक दूसरे के रिश्तेदार या घनिष्ठ मित्र थे, और कुछ एक दूसरे के विरोधी थे। किसी कारण से उनमे झगडा हो गया था। इस प्रयोग मे पाया गया कि जैसे मनुष्य अपनी सफलता का अन्दाजा ऊँचा लगाता है प्रतिकूल अनुभवो के बाद भी आसानी से बदलता नही है वैसे अपने रिश्तेदार या घनिष्ठ मित्र के मामले मे भी करता है। उसमे उसकी तटस्थता टिकती नही। फिर अपने विरोधी के बारे मे उल्टा होता है। उसमे उसके वास्तविक सफलता से कम का अ दाजा लगाने का झुकाव होता है। इस तरह प्रयोग से यह सिद्ध हुआ कि अनुकूल या प्रतिकूल अहम् लिप्तता हमारी विचार-शक्ति को प्रभावित करती है।

इसी तरह मनुष्य जब भाषा, धर्म जाति या राष्ट्र मे अहम् लिप्त होता है, तब दूसरों के मुकाबले मे उनको श्रेष्ठ समझने लगता है। उनके मूल्याकन मे उसकी अपनी अभिलाषा जुड जाती है।

मैं पन को चोट लगाने से मनुष्य को वेदना होती है इसलिए वह उसे अखण्डित रखने के लिए प्रयत्न करता है पराक्रम करता है। दूसरे कष्ट भी सहन करता है। इसलिए वह 'अपनी' भाषा, जाति या धर्म के लिए जूझता है। भाषा या धर्म के अपमान को अपना अपमान समझता है। एक रग बिरगे कपडे का टुकडा कइयो के लिए अर्थहीन है, पर कई औरो के लिए उसका इतना महत्त्व है कि कोई उसे पैर से छूता है तो वे उसकी जान ले सकते है—वह उनका राष्ट्रीय झण्डा है।

एक गाँव के दो किसानों मे लगभग पाँच हाथ चौडी और बीस पचीस हाथ लम्बी जमीन के एक टुकडे के लिए मुकदमा चल रहा था। उसमे दोनो ने अपनी जमीन बेचकर पाँच पाँच हजार से ज्यादा रुपये खर्च कर डाले थे। इतनी सी जमीन के लिए एक एक ने चार चार पाँच पाँच एकड जमीन खो दी थी। वह टुकडा चाहे जिसको मिले उससे इस खर्च का दसवाँ हिस्सा भी निकलनेवाला नही था। फिर भी लडाई चालू थी क्योकि उसमे दोनो का अहम् लिप्त हो गया था। 'मैं जमीन का मालिक हूँ' यह उनके मैं पन का जबरदस्त हिस्सा था। इस प्रकार की लाखों घटनाएँ रोज होती रहती हैं।

अपने देश मे लोग शादी मे श्राद्ध मे अपने बूते से बाहर खर्च करके आफत मोल लेते हैं, इसमे समाज का दबाव तो है ही लेकिन मैं पन की लिप्तता भी होती है। यह न करने से 'मैं' की प्रतिष्ठा घटती है। इसलिए उसमें से 'मैं' को अलग किये बिना इस आदत को छोडना असम्भव सा होता है। आर्थिक लाभ नुकसान की दलील कोई काम नहीं देती।

कई आदिवासी जातियों में मुण्ड-शिकार के रिवाज के बारे में हमने पहले चर्चा की है। दक्षिण अमेरिका की कुछ जातियों में इस रिवाज को कानून से बन्द कर दिया गया, तो वे जातियाँ धीरे-धीरे लुप्त हो चलीं। वह रिवाज प्रतिष्ठा और पराक्रम का बहुत बड़ा जरिया था। अब वह नहीं रहा, तो फिर जीवन में क्या रस रहा? उन जातियों का मनोभाव इस प्रकार का बन गया कि वे सुस्त, निरुत्साही, निरुद्यमी बन गये, क्योंकि उनको प्रतिष्ठा और पराक्रम जताने का दूसरा जरिया नहीं सूझा।

अमेरिका में ऊँचे वर्ग के लोग हर साल नये-नये मॉडल की मोटर-गाड़ियाँ खरीदते हैं। उसीमें उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा समझी जाती है। इसमें उनका अहम् लिप्त हुआ होता है।

किन्हींका 'मैं पन' ऊँच नीच की धारणा में लिप्त है। दूसरे लोग उनसे नीचे हैं, इसीसे उनको अपनी प्रतिष्ठा मालूम होती है। कोई नीचे न रहे तो उनका 'मैं पन' ही लूला बन जाय! इसलिए वे छुआछूत हटाने का विरोध करते हैं। गरीबी मिटाने का विरोध करते हैं।

इस तरह लोगों के आचरण के साथ उनका अहम् जुड़ा हुआ होता है। आचरण बदलना हो तो इस अहम्-लिप्तता को बदलना जरूरी है। दूसरे शब्दों में मनुष्य का अपने बारे में अपनी धारणा, अपने का अपना दर्शन बदलना होता है। इसके बिना आचरण बदल नहीं सकता।

हम ब्याह-शादी में दहेज बन्द करना चाहते हैं, तो उसमें से अहम् की लिप्तता, आत्मप्रतिष्ठा का भाव हटाना चाहिए। यह तभी हटेगा, जब दूसरे किसी अधिक समाधानकारक विषय से वह जुड़ सकेगा। ग्रामदान में मालिकी मिटाना चाहते हैं। जमीन के साथ मालिकों की सिर्फ आर्थिक सुरक्षा जुड़ी हुई नहीं है—मैं-पन भी जुड़ा होता है। उनके मैं-पन को गाँव के सामूहिक पराक्रम के साथ, दुःख मिटाने के साथ गाँव के आर्थिक विकास में नेतृत्व लेने के साथ जोड़ सकेंगे तो वह धीरे धीरे मजबूत होगा और जमीन के साथ की लिप्तता मिटती जायगी।

मनुष्य का अहम् व्यापक विषयों में, बड़े समूहों के साथ, महान् तत्त्वों के साथ, लिप्त होता है, तो उसके आचरण में अधिक सामर्थ्य आती है, उसका व्यक्तित्व अधिक विकसित होता है। गांधीजी की सत्य और अहिंसा में लिप्तता थी। बर्ट्रेण्ड रसेल की लिप्तता सारी मनुष्य-जाति के साथ है। विविध विषयों में अहम् के लिप्त होने से जीवन में सन्तुलन और समाधान बढ़ता है। कई लोग एक ही काम को लिये रहते हैं। उसकी सफलता-विफलता के साथ उनकी सारी हस्ती जुड़ जाती है। इससे उस काम को तटस्थ वृत्ति से देखना उनके लिए सम्भव नहीं रह जाता। विफलता मिलती है, तो उनकी सारी हस्ती डोल जाती है।

बचपन में व्यापक तथा विविध विषयों में रस पैदा करने का मौका देना चाहिए, जिससे इस प्रकार बड़े, व्यापक और विविध विषयों में अहम् लिप्त हो सके। बड़ी उम्र में भी इसके लिए प्रयत्न करना चाहिए।

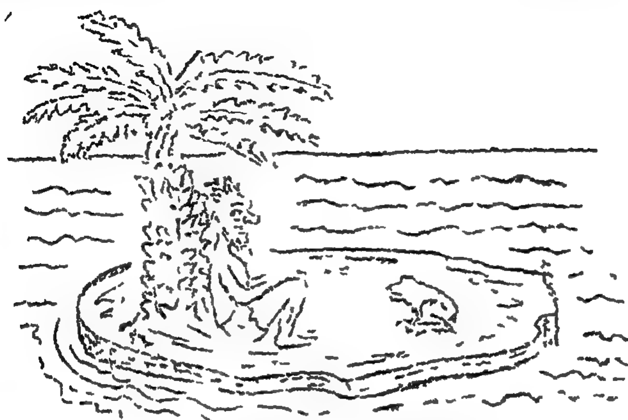
इस अहम् लिप्तता को शायद गीता की भाषा में आसक्ति कहा जायगा। उसमें अनासक्ति का उपदेश दिया है। कर्म के ध्येय में अहम् लिप्त न होकर काम करने के तरीके में, साधन में अहम् लिप्त होने में शायद यह मिलेगा। ●

व्यक्ति और समाज १९

पिछले अध्यायों में इस बात के उदाहरण बार बार आये हैं कि मनुष्य का चरित्र किस तरह परिवार तथा आसपास के समाज के लोगों के सम्बन्धों, उनके असर तथा आपस की क्रिया प्रतिक्रियाओं से बनता है। पिछले कुछ वर्षों में यह चीज अधिक स्पष्ट तथा अधिक प्रखर रूप में सामने आयी है। पहले ऐसी बात नहीं थी। मनोविज्ञान के शुरू के जमाने में व्यक्ति को समाज से अलग, एक एकाकी इकाई के तौर पर ही देखा जाता था। उसी रूप में उसके स्वभाव, चरित्र, बुद्धि तथा भावनाओं का विचार किया जाता था। और इससे यह भी निष्कर्ष निकाला जाता था कि मनुष्य का जन्मजात स्वभाव असामाजिक है तथा उसको समाज के अनुकूल बनाना उसकी स्वाभाविक वृत्तियों पर रोक लगाने से ही सम्भव होता है। इसलिए व्यक्ति और समाज में हमेशा एक मूलभूत विरोध तथा परस्पर तनाव का अस्तित्व अनिवार्य माना जाता था। पर अब तो हर प्रकार के सबूत इस धारणा के उलटे ही पाये जाते हैं। समाज से अलग व्यक्ति का अस्तित्व किसी जमाने में था ही नहीं। प्रागैतिहासिक जमाने में जब मनुष्य ने धीरे धीरे अमानव और अर्ध मानव से पूर्ण मानव का रूप धारण किया, तब भी वह छोटी छोटी पारिवारिक टोलियों में ही रहता था। टोली के बाहर उसका कोई अस्तित्व ही नहीं था। बल्कि मनुष्य का जन्म और जीवन की प्रक्रिया ही ऐसी है कि परिवार रूपी समाज के आधार के बिना वह टिक ही नहीं सकता। जन्म के समय वह सम्पूर्ण असहाय होता है और उसका बचपन भी बहुत लम्बा होता है जिसमें उसे दूसरों के आधार पर जीना पड़ता है। इन दिनों समाज के संदर्भ में मनुष्य को समझने की खास कोशिश हुई है और इससे सामाजिक मनोविज्ञान तथा समूह गतिविज्ञान (ग्रुप डायनामिक्स) का विकास हुआ है। इन सबसे यह बात अधिक दृढ़ हुई है कि मनुष्य किसी हालत में समाज निरपेक्ष होकर जी नहीं सकता।

किसी समूह के अंग बनने की, समूह के द्वारा अपनाये जाने की जोरदार अन्दरूनी चाह (नीड) मनुष्यों में होती है। यह सुरक्षा की चाह से सम्बन्ध रखती है। बच्चा बिलकुल असहाय पैदा होता है और सुरक्षा के लिए उसे दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है। दूसरों के द्वारा अपनाये जाने में ही उसे सुरक्षा का अनुभव होता है। बड़े होने पर भी यह चाह कायम रहती है। यह चाह पूरी नहीं हुई तो उसे बड़े उद्वेग और अरक्षितता का अनुभव होता है। जन्म के समय परिवार तथा उसके आसपास का

छोटा-सा समूह उसका प्रत्यक्ष तथा उसके लिए महत्त्व का समाज होता है। आगे चल-कर भी इसका महत्त्व कायम रहता है, पर वह दूसरे समूहों में भी दाखिल होता है। वे



इन्सान को हमेशा समाज की जरूरत होती है।

भी उसके लिए महत्त्व के बन जाते हैं और जीवनभर वह एक या अधिक समूहों का सदस्य बनकर ही जीवन बिताता है।

किसी व्यक्ति से पूछा जाय कि वह किन-किन जमातों से सम्बन्ध रखता है तो सामान्यतः इस प्रकार का जवाब मिल सकता है

अपने माता-पिता, भाई-बहन आदि परिवार,
अपना ननिहाल,
अपने बचपन के मित्रों की मण्डली,
अपना प्राथमिक विद्यालय,
अपना उच्च विद्यालय,
अपना कॉलेज (वहाँ तक पहुँचा हो तो),
अपना गाँव,
अपनी जाति के लोग (ब्राह्मण, कायस्थ आदि),
अपने धन्धे के साथी,
अपने निजी मित्र (चार-पाँच लोग),
अपना राज्य (राज्य की भाषा का बड़ा गौरव है),
सहकारी समिति,
अपना धर्म,
अपना देश (भारत, चीन, अमेरिका आदि),
शायद राष्ट्रसंघ (यू० नो०) के लिए कुछ अपनापन, तथा
राजनैतिक पक्ष (जिसको वह वोट देता हो)।

यह सूची और भी लम्बी की जा सकती है पर इससे ध्यान में आयेगा कि किस प्रकार से सामूहिक सम्बन्धों में उसका जीवन गुजरता है। इनमें कुछ समूहों का सदस्य वह सहज ही बना है। परिवार, ननिहाल, गाँव, धर्म, राष्ट्र सब उसे जन्म से ही मिले हैं और कुछ समूहों का सदस्य उसे प्रयत्न से बनना पड़ा है—जैसे विद्यालय, कालेज, धन्धा इत्यादि।

फिर इन समूहों का वर्गीकरण दूसरे प्रकार से भी हो सकता है। इनमें कुछ अनौपचारिक हैं—जैसे परिवार, मित्रों की मण्डली, गाँव आदि, जिनका कोई निश्चित या लिखित संविधान या नियमावली नहीं होती। पर स्कूल, कालेज, राजनीतिक पक्ष, सहकारी समिति आदि औपचारिक समूह हैं, जिनके निश्चित संविधान, नियमावली आदि होते हैं और उन नियमों के अनुसार उनका संचालन होता है।

फिर एक तीसरे ढंग से भी हम उनका वर्गीकरण कर सकते हैं। उनमें कुछ ऐसे समूह हैं जिनमें लोगों का एक-दूसरे से बहुत निकट का सम्पर्क आता है जैसे—परिवार में। उसमें सदस्य कम होते हैं और उनमें लगातार निकट का सम्पर्क होता रहता है। पर राज्य या राष्ट्र एक ऐसा समूह है जो कभी पूरा पूरा सम्पर्क में नहीं आता। भारत ने चीन का प्रतिकार करना तय किया—इस निर्णय को आप स्वीकार करते हैं—उस निर्णय के लेने में आपका भी हिस्सा है ऐसा महसूस करते हैं, इसी प्रकार आपने अपनी पत्नी और लड़कों के साथ बहुत खींचातानी के बाद जो तय किया कि इस बार दीवाली की छुट्टियों में कहीं नहीं जायेंगे, घर पर ही दीवाली मनायेंगे, इस निर्णय में और उस निर्णय में आपके हिस्से एक ही प्रकार के हैं क्या?

कांग्रेस बड़ी संस्था है, पर आप उसकी डिस्ट्रिक्ट कमेटी की कार्यकारिणी के सदस्य हैं तो उसमें भी आप दूसरे सदस्यों के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध में आते होंगे। इस प्रकार के छोटे समूहों को मनोवैज्ञानिक समूह कहा जाता है क्योंकि उनमें आपस में निकट की मनोवैज्ञानिक क्रियाएँ चलती हैं।

पाया गया है कि मनुष्य के जीवन में ऐसे छोटे समूहों का बहुत बड़ा महत्त्व होता है। एक तरह से ये समाज की प्राथमिक इकाइयाँ होती हैं। इन्हीं के साथ मनुष्य घनिष्ठ रूप से जुड़ता है और इन्हीं में उसकी मनोवैज्ञानिक चाहों की पूर्ति होती है। राष्ट्र, धर्म आदि बड़े समूहों का अनुभव भी उसे किसी छोटे समूह के द्वारा ही होता है। आप हिन्दू धर्म के हैं, पर आपके लिए प्रत्यक्ष हिन्दू धर्म क्या है? आपके परिवार और जाति में जो रीति रिवाज चलते हैं, आपके गाँव के जो पुरोहित आपके घर श्राद्ध विवाह आदि के लिए आते हैं, इन्हीं के आधार पर आपकी हिन्दू धर्म की सदस्यता बनती है।

हमारे देश के गाँव भी यदि वे छोटे हैं तो इस प्रकार के प्रत्यक्ष समूह होते हैं। बड़े हैं, तो उनका यह स्वरूप उतना प्रत्यक्ष नहीं होता। तब अपना मुहल्ला, अपने जाति वाले आदि के समूह निकट के होते हैं। गाँवों में जातिगत अनुराग जो इतना जोरदार

होता है, वह अपने पड़ोस के जातिवालों के समूह के आधार में होता है। एक गाँव में एक जाति के जितने लोग होते हैं, उनमें आपसी सम्बन्ध और अनुराग गहरा होता है।

लोग अपने परिवार तथा आसपास के समाज से ही अपनी रीति नीति सीखते हैं। समाज में प्रचलित रीति नीति और आचरण के नियम मानने से समाज की प्रशंसा मिलती है तथा अधिक अपनापन महसूस होता है। इससे मनुष्य जिस समूह में शामिल होता है, उस समूह की रीति नीति, आचरण के नियमों का पालन करता है। गाँवों में लोग किस हद तक समाज के नियमों को मानकर चलते हैं, यह हम आसानी से देख सकते हैं, पर शहरों में, जहाँ परम्परागत समाज के सारे बन्धन टूटे हुए होते हैं, वहाँ भी छोटे समूह अपना महत्त्व रखते हैं। एक ही कारखाने या दफ्तर में काम करनेवालों में, एक ही बस्ती में लम्बे अर्से से बसनेवालों में, एक ही प्रकार का धन्धा करने वालों में परस्पर सम्बन्ध होता है। क्लब, सार्वजनिक संस्थाएँ, खेल के संगठन, सांस्कृतिक संस्थाएँ आदि कई तरह के औपचारिक संगठन भी लोगों की इस जरूरत को कुछ हद तक पूरी करते हैं। चाय या कॉफी की दूकान का अड्डा भी यह काम करता है।

औपचारिक या अनौपचारिक इन सारे छोटे समूहों में आचरण के अपने अपने नियम, रीति-रिवाज होते हैं। उस समूह में जो शरीक होता है, उसे उन रीति रिवाजों का पालन करना पड़ता है। मान लीजिए, एक चाय के अड्डे में कुछ मध्यम वर्ग के जवान इकट्ठा होते हैं। वे अमुक ढंग से कोट पैंट पहनकर आते हैं। अब उनमें से कोई उससे बहुत साफ या अधिक मैले कपड़े पहनकर आता है या धोती पहनकर आता है, तो उसे ऐसी तिरछी नजरों का सामना करना पड़ेगा और दो एक दिन में अड्डे के रिवाज के अनुसार कपड़ा पहनने के लिए बाध्य होना पड़ेगा।

किसी एक उद्देश्य को लेकर कई लोग इकट्ठे होते हैं, तो उनमें थोड़ी देर में एक संगठन खड़ा होता है, उनका एक समूह बनता है। उस समूह के अपने रीति रिवाज बनते होते हैं और उसमें परस्पर सम्पर्क तथा नेतृत्व का एक ढाँचा खड़ा होता है। अमरिका में शरीफ ने इसका एक प्रयोग किया। औसत ग्यारह साल की उम्र के चौबीस लड़के उन्होंने चुने, जो एक-दूसरे से बिल्कुल अपरिचित थे। इसमें यह भी ख्याल रखा गया कि ये लड़के एक ही सामाजिक स्तर के हों तथा उनमें रंग, धर्म आदि के भी भेद न हों, क्योंकि ऐसे भेदों के कारण ऊँच नीच की भावना आ सकती थी और उसका असर प्रयोग पर पड़ सकता था। फिर स्वाभाविक मानसिक विकास वाले लड़के ही चुने गये। अस्वाभाविकता तथा विकृति के असर को अलग रखा गया।

इन लड़कों को छुट्टी बिताने के लिए बस्ती से दूर ऐसे स्थान पर ले जाकर रखा गया, जहाँ बाहर के लोगों से उनका सम्पर्क न हो। वहाँ उनके साथ मार्गदर्शक के तौर पर प्रयोगकार और निरीक्षक रहे। तीन दिन इकट्ठे रहने के दौरान में उनमें आपसी मित्रता पैदा हो गयी। तब अलग-अलग दिशाओं में सैर के लिए जाने के

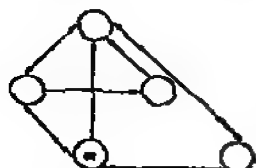
नहाने उनकी बारह बारह की दो टोलियां बनायी गयीं। इसमें ध्यान दिया गया कि मित्र मण्डलियों के मित्रों को जहां तक हो सके, अलग टोलियों में दिया गया। एक टोली के लड़कों के मित्र ३ प्रतिशत मित्र अपनी टोली में थे ६० प्रतिशत दूसरी में। दूसरी टोली की हालत भी इसी प्रकार की थी।

अब ये टोलियां सात दिन तक अलग अलग शिविरों में रहीं। उन्हें किसी प्रकार का आदेश निर्देश या उपदेश नहीं दिया गया। अपने कामों की प्रवृत्तियाँ खुद चाहे जैसी चलाने की छूट दी गयी। बल्कि ऐसी परिस्थितियां भी पैदा की गयीं, जिनका हल सब लड़के मिल जुलकर काम करने से ही निकाल सकते थे। जैसे भोजन की कच्ची सामग्रियां मुहय्या कर दी गयीं जिन्हें बनाने और परोसने का काम खुद करना पड़े। मेज आदि बड़े बड़े सामानों को अपनी सहूलियत के लिए इधर से उधर हटाने के सवाल आये। तैरने के तालाब को अधिक उपयोगी बनाने की दृष्टि से दुरुस्त करने का सवाल आया। इनके लिए आपस में चर्चा करने योजना बनाने तथा उसके अनुसार काम करने की आवश्यकता थी।

हफ्ते के अन्त में पाया गया कि दोनों टोलियों में आपसी संगठन के ढांचे खड़े हुए हैं तथा अपने निजी रीति रिवाज भी बन गए। हर टोली ने अपने लिए एक नाम चुन लिया है—बुलडॉग्स और रेड्डेविल्स—और अपनी टोली का एक टोली सर्गति निश्चित किया है। प्रशंसा करने या दण्ड देने के अपने अपने तरीके भी हरएक टोली में निश्चित हुए हैं तथा काम करने के अपने-अपने ढङ्ग भी।

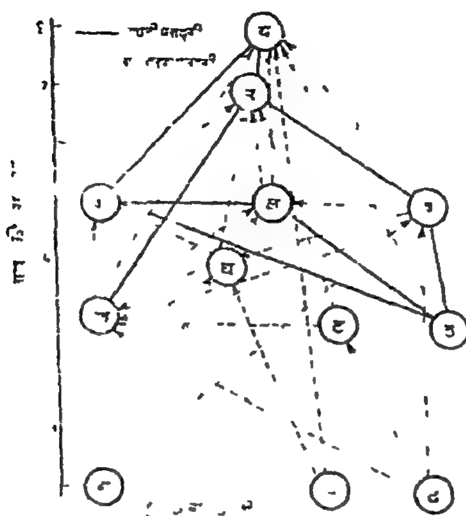
पाया गया कि हफ्ते के दरम्यान टोलियों के अन्दर ही परस्पर मैत्री पैदा हुई है और बढ़ी है। जहां हफ्ते के प्रारम्भ में टोलियों में अंदरूनी मैत्री सिर्फ ३० प्रतिशत और ४५ २ प्रतिशत थी वहाँ हफ्ते के अन्त में ८७ ७ प्रतिशत और ९५ प्रतिशत हुई हैं।

परस्पर सम्बन्ध की धारणा सोशियोमेट्री यानी सम्बन्ध मापन की पद्धति से रेखियोग्राम या 'सम्बन्ध चित्र' के द्वारा बनायी गयी। यह सम्बन्ध मापन की पद्धति समाज विज्ञान की एक नयी विशेष शाखा के रूप में विकसित हुई है। इसके अनुसार पहले निरीक्षण तथा पूछताछ से तय किया जाता है कि किसी मण्डली में कौन-किसके साथ कितने अधिक सम्बन्ध में आता है। कौन किसको पसन्द करता है और यह पसन्दगी एक तरफा होती है या दोतरफा। फिर उसका एक नक्शा (सम्बन्ध चित्र) बनाया जाता है।

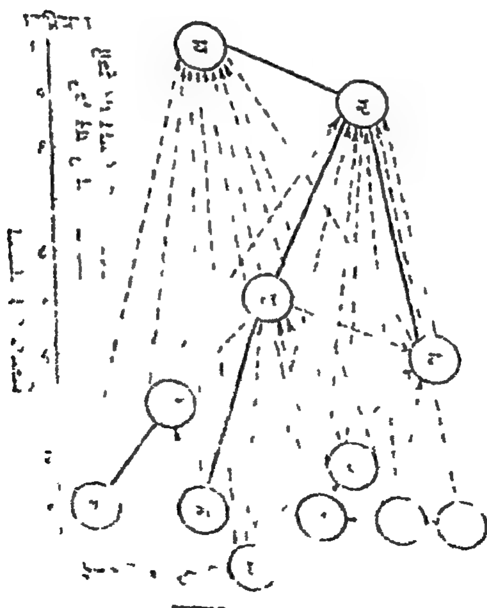

सम्बन्ध चित्र

साथ के चित्र में दीखता है कि 'क' के साथ 'ग' का सम्पर्क सबसे अधिक है और दोनों एक दूसरे को पसन्द करते हैं। 'ख' 'घ' और 'ङ' तीनों 'ग' को चाहते हैं। 'ग' के साथ सबका सबसे अधिक सम्बन्ध है और इससे ऐसा अनुमान लगा सकते हैं कि वही इस मण्डली के नेतृत्व के स्थान पर है।

द्वारा प से तुलनात्मक और ...टेविन्स टोलियों के सम्बन्ध-चित्र इस प्रकार बने।



आपसी पसन्दगी



युद्धकाल में ये नेतृत्व के स्थान पर हैं। उनमें 'क' भी युद्धकाल में अपनी योग्यता के कारण बहुत प्रभावशाली था जो दिन से स्पष्ट नहीं होता। पर यह ये के नेतृत्व का मान रखता था। रेखाचित्र का संगठन कुछ दूसरे प्रकार का था, यह चित्र से पता चलता है। इसमें 'ख' और 'ग' दोनों प्रभावशाली रहे पर नेतृत्व 'ग' में रहा। नेतृत्व के बारे में आगे के अध्याय में अधिक चर्चा करेंगे।

समूह में व्यक्ति को कितना बल मिलता है इसका अन्दाजा तूफान, भूकम्प, बाढ़, अग्निकाण्ड आदि दुर्घटनाओं के समय तथा लड़ाई के मैदान में लोगों के आचरण के निरीक्षण से मिलता है। अकसर दुर्घटनाओं में लोग आतंक-ग्रस्त हो जाते हैं और भगदड़ आदि भीड़ की मनोदशा पैदा होती है। पर हमेशा ऐसा नहीं होता। परिस्थिति की भयंकरता के बारे में प्रचलित धारणा तथा उससे बचने के उपाय के बारे में अस्पष्ट जानकारी आतंक फैलाने में सहायक होती है। पर जहाँ दुर्घटना के शिकार बने लोगों में पहले से आपसी सम्पर्क होता है और इकट्ठे काम करने के तरीके मालूम होते हैं और उनकी आदत होती है वहाँ आतंक नहीं होता या बहुत कम होता है। वेस्ट फ्रांकफर्ट नाम के शहर में कोयले की खान में एक विस्फोट से ११ लोग मारे गये। पर तुरत ही बाकी लोगों ने बड़े व्यवस्थित और संयत ढंग से बचाव का काम शुरू किया। आतंक नहीं के बराबर था। वहाँ के मजदूर और अन्य लोग संगठित थे। दूसरी एक दुर्घटना में ब्राइटन (न्यूयार्क राज्य) शहर में गैस के कारण दो घण्टे तक कई विस्फोट और अग्निकाण्ड हुए। इनके कारण सिर्फ दो मरे और चालीस घायल हुए। परन्तु लोगों को घटना का कारण मालूम नहीं था तथा वे संगठित नहीं थे इसलिए लोगों में बड़ा आतंक और उद्वेग फैला।

लड़ाई के मैदानों में शत्रु की गोलाबारी के सामने पाया गया कि फौज की टुकड़ियों के व्यक्तियों में परस्पर सम्पर्क और संवाद से हिम्मत कायम रहती है। सम्पर्क और संवाद टूटने पर आतङ्क फैलने की सम्भावना रहती है। आगे बढ़ती हुई फौज पर गोलाबारी शुरू होने से उनका आगे बढ़ना क्यों ४ से ६ मिनट तक रुक जाता है इसका पता लगाने के लिए एक वैज्ञानिक ने मैदान पर ग्यारह फौजी कम्पनियों के आचरण का अध्ययन किया। वे इस नतीजे पर पहुँचे कि सिपाहियों में सुव्यवस्थित सम्पर्क और संवाद पुनः प्रतिष्ठित करके ही फौजी टुकड़ियाँ गोलाबारी के सामने आगे बढ़ती हैं। कोई एक आदमी उठकर कह दे कि 'चलो! हमें इस तरफ आगे बढ़ना है' तो काम बनता है। इस तरह फौज में भी छोटे समूह का बड़ा महत्त्व होता है। प्लेटून या सेक्शन जैसी उसकी छोटी इकाइयों में समूह भावना प्रबल रहती है और भाईचारा मजबूत रहता है तो उस टोली का नीतिधैर्य (मोरेल) बलशाली होता है। उससे असम्भव भी सम्भव हो सकता है। इसलिए आजकल फौजों में इस बात की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है।

चुनाव में वोट किस प्रकार दिया जाता है, इस सम्बन्ध में अमेरिका में एक खोज की गयी और उससे पता चला कि रेडियो तथा अखबारों के प्रचार से कम ही लोग प्रभावित

रूप से प्रभावित होते है। किसको वोट देना है, इस सम्बन्ध में राय इस प्रकार के छोटे छोटे अनौपचारिक समूहों में ही बनती है। हर समूह में कोई एक-आध व्यक्ति होता है, जो अखबार, रेडियो, टेलीविजन आदि के आधार पर अपनी मण्डली में जानकारी देता रहता है, फिर उसके आधार पर जो चर्चा होती रहती है, उसमें धीरे-धीरे उस मण्डली की एक सर्वसामान्य राय बनती है और उसके अनुसार उसके सदस्य (अनौपचारिक) वोट देते है।

कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों में पाया गया है कि किसी एक विभाग में काम करनेवालों में अपनी अलिखित रीति नीति होती है, जिसका पालन हरएक को करना पड़ता है। अक्सर कारखाने में मजदूर यह तय करते हैं कि घंटे में अमुक हद से अधिक उत्पादन नहीं करना चाहिए। मजदूरी उत्पादन के हिसाब से मिलती है और अधिक उत्पादन करने से अधिक मजदूरी मिल सकती है। लेकिन उनको भय होता है कि उत्पादन की गति बढ़ जायगी, तो मजदूरी की दर में कटौती होगी। ऐसी परिस्थिति में कोई नया मजदूर उस विभाग में आता है, तो पहल-पहल अधिक काम करके अधिक कमाने का प्रयत्न करता है, लेकिन बहुत थोड़े ही दिनों में उस पर जमात की राय का असर होता है और वह सबके साथ काम की समान गति पर उतर आता है।

शहरों में मुहल्लों के आवारा लड़कों की टोलियाँ होती है। अमेरिका में तथा और दूसरी दूसरी जगह इस प्रकार की टोलियों का अध्ययन किया गया है और पाया गया है कि इनमें भी अपने-अपने सख्त रीति-रिवाज होते है, जिनका पालन हर सदस्य को करना पड़ता है। कभी कभी ये टोलियाँ असामाजिक भी होती है। चोरी, नशाखोरी, जुआ, व्यभिचार आदि में लिप्त होती है और इनके रीति रिवाज समाज में प्रचलित रीति रिवाजों के विरोधी प्रतीत हो सकते है, पर वे होते है जरूर, और उनके पालन के सिलसिले में इन टोलियों के सदस्य कभी-कभी काफी व्यक्तिगत कठिनाई भी सहन करते हैं। स्पष्ट है कि टोली के सदस्य बनने में उनको जिस अन्तर्भुक्ति (बिलागिगनेस) का अनुभव होता है, यानी दूसरों के द्वारा साथी के नाते स्वीकारे जाने में जिस सन्तोष का अनुभव होता है, उससे टोली के इन रीति रिवाजों के पालन के लिए वे प्रेरित होते है।

आवारा लड़कों के अलावा गाँव और शहरों के सामान्य किशोर तथा जवान लड़कों की भी टोलियाँ होती हैं। आजकल की एक समस्या है कि जवान लड़के, खास करके विद्यार्थी, घर का अनुशासन कम मानते हैं। माता-पिताओं के खिलाफ बगावत करते हैं। पर अपनी जमातों के काफी कड़े अनुशासन को मान लेते है। घर का अनुशासन उन्हें ऊपर से लादा हुआ मालूम होता है। परन्तु अपने हमजोलियों की टोली उनकी अपनी होती है, खुद की बनायी हुई होती है और इसलिए उसमें दबाव का अनुभव नहीं होता। पिछले दिनों अपने देश में जगह जगह जो विद्यार्थी-आन्दोलन हुए, उसमें भी यह बात देखने को मिली। विद्यार्थियों के संगठनों में काफी अनुशासन—अपने ढंग का ही सही—देखने को मिला और उसका पालन काफी मुस्तैदी से साथ होता था।

बुल्डाग गोली में 'घ' नेतृत्व के स्थान पर है। उसमें 'क' भी गोली में अपनी योग्यता के कारण बहुत प्रभावशाली था, जो चित्र से स्पष्ट नहीं होता। पर वह 'घ' के नेतृत्व का मान लेता था। रैट्लेनिल्स का संगठन कुछ दूसरे प्रकार का था यह चित्र से पता चलता है। इसमें 'ल' और 'र' दोनों प्रभावशाली रहे पर नेतृत्व 'र' में रहा। नेतृत्व के बारे में अगले अध्याय में अधिक चर्चा करेंगे।

समूह से व्यक्ति को कितना बल मिलता है, इसका अंदाजा तूफान, भूकम्प, बाढ़, अग्निकाण्ड आदि दुर्घटनाओं के समय तथा लड़ाई के मैदान में लोगों के आचरण के निरीक्षण से मिलता है। अक्सर दुर्घटनाओं में लोग आतंकग्रस्त हो जाते हैं और होहल्ला, भगदड़ आदि भीड़ की मनोदशा पैदा होती है। पर हमेशा ऐसा नहीं होता। परिस्थिति की भयंकरता के बारे में प्रचलित धारणा तथा उससे बचने के उपाय के बारे में अस्पष्ट जानकारी आतंक बढ़ाने में सहायक होती है। पर जहाँ दुर्घटना के शिकार बने लोगों में पहले से आपसी संपर्क होता है और इकट्ठे काम करने के तरीके मालूम होते हैं और उनकी आदत होती है वहाँ आतंक नहीं होता या बहुत कम होता है। वेस्ट फ्रैंकफर्ट नाम के शहर में कोयले की खान में एक विस्फोट से ११९ लोग मारे गये। पर तुरत ही बाकी लोगों ने बड़े व्यवस्थित और संयत ढंग से बचाव का काम शुरू किया। आतंक नहीं के बराबर था। वहाँ के मजदूर और अन्य लोग संगठित थे। दूसरी एक दुर्घटना में ब्रुकलिन (न्यूयार्क राज्य) शहर में गैस के कारण दो घण्टे तक कई विस्फोट और अग्निकाण्ड हुए। इनके कारण सिर्फ दो मरे और चौबीस घायल हुए। परन्तु लोगों को घटना का कारण मालूम नहीं था तथा वे संगठित नहीं थे इसलिए लोगों में बड़ा आतंक और उद्वेग फैला।

लड़ाई के मैदानों में शत्रु की गोलाबारी के सामने पाया गया कि फौज की टुकड़ियों के व्यक्तियों में परस्पर सम्पर्क और संवाद से हिम्मत कायम रहती है। सम्पर्क और संवाद टूटने पर आतंक फैलने की सम्भावना रहती है। आगे बढ़ती हुई फौज पर गोलाबारी शुरू होने से उनका आगे बढ़ना क्या ४५ से ६० मिनट तक रुक जाता है इसका पता लगाने के लिए एक वैज्ञानिक ने मैदान पर ग्यारह फौजी कम्पनियों के आचरण का अध्ययन किया। वे इस नतीजे पर पहुँचे कि सिपाहियों में सुव्यवस्थित सम्पर्क और संवाद पुनः प्रतिष्ठित करके ही फौजी टुकड़ियाँ गोलाबारी के सामने आगे बढ़ती हैं। कोई एक आदमी उठकर कह दे कि 'चलो! हमें इस तरफ आगे बढ़ना है' तो काम बनता है। इस तरह फौज में भी छोटे समूह का बड़ा महत्त्व होता है। प्लेटून या सेक्शन जैसी उसकी छोटी इकाइयों में समूह भावना प्रबल रहती है और भाईचारा मजबूत रहता है तो उस टोली का नीतिधैर्य (मारेल) बलशाली होता है। उसमें असम्भव भी सम्भव हो सकता है। इसलिए आजकल फौजों में इस बात की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है।

चुनाव में वोट किस प्रकार दिया जाता है इस सम्बन्ध में अमेरिका में एक खोज की गयी और उसमें पता चला कि रेडियो तथा अखबारों के प्रचार में कम ही लोग प्रथम

रूप से प्रभावित होते हैं। किसको वोट देना है, इस सम्बन्ध में राय इस प्रकार के छोटे छोटे अनौपचारिक समूहों में ही बनती है। हर समूह में कोई एक-आध व्यक्ति होता है, जो अखबार, रेडियो, टेलीविजन आदि के आधार पर अपनी मण्डली में जानकारी देता रहता है, फिर उसके आधार पर जो चर्चा होती रहती है, उसमें धीरे-धीरे उस मण्डली की एक सर्वसामान्य राय बनती है और उसके अनुसार उसके सदस्य (अनौपचारिक) वोट देते हैं।

कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों में पाया गया है कि किसी एक विभाग में काम करनेवालों में अपनी अलिखित रीति नीति होती है, जिसका पालन हरएक को करना पड़ता है। अक्सर कारखाने में मजदूर यह तय करते हैं कि घंटे में अमुक हद से अधिक उत्पादन नहीं करना चाहिए। मजदूरी उत्पादन के हिसाब से मिलती है और अधिक उत्पादन करने से अधिक मजदूरी मिल सकती है। लेकिन उनको भय होता है कि उत्पादन की गति बढ़ जायगी, तो मजदूरी की दर में कटौती होगी। ऐसी परिस्थिति में कोई नया मजदूर उस विभाग में आता है, तो पहले पहल अधिक काम करके अधिक कमाने का प्रयत्न करता है, लेकिन बहुत थोड़े ही दिनों में उस पर जमात की राय का असर होता है और वह सबके साथ काम की समान गति पर उतर आता है।

शहरों में मुहल्ले के आवारा लड़कों की टोलियाँ होती हैं। अमेरिका में तथा और भी दूसरी जगह इस प्रकार की टोलियों का अध्ययन किया गया है और पाया गया है कि इनमें भी अपने अपने सख्त रीति-रिवाज होते हैं, जिनका पालन हर सदस्य को करना पड़ता है। कभी कभी ये टोलियाँ असामाजिक भी होती हैं। चोरी, नशाखोरी, जुआ, व्यभिचार आदि में लिप्त होती हैं और इनके रीति रिवाज समाज में प्रचलित रीति रिवाजों के विरोधी प्रतीत हो सकते हैं, पर वे होते हैं जरूर, और उनके पालन के सिलसिले में इन टोलियों के सदस्य कभी कभी काफी व्यक्तिगत कठिनाई भी सहन करते हैं। स्पष्ट है कि टोली के सदस्य बनने में उनको जिस अन्तर्भुक्ति (बिलांगिंगनेस) का अनुभव होता है, यानी दूसरों के द्वारा साथी के नाते स्वीकारे जाने में जिस सन्तोष का अनुभव होता है, उससे टोली के इन रीति रिवाजों के पालन के लिए वे प्रेरित होते हैं।

आवारा लड़कों के अलावा गाँव और शहरों के सामान्य किशोर तथा जवान लड़कों की भी टोलियाँ होती हैं। आजकल की एक समस्या है कि जवान लड़के, खास करके विद्यार्थी, घर का अनुशासन कम मानते हैं। माता पिताओं के खिलाफ बगावत करते हैं। पर अपनी जमातों के काफी कड़े अनुशासन को मान लेते हैं। घर का अनुशासन उन पर ऊपर से लादा हुआ मालूम होता है। परन्तु अपने हमजोलियों की राय उनकी अपनी होती है, खुद की बनायी हुई होती है और इसलिए उसमें दबाव का अनुभव नहीं होता। पिछले दिनों अपने देश में जगह जगह जो विद्यार्थी-आन्दोलन हुए, उनमें भी यह बात देखने को मिली। विद्यार्थियों के संगठनों में काफी अनुशासन—अपने ढंग का ही सही—देखने को मिला और उसका पालन काफी मुस्तैदी से होता था।

राजनैतिक पक्षो म तथा मजदूर सगठना म भी छाटे समूहा का महत्त्व देखने को मिलता है। जिस पक्ष या सगठन की बुनियाद म इस प्रकार छोटी छोटी मंडलियाँ होती हैं वह अधिक क्षमतावान् तथा प्रभावशाली होता है। ऐसे सगठन में केन्द्रीय नेतृमण्डली क निर्णय इन ग्रुपो क जरिये हर सदस्य तक पहुँचते है तथा सदस्यो क दृष्टिकोण भी ऊपर क नेताओ तक पहुँचाते है। इस सदर्भ मे कम्युनिस्ट पार्टी क सगठन म 'सेल' या छोटी प्राथमिक इकाई का महत्त्व ध्यान म रखने लायक है।

फिर इनमे जिला प्रातीय या राष्ट्रीय स्तर क नेतृत्व भी उसी स्तर के छोटे छाटे समूहो के हाथ म होता है। यह टोली उस स्तर की सचालक समिति या कार्यकारिणी समिति के स्वरूप का औपचारिक सगठन हो सकती है या अनौपचारिक सगठन का। किसी पक्ष मे कोई बहुत बडे नेता हो तो उनके कारण औपचारिक कार्यकारिणी गौण दीखती है—जैसे पडित जवाहरलालजी क जमाने म काग्रेस मे था। फिर भी ऐसे नेता क इर्द गिर्द कोइ न कोइ जमात होती है जिनक विचार विमर्श से काम चलता है।

मनुष्यो के इस प्रकार के समूह बनते हैं मजबूत रहते है और फिर कभी टूटते भी ह। इनके बनने बिगडने के कारणो के बारे मे कुछ खोज हुई है। समूह को मजबूत बनानेवाले कारणों म एक है उसके सदस्यो का परस्पर आकर्षण। सदस्यों को आपसी मेलजोल का मौका बार बार मिले तो उससे परिचय बढता है और मैत्री भी बढती है, परतु इसम एक दूसरे के दुर्गुण खासकर आलस्य और दूसरो पर धाक जमाने की आदत आडे आती है। समूह में सबध बराबरी का न हो तो उससे भी मैत्री मे बाधा आती ह।

इसके अलावा समूह क लिए आकर्षण का भी बहुत महत्त्व होता है। समूह का उद्देश्य अपन व्यक्तिगत उद्देश्यो से मेल खाता हो तो उससे समूह क प्रति आकर्षण होता है। फिर समूह के नीति नियम या रीति रिवाज सतोषजनक हो तो उनके पालन क लिए अधिक प्रेरणा मिलती है रीति रिवाजों के पालन से समूह म समरसता और एकता बढती है। समूह से व्यक्ति को मिलनेवाली सुरक्षा और समर्थन के कारण भी उसक लिए आकर्षण बनता है। व्यक्ति को समूह म सुरक्षा का अनुभव जिन जिन बातो स मिलता है उसके बारे म कारटराइट का कहना है कि उसमे चार मुद्दे होत है। मनुष्य को अपनी ताकत का भान हो, दूसरो की मैत्री का ज्ञान हो समूह के रीति रिवाजो को वह स्वीकारता हो और कौन उसके विरोधी ह, उसका पता भी उसको हो तो वह अपन को सुरक्षित समझता है।

समूह क किसी ध्येय की पूर्ति होती है तो उससे उत्साह तथा नीति धैर्य बढता ह परस्पर मैत्री भी बनती है। इसके विपरीत विफलता मिलने पर बहुत तनाव पैदा होता है। *और समूह जितना सुसगठित होता है तनाव उतना ही अधिक होता है।*

फ्रैंच न एक प्रयोग किया था, जिसमें छह छह की सोलह टोलियाँ ली गयी। इनम छह टोलिया खेल क क्लब जैसे स्थायी सुसगठित समूहो मे से ली गयी थीं तथा बाकी की छह टोलियाँ नये लोगों की थी। उनको गणित क ऐसे नीरस प्रश्न तथा दूसर

कुछ सवाल दिये गये, जिनका कोई हल निकल नहीं सकता था। उनमें निष्फलता पैदा करना इस प्रयोग का उद्देश्य था। जब बहुत कोशिश करने पर भी सवालों का कोई हल नहीं निकला तो सब टोलियों में तनाव पैदा हुआ। पर यह तनाव सुसगठित टोलियों मे बहुत ज्यादा था, उनमें एक-दूसरे के प्रति विरोध और दोषारोप भी जोरदार शब्दों में प्रकट किया गया। इस प्रकार के आपसी झगडे और आरोप सुसगठित टोलियों में औसत ४९ की सख्या में हुए, जहाँ दूसरों में उनकी औसत सख्या ६ थी। पर इनके बावजूद ये सगठित टोलियाँ टूटी नहीं और प्रयोग के अंत में भी फिर से सवालों को हल करने का प्रयत्न करने की इच्छा जाहिर की। नयी टोलियों में, जिनके सदस्यों में पहले से किसी प्रकार का सामूहिक सबंध नहीं था निष्फलता का अनुभव कम हुआ तनाव भी कम रहा पर ये टोलियाँ आसानी से परस्पर विरोधी गुटों में बिखर गयी। इनमें परस्पर सहकार और निर्भरशीलता भी कम रही।

इससे पता चलता है कि कोई समूह किसी समस्या के हल के लिए जितना जोरदार प्रयत्न करता है, उसे सफलता न मिलने पर उसमें निष्फलता का अनुभव और तनाव उतना ही ज्यादा होता है। इससे जैसे हमने ऊपर देखा परस्पर झगडे आरोप, निंदा आदि शुरू होते हैं परन्तु इन्हें अतिक्रम करके अपना अस्तित्व टिकाये रखने की शक्ति भी सुसगठित टोलियों में बहुत अधिक होती है। निष्फलता का दूसरा परिणाम यह होता है कि कुछ लोग सवालों को हल करने का प्रयत्न छोड देते हैं, उन सवालों के बदले दूसरे सवाल लेने की कोशिश करते हैं, कोई-कोई धोखा देने का भी प्रयत्न करते है। इस तरह वे उन सवालों से कुछ समय के लिए भागते हैं। तीसरा इससे समूह में एकसामान्य विशृखलता पैदा होती है हरएक मनमानी करता है कोई किसीके साथ सहकार नहीं करता, परस्पर दोषारोपण तो चलता ही है। ऊपर के प्रयोग में ये सारे परिणाम भी नयी टोलियों के बनिस्बत सुसगठित टोलियों में ही ज्यादा देखने को मिले।

इसके अलावा समूह के टूटने का दूसरा मुख्य कारण यह है कि उसके सदस्यों में भावों का आदान-प्रदान टूटता है, तो एक-दूसरे के बारे में गलतफहमी पैदा होती है और समूह टूटने लगता है। कभी-कभी इस प्रकार परस्पर सवाद की सीमितता का कारण यह होता है कि सदस्य एक-दूसरे के बारे में अपनी-अपनी धारणा बना लेते हैं और फिर उसके आधार पर यह तय करते है कि किसको कौनसी जानकारी देनी चाहिए और कौनसी नहीं देनी चाहिए। जैसे, बुरा समाचार सुनकर कोई बहुत उद्विग्न होता हो, तो उसको सिर्फ अच्छे उत्साहजनक समाचार देने का झुकाव होता है। किसीके बारे में यह धारणा हो कि दूसरों की गलती पर वे बहुत गुस्सा करते हैं तो उनको किसी गलती के बारे में बताया नहीं जाता। इस तरह परस्पर सवाद सीमित होता है और उससे गलतफहमी के लिए मसाला इकट्ठा होता रहता है।

मनुष्यों में दूसरों की भावना से प्रभावित होने की तथा दूसरे लोग अधिक सख्या

म हो, तो उनके विचार भी मान लेने की वृत्ति होती है। बच्चो मे यह वृत्ति अधिक मात्रा में पायी जाती है। इसके कारण ही बच्चा अपने परिवार तथा अडोस पडोस से सीखता रहता है। बडो म भी यह वृत्ति काफी हद तक बनी रहती है। सम्मोहन की प्रक्रिया मे इस सजेस्टीबिलिटी (अभिभावशीलता) का उपयोग हम देखते हैं। इस तरह छोटे समूहों म सहमति या कनसेनसस् की ओर जोरदार झुकाव रहता है।

एक मशहूर कहानी है। एक आदमी एक बकरी खरीदकर घर ले जा रहा था। तीन ठगों ने उसे देखा और सोचा कि अब यह बकरी इससे ठगकर ले लेनी चाहिए। तो ये तीनों उस सडक पर एक आध मील के फासले पर अलग अलग बैठ गये। वह खरीदवाला पहले ठग के नजदीक आया तो उस ठग ने कहा "क्या भाई! यह बढ़िया काला कुत्ता तुम्हें कहा मिला?" वह मनुष्य चिल्लाकर बोला "अरे भाई! बकरी लिये जा रहा हूँ। देखते नही? कुत्ता कहाँ है!" ठग बोला "भाई, कुत्ता ही तो देख रहा हूँ।" थोडी दूर पर दूसरे ठग ने भी वैसा ही कहा तो उसके मन म जरा शका हुई कि सचमुच कहीं मुझे बकरी के बदले कुत्ता तो दे नही दिया? अब तीसरे ठग के पास पहुँचा और उससे भी उसने वही सुना तो उसकी शका पक्की हो गयी और वह गुस्से म आकर बकरी को वहीं छोड चला गया। यह तो कहानी है पर वैज्ञानिक प्रयोग से इस प्रकार की मान्यता के सबूत मिले हैं।

एक प्रयोग म एक मनुष्य को एक कागज पर खीची हुई एक सरल रेखा तथा दूसरे कागज पर तीन रेखाएँ दिखायी गयी। इन तीन रेखाओं म एक रेखा की लम्बाई पहली की असली रेखा के बराबर थी तथा बाकी दो छोटी बडी थी। दोनों कागजों को अलग अलग रखते हुए तथा किसी प्रकार से नापे बिना सिर्फ ऑखों के अदाज से जॉचने के लिए उसे कहा जाता है कि इन तीनों म कौन सी रेखा पहली रेखा के बराबर है। ये रेखाएँ ऐसी होती है कि थोडा ध्यान से देखने पर सही अदाजा लग सकता है।

ये रेखाएँ सात से लेकर सात लोगों तक को एक साथ दिखायी जाती है। इसमे एक व्यक्ति प्रयोग का पात्र होता है। बाकी एक, दो, तीन या छह प्रयोगकार के साथ साजिश मे होते हैं। उनको बताया गया होता है कि बार बार पूछने पर भी वे गलत जवाब दें। प्रयोग से पाया गया कि जब मनुष्य दूसरों के मतभेद का सामना करता है, तो अपनी राय को दुबारा परखता है। इस प्रकार भिन्न और गलत राय देनेवाला एक ही हो, तो अधिकतर लोग उसके सामने अपनी राय पर टिके रहते हैं। दो का सामना करना पडता है तो काफी लोग डगमगा जाते हैं और तीन प्रतिकूल राय के सामने टिकना बहुत ही कम लोगों के लिए शक्य होता है। तीन और तीन से अधिक व्यक्तियों के असर म ज्यादा फरक नहीं होता।

इस प्रयोग म तो एक मनुष्य के दूसरों के द्वारा प्रभावित होने की बात हुई। दूसरे एक प्रयोग म यह साबित हुआ कि किस तरह टोली म एक विचार पर पहुँचने की ओर झुकाव होता है। मुजफ्फर शरीफ के द्वारा किये गये इस प्रयोग म एक बिल्कुल

अँधेरे कमरे में एक पर्दे पर एक रोशनी का बिन्दु बताया जाता है। उस बिन्दु के अलावा आसपास की और कोई भी वस्तु दीख न पड़ने के कारण देखनेवाले का दृष्टिभ्रम होने लगता है और वह स्थिर बिन्दु हिलता हुआ दीखता है। अलग अलग व्यक्तियों का यह दिखाने पर वे यह रोशनी का बिन्दु कितना हिला, उसका अलग अलग प्रकार का अन्दाजा लगाते हैं। फिर दो, तीन या चार लोगों को इकट्ठा बैठाकर अन्दाजा लगाने के लिए कहा जाता है, तो उनके भिन्न भिन्न अभिप्राय एक दूसरे के नजदीक आने लगते हैं और तीन चार प्रयोग के बाद सबका अन्दाजा करीब करीब एक सा हो जाता है।

मनुष्यों की दूसरों के विचार और भावना के अनुकूल बनने की, उनसे प्रभावित होने की इस वृत्ति से यह स्पष्ट होता है कि समूह के प्रतिकूल बरतना मनुष्य का स्वभाव नहीं है। कोई व्यक्ति किसी एक समूह के प्रतिकूल जाता है तो किसी दूसरे समूह में उसके अनुकूल बनकर चलने की वृत्ति रखता है।

इसका एक व्यावहारिक तात्पर्य यह हुआ कि व्यक्तिगत तौर पर एक एक करके लोगों का विचार बदलने के बनिस्बत ऐसे समूहों का विचार बदलना आसान होता है। इसके भी प्रयोग हुए हैं। पिछले दूसरे विश्व-युद्ध के समय अमेरिका में गोश्त की कमी हुई, तो कुछ भिन्न प्रकार का गोश्त खाने की आदत लोगों में डालने की समस्या खड़ी हुई। इसको हल करने में समाज वैज्ञानिकों की मदद ली गयी। प्रयोगकारों ने बहनों की छह मण्डलियाँ बनायीं। इनमें से तीन मण्डलियों के सामने भाषण, प्रत्यक्ष प्रदर्शन तथा देश-भक्ति की अपील करके अमुक प्रकार का मांस खाने के लिए प्रेरित किया गया। अन्य तीन मण्डलियों को न ही भाषण दिये गये, पर उन्हें सवाल पूछने का तथा इस पर चर्चा करके निर्णय लेने का अवसर दिया गया। परिणाम साफ दिखाई पड़ा। पहली टोलियों के सिर्फ ३ प्रतिशत बहनों ने अपनी आदत में परिवर्तन किया, जहाँ दूसरी टोलियों में से ३२ प्रतिशत ने किया। इंग्लैण्ड में भी उस समय बच्चों को मछली के तेल का रस पिलाने के लिए प्रचार किया गया। पर उसका बहुत ही कम असर हुआ। फिर बहनों को मण्डलियों में संगठित करके इस पर चर्चा करने का और निर्णय लेने का मौका दिया गया, तो बहुत अधिक संख्या में बहनों ने उसे स्वीकार किया। इससे ग्रामदान आन्दोलन में गाँव के समूह को ही समाज परिवर्तन के लिए प्रेरित करने का महत्त्व स्पष्ट होता है। पर इसमें एक खतरा भी है। व्यक्ति समूह के विचार के अत्यधिक वश होता है, तो फिर उसका व्यक्तित्व ही खतम हो सकता है। समूह के विचार, विश्वास, रीति-रिवाजों को मान लेने की स्वाभाविक वृत्ति तो व्यक्ति में होती ही है। तिस पर यह सब स्वीकार करने के लिए अधिक दबाव डाला जाय, तो व्यक्ति में इस प्रकार की नियमानुवर्तिता एक विकृति का स्वरूप ले सकती है। फिर उसके लिए, हर प्रकार के नैतिक आदर्श, विवेक, मानवता के सिद्धान्त गौण हो जायेंगे, नियमानुवर्तिता ही मुख्य वस्तु रह जायगी।

जर्मनी में पिछली लड़ाई के समय आउश्वीज कैदी शिविर में सन १९४१ से १९४५

म हो, तो उनके विचार भी मान लेने की वृत्ति होती है। बच्चों में यह वृत्ति अधिक मात्रा में पायी जाती है। इसके कारण ही बच्चा अपने परिवार तथा अड़ोस पड़ोस से सीखता रहता है। बड़ों में भी यह वृत्ति काफी हद तक बनी रहती है। सम्मोहन की प्रक्रिया मे इस सजेस्टीबिलिटी (अभिभावशीलता) का उपयोग हम देखते है। इस तरह छोटे समूहों में सहमति या कनसेनसस् की ओर जोरदार झुकाव रहता है।

एक मशहूर कहानी है। एक आदमी एक बकरी खरीदकर घर ले जा रहा था। तीन ठगों ने उसे देखा और सोचा कि अब यह बकरी इससे ठगकर ले लेनी चाहिए। तो ये तीनों उस सड़क पर एक-आध मील के फासले पर अलग अलग बैठ गये। वह बकरीवाला पहले ठग के नजदीक आया तो उस ठग ने कहा "क्या भाई! यह बढ़िया काला कुत्ता तुम्हें कहां मिला?" वह मनुष्य चिढ़कर बोला "अरे भाई! बकरी लिये जा रहा हूँ। देखते नहीं? कुत्ता कहाँ है?" ठग बोला "भाई, कुत्ता ही तो देख रहा हूँ।" थोड़ी दूर पर दूसरे ठग ने भी वैसा ही कहा तो उसके मन में जरा शंका हुई कि सचमुच कहीं मुझे बकरी के बदले कुत्ता तो दे नहीं दिया? अब तीसरे ठग के पास पहुँचा और उससे भी उसने वही सुना तो उसकी शंका पक्की हो गयी और वह गुस्से में आकर बकरी को वहीं छोड़ चला गया। यह तो कहानी है पर वैज्ञानिक प्रयोग से इस प्रकार की मान्यता के सबूत मिले हैं।

एक प्रयोग में एक मनुष्य को एक कागज पर खींची हुई एक सरल रेखा तथा दूसरे कागज पर तीन रेखाएँ दिखायी गयी। इन तीन रेखाओं में एक रेखा की लम्बाई पहले की अकेली रेखा के बराबर थी तथा बाकी दो छोटी बड़ी थीं। दोनों कागजों को अलग अलग रखते हुए तथा किसी प्रकार से नापे बिना सिर्फ आँखों के अन्दाज से जांचने के लिए उससे कहा जाता है कि इन तीनों में कौन सी रेखा पहली रेखा के बराबर है। ये रेखाएँ ऐसी होती हैं कि थोड़ा ध्यान से देखने पर सही अन्दाजा लग सकता है।

ये रेखाएँ छः से लेकर सात लोगों तक को एक साथ दिखायी जाती हैं। इसमें एक व्यक्ति प्रयोग का पात्र होता है। बाकी एक दो तीन या छः प्रयोगकार के साथ साजिश में होते हैं। उनको बताया गया होता है कि बार बार पूछने पर भी वे गलत जवाब दें। प्रयोग से पाया गया कि जब मनुष्य दूसरों के मतभेद का सामना करता है तो अपनी राय को दुबारा परखता है। इस प्रकार भिन्न और गलत राय देनेवाला एक ही हो, तो अधिकतर लोग उसके सामने अपनी राय पर टिके रहते हैं। दो का सामना करना पड़ता है तो काफी लोग डगमगा जाते हैं और तीन प्रतिकूल राय के सामने टिकना बहुत ही कम लोगों के लिए शक्य होता है। तीन और तीन से अधिक व्यक्तियों के असर में ज्यादा फरक नहीं होता।

इस प्रयोग में तो एक मनुष्य के दूसरों के द्वारा प्रभावित होने की बात हुई। दूसरे एक प्रयोग में यह साबित हुआ कि किस तरह टोली में एक विचार पर पहुँचने की ओर झुकाव होता है। मुजाफर शरीफ के द्वारा किये गये इस प्रयोग में एक बिल्कुल

तक यानी लड़ाई के अन्त तक पचीस लाख यहूदियों का (औरत मर्द और बच्चों का) कत्ल किया गया। जर्मन फौज के ४६ वर्ष वय का एक कर्नल रुडल्फ होस, इस शिविर का सचालक था। वहाँ उसके मातहत रोज दस हजार तक लोगों को जहरी गैस से मारा जाता था। जर्मनी के हारने पर उसके नेताओं पर मुकदमा चला, तब अदालत में इसने सारी बात साफ साफ स्वीकार की। उसने कहा कि नेता हिटलर ने 'यहूदी-समस्या के आखिरी हल' का आदेश दे दिया था। गुप्त पुलिस के अध्यक्ष हिमलर ने उसको बुलाकर यह बताया और कहा कि तुम्हे यह कठिन काम करना होगा। तो होस ने कहा 'ठीक है' और फिर वह इन अनगिनत हत्याओं में जुट गया।

जब उससे पूछा गया कि क्या ये यहूदी इस प्रकार हत्या करने योग्य थे तो उसने कहा कि इस प्रश्न का कोई मतलब नहीं होता। देखते नहीं हम लोगों से ऐसे बन सवालों के बारे में सोचने की अपेक्षा नहीं रखी जाती'

इस तरह उसने अपने ऊपर के अफसरों के आदेश पालन को ही सबसे महत्वपूर्ण माना था। धर्म नीति, विवेक, सब उसके पास गौण हो गये थे। यह होस पागल नहीं था। यह औसत दरजे का भला आदमी ही था। पर जर्मनी में नियमानुवर्तिता पर इतना भार था कि सामान्य सीधे सादे भले मनुष्य भी भयंकर अत्याचार के औजार बने।

इसलिए यह सवाल उठता है कि व्यक्ति किस तरह समूह में साथ सहकारिता और समूह के प्रति सद्भावना कायम रखते हुए अपनी स्वतन्त्र विचार शक्ति को भी मजबूत कर सकेगा और अपने स्वतन्त्र चिन्तन से समूह की सही निर्णय लेने में मदद कर सकेगा। आगे नेतृत्व और अनुशासित के प्रसंग के विवेचन में इस पर कुछ और प्रकाश पड़ेगा।

समूह की बड़ाई और शिक्षा की भी खोज हुई है। दूसरे विश्व युद्ध के समय आक्सफोर्ड तथा केंब्रिज विश्वविद्यालयों में अध्यापकों की कमी रही और उस समय प्रयोग से पता चला कि हरएक विद्यार्थी अपनी अपनी पढ़ाई अलग अलग करने के बजाय पाँच छह विद्यार्थी साथ बैठकर पढ़ाई करते हैं, तो अधिक तेजी के साथ भरके सीख सकते हैं। इस प्रकार के और भी प्रयोग हुए हैं। सन् १९७५ में किये गये एक प्रयोग में एक वर्ग के एक विभाग के तीस विद्यार्थियों को पाँच पाँच की टोलियों में बाँटा गया और दूसरे विभाग के तीस विद्यार्थी मामूली ढंग से पूरे वर्ग के रूप में रहे। इनको अंग्रेजी-लेखन सीखना था। टोलियों में हर विद्यार्थी अपना लेखन अपनी टोली को पढ़कर सुनाता था उस पर चर्चा होती थी और फिर उस चर्चा के आधार पर वह अपने लेखन में सुधार करता था। कभी कभी टोली के हर विद्यार्थी के लेख में अच्छा अंश चुनकर एक 'टोली का लेख' तैयार किया जाता था जो वर्ग को पढ़कर सुनाया जाता था उस पर आलोचना होती थी फिर टोलियाँ अपने अपने श्रेष्ठ लेख चुनती थीं।

मामूली वर्ग में भी हर विद्यार्थी अपना लेख पढ़कर सुनाता था उसकी आलोचना

भी सरगर्मी के साथ होती थी। लेकिन उसमें हरएक विद्यार्थी अपने लिए ही मानता था और जो प्रतियोगिता चलती थी, वह व्यक्तियों के बीच चलती थी।

छह महीना के अन्त में सारे विद्यार्थियों की जाँच की गयी तो पता चला कि टोली-पद्धति से सीखनेवाले वर्ग ने ५७ १ प्रतिशत तरक्की की है और मामूली वर्ग ने ३५ ४ प्रतिशत। इस तरह के और भी प्रयोग हुए हैं और उनमें इसी प्रकार के परिणाम आये हैं।

सवाल हल करने में भी इसी प्रकार के अनुभव आये हैं। तीन तीन, चार चार की टोलियों को सवाल हल करने के लिए दिया गया तथा उसी बौद्धिक स्तर के कुछ और व्यक्तियों को अलग अलग वही सवाल दिया गया और पाया गया कि टोलियों के उत्तर अधिक सही होते हैं। इसका कारण क्या है? क्या एक व्यक्ति में जितनी बुद्धि होती है, पाँच के जोड़ में उस बुद्धि में कुछ गुणात्मक परिवर्तन होता है? क्या दस सामान्य बुद्धि के व्यक्ति मिलकर एक प्रतिभावान व्यक्ति की बराबरी कर सकते हैं? हम टोली-पद्धति के लिए इस प्रकार का दावा तो नहीं कर सकते, पर अकेले व्यक्ति की तुलना में सामूहिक प्रयत्न में जो अधिक सफलता कुछ हद तक मिलती है, उसका मुख्य कारण यह दीखता है कि अक्सर व्यक्तियों में सोचने की कुछ बनी-बनायी आदत होती है, दिमाग का अपना कुछ 'रुख' होता है, जिसके कारण हल करने की कुछ दिशाएँ उसे सूझती नहीं। चार-छह लोगों के दिमाग लगते हैं तो इस प्रकार की आदतों या 'रुख' की मर्यादाओं से मुक्ति मिलती है।

परन्तु कभी कभी समूहों की भी इस प्रकार सोचने की बनी-बनायी आदतें तथा रुख होते हैं। समूह यदि लम्बे अरसे से चला आया हो, तो उसमें हरएक का सोचने का ढंग और रुख करीब करीब एक सा बन जाता है। इसलिए इस प्रकार की टोली सोचने बैठे, तो उसमें भी नयी सूझ निकलने की सम्भावना कम रहती है। इसलिए नये लोगों को लेकर बनायी गयी अस्थायी टोली इस प्रकार सवाल हल करने के काम में अधिक कारगर होती है।

छोटे समूहों के बारे में जो जानकारी और अन्तर्दृष्टि मिली है, उससे कई महत्त्व के सवालों पर नयी रोशनी मिलती है। ये छोटे समूह मानव समाज की बुनियाद की ईंट हैं। इसलिए जहाँ ये कमजोर हुए, वहाँ समाज ही खतरे में पड़ सकता है। आधुनिक बड़े शहरों में इस प्रकार के समूह तो होते हैं, पर बहुत कमजोर होते हैं, लोगों को उनसे जो अपेक्षाएँ होती हैं, वे सब उनसे पूरी नहीं होतीं। इसलिए शहर के समाज में खतरनाक कमजोरी होती है। समूहों के कमजोर तथा एकांगी होने के कारण उनसे लोगों को जो विचार तथा रीति-रिवाज मिलते हैं, वे स्वस्थ समाज जीवन की दृष्टि से पर्याप्त नहीं होते। मरगान ने (द कम्युनिटी ऑफ द फ्यूचर में) कई उदाहरण देकर साबित किया है कि छोटे समूहों में सभ्यता का निर्माण और पोषण होता है तथा बड़े शहरों में विनाश। इसलिए यह सवाल खड़ा होता है कि या तो शहरों में समाधान-कारक छोटे समूह बनें या शहर ही टूटें और छोटी-छोटी बस्तियों में बँट जायें।

तक यानी लड़ाई के अन्त तक पचीस लाख यहूदियों का (आरत, मर्द और बच्चों का) कत्ल किया गया। जर्मन फौज के ४६ वर्ष वय का एक कर्नल रुडल्फ होस इस शिविर का संचालक था। यहाँ उसके मातहत रोज दस हजार तक लोगों को जहरीले गैस से मारा जाता था। जर्मनी के हारने पर उसके नेताओं पर मुकदमा चला तब अदालत में इसने सारी बातें साफ साफ स्वीकार कीं। उसने कहा कि नेता हिटलर ने यहूदी समस्या के आखिरी हल का आदेश दे दिया था। गुप्त पुलिस के अध्यक्ष हिमलर ने उसको बुलाकर यह बताया और कहा कि तुम्हें यह कठिन काम करना होगा। तो होस ने कहा ठीक है और फिर इन अनगिनत हत्याओं में जुट गया।

जब उससे पूछा गया कि क्या ये यहूदी इस प्रकार हत्या करने योग्य थे, तो उसने कहा कि इस प्रश्न का कोई मतलब नहीं होता। देखते नहीं हम लोगों से ऐसे बने सवालों के बारे में सोचने की अपेक्षा नहीं रखी जाती?

इस तरह उसने अपने ऊपर के अफसरों के आदेश पालन को ही सबसे महत्त्वपूर्ण माना था। धर्म नीति, विचार, सब उसके पास गौण हो गये थे। वह होस पागल नहीं था। वह औसत दरजे का भला आदमी ही था। पर जर्मनी में नियमानुवर्तिता पर इतना भार था कि सामान्य सीधे सादे भले मनुष्य भी भयंकर अत्याचार के औजार बने।

इसलिए यह सवाल उठता है कि व्यक्ति किस तरह समूह के साथ सहकारिता और समूह के प्रति सद्भावना कायम रखते हुए अपनी स्वतंत्र विचार शक्ति को भी मजबूत कर सकेगा और अपने स्वतंत्र चिन्तन से समूह को सही निर्णय लेने में मदद कर सकेगा। आगे नेतृत्व और अनुयायित्व के प्रसंग के विवेचन में इस पर कुछ और प्रकाश पड़ेगा।

समूहों की कार्य और शिक्षा की भी खोज हुई है। दूसरे विश्व युद्ध के समय आक्सफोर्ड तथा केम्ब्रिज विश्वविद्यालयों में अध्यापकों की कमी रही और उस समय प्रयोग से पता चला कि हरएक विद्यार्थी अपनी अपनी पढ़ाई अलग अलग करने के बजाय पाँच छह विद्यार्थी साथ बैठकर पढ़ाई करते हैं तो अधिक तेजी के साथ सबक सीख सकते हैं। इस प्रकार के और भी प्रयोग हुए हैं। सन् १९२५ में किये गये एक प्रयोग में एक वर्ग के एक विभाग के तीस विद्यार्थियों को पाँच पाँच की टोलियों में बाँटा गया और दूसरे विभाग के तीस विद्यार्थी मामूली ढंग से पूरे वर्ग के रूप में रहे। इनका अंग्रेजी-लेखन सीखना था। टोलियों में हर विद्यार्थी अपना लेखन अपनी टोली को पढ़कर सुनाता था, उस पर चर्चा होती थी और फिर उस चर्चा के आधार पर वह अपने लेखन में सुधार करता था। कभी-कभी टोली के हर विद्यार्थी के लेख से अच्छा अंश चुनकर एक 'टोली का लेख' तैयार किया जाता था जो वर्ग को पढ़कर सुनाया जाता था उस पर आलोचना होती थी फिर टोलियाँ अपने-अपने श्रेष्ठ लेख चुनती थी।

मामूली वर्ग में भी हर विद्यार्थी अपना लेख पढ़कर सुनाता था उसकी आलोचना

भी सरगर्मी के साथ होती थी। लेकिन उसमें हरएक विद्यार्थी अपने ग्रेड में ही मानता था और जो प्रतियोगिता चलती थी, वह व्यक्तियों के बीच चलती थी।

छह महीनों के अन्त में सारे विद्यार्थियों की जाँच की गयी तो पता चला कि टोली पद्धति से सीखनेवाले वर्ग ने ५७.१ प्रतिशत तरक्की की है और मामूली वर्ग ने २५ प्रतिशत। इस तरह के और भी प्रयोग हुए हैं और उनमें इसी प्रकार के परिणाम आये हैं।

सवाल हल करने में भी इसी प्रकार के अनुभव आये हैं। तीन तीन, चार चार की टोलियों को सवाल हल करने के लिए दिया गया तथा उसी बौद्धिक स्तर के कुछ और व्यक्तियों को अलग अलग वही सवाल दिया गया और पाया गया कि टोलियों के उत्तर अधिक सही होते हैं। इसका कारण क्या है? क्या एक व्यक्ति में जितनी बुद्धि होती है, पाँच के जोड़ में उस बुद्धि में कुछ गुणात्मक परिवर्तन होता है? क्या हम सामान्य बुद्धि के व्यक्ति मिलकर एक प्रतिभावान व्यक्ति की बराबरी कर सकते हैं? इस टोली-पद्धति के लिए हम प्रकार का दावा तो नहीं कर सकते, पर अकेले व्यक्ति की तुलना में सामूहिक प्रयत्न में जो अधिक सफलता कुछ हद तक मिलती है, उसका मुख्य कारण यह दीखता है कि अक्सर व्यक्तियों में सोचने की कुछ बनी-बनायी आदत होती है, दिमाग का अपना कुछ 'रुख' होता है, जिसके कारण हल करने की कुछ दिशाएँ उसे सूझती नहीं। चार छह लोगों के दिमाग लगते हैं तो इस प्रकार की आदतों या 'रुख' की मर्यादाओं से मुक्ति मिलती है।

परन्तु कभी-कभी समूहों की भी इस प्रकार सोचने की बनी बनायी आदतें तथा रुख होते हैं। समूह यदि लम्बे अरसे से चला आया हो, तो उसमें हरएक का सोचने का ढंग और रुख करीब करीब एक-सा बन जाता है। इसलिए इस प्रकार की टोली सोचने बैठे, तो उसमें भी नयी सूझ निकलने की सम्भावना कम रहती है। इसलिए नये लोगों को लेकर बनायी गयी अस्थायी टोली इस प्रकार सवाल हल करने के काम में अधिक कारगर होती है।

छोटे समूहों के बारे में जो जानकारी और अन्तर्दृष्टि मिली है, उससे कई महत्त्व के सवालों पर नयी रोशनी मिलती है। ये छोटे समूह मानव समाज की बुनियाद की ईंटें हैं। इसलिए जहाँ ये कमजोर हुए, वहाँ समाज ही खतरे में पड सकता है। आधुनिक बड़े शहरों में इस प्रकार के समूह तो होते हैं, पर बहुत कमजोर होते हैं, लोगों का उनसे जो अपेक्षाएँ होती हैं, वे सब उनसे पूरी नहीं होतीं। इसलिए शहर के समाज में खतरनाक कमजोरी होती है। समूहों के कमजोर तथा एकांगी होने के कारण उनसे लोगों को जो विचार तथा रीति-रिवाज मिलते हैं, वे स्वस्थ समाज जीवन की दृष्टि से पर्याप्त नहीं होते। मरगान ने (द कम्युनिटी ऑफ द फ्यूचर में) कई उदाहरण देकर साबित किया है कि छोटे समूहों में सभ्यता का निर्माण और पोषण होता है तथा बड़े शहरों में विनाश। इसलिए यह सवाल खड़ा होता है कि या तो शहरों में समाधान-कारक छोटे समूह बनें या शहर ही टूटें और छोटी-छोटी बस्तियों में बँट जायँ।

जातिभेद अपने देश का एक बड़ा कलंक रहा है। फिर भी राममोहन राय से लेकर महात्मा गांधी तक अनेक बड़े महापुरुषों के बावजूद भी उसकी पकड़ बहुत कम ढीली हुई है। इसका मुख्य कारण शायद यह है कि जाति छोटे समूह का आधार बनी हुई है। उसमें लोगों की अन्तर्भुक्ति (बिलांगिंगनेस)—किसी समूह में शरीक होने, दूसरों के द्वारा स्वीकारे जाने—की नैसर्गिक आकांक्षा पूरी होती है। उससे अमुक प्रकार की सुरक्षा भी मिलती है। कोई मनुष्य किसी नये शहर में आता है तो असहाय स्थिति में उसे अपने जातिवालों से सहारा मिल सकता है। एक समाजसेवक एक बड़े शहर में नये नये गये हुए थे और उनको रहने के लिए मकान मिल नहीं रहा था। अचानक उनको शहर के एक सज्जन से सन्देश मिला कि आप यहाँ कठिनाई में हैं, तो हम आपकी पूरी मदद करेंगे, मकान ढूँढ देंगे और मकान न मिलने तक रहने का इन्तजाम कर देंगे। वे समाजसेवक सनातनी ब्राह्मण थे और सन्देश भेजनेवाले सज्जन उस शहर के सनातनी ब्राह्मण समाज के एक प्रमुख व्यक्ति थे।

एक मान्यता थी कि लोग शहरों में बसेंगे, आधुनिक उद्योग-धन्धों में काम करेंगे, नये तकनीकी सन्दर्भ में जीयेंगे तो पुराने विचारों की पकड़ मिटती जायगी, जातिभेद आदि दोष मिटते जायेंगे। परन्तु कुछ दिन पहले गुजरात विश्वविद्यालय की ओर से किये गये अनुसन्धान से पता चला है कि इन दिनों शहरों में जाति की पकड़ अधिक मजबूत ही हुई है, ढीली नहीं। इसका कारण यह है कि शहर में ऐसे नये संगठन, नये समूह खड़े नहीं हुए हैं, जो जाति से मिलनेवाले संरक्षण का एहसास करा सकें। मजदूर संघ वगैरह संगठनों में ये पहलू अविकसित ही रहे हैं। मुहल्ला या उस प्रकार भौगोलिक क्षेत्र के आधार पर कोई संगठन नहीं है, जो लोगों की अन्तर्भुक्ति की हाजत पूरी करे तथा सुरक्षा का आश्वासन दे।

राजनीति में भी जातिवाद का असर बढ़ता दीख रहा है। चुनावों में करीब-करीब सभी पक्ष जातिगत संगठन और जाति भावना का अधिक से अधिक सहारा लेते हुए पाये जा रहे हैं। यहाँ भी वही सवाल है कि जाति के बने बनाये ढाँचे का स्थान लेनेवाले दूसरे छोटे समूह खड़े नहीं हुए हैं।

इस स्थिति में जाति को खतम करना है तो ऐसे छोटे समूहों को खड़ा करना होगा, जो लोगों की समस्त नैसर्गिक आकांक्षाओं को पूरा कर सकें तथा जो आधुनिक गतिशील समाज के अनुकूल हों। गाँव को एक जीते जागते समूह के नाते खड़ा करने से यह हो सकता है। पर कभी कभी गाँव भी बहुत बड़ी इकाई हो जाती है। इस हालत में उसमें भी जाति भेद के स्तरों को काटनेवाले छोटे छोटे समूह खड़े करने होंगे, जैसे युवकों के संगठन, स्त्रियों के संगठन, मुहल्ला इकाई इत्यादि। इस प्रकार के नये समूहों की पकड़ जैसे-जैसे मजबूत होती जायगी, वैसे-वैसे जाति की पकड़ ढीली होती जायगी। ●

हर मनुष्य में कुछ विशेषताएँ होती हैं और इन सबको लेकर हरएक का एक अलग व्यक्तित्व होता है। राम हिम्मतवर, होशियार, हमेशा हँसमुख रहता है, पर शान्त स्वभाव का है, अपने काम में मशगूल रहता है। होशियार तो है पर बहुत ही तेज, किसी न किसी के साथ हमेशा कुछ न कुछ खटपट लगी रहती है। दूसरा कोई न हो, तो मन ही मन बड़बड़ाता रहता है। पार्वती बड़ी प्यारी लगती है, जो काम कहा, खुशी-खुशी कर देती है, पर जरा सी बात हुई कि दोनों आँखों से गंगा जमुना बहने लगती है। श्याम तो हद कर देता है, बैठा है तो बैठा ही है। अभी कुछ बात हुई कि पाँच मिनट में भूल जायगा। मानो न दिमाग चलता है, न हाथ पैर। पर बच्चों से बड़ा प्यार है, उसे देखते ही बच्चे खिल उठते हैं।

इस तरह हरएक की अलग अलग सिफता के आकलन में हम हरएक के व्यक्तित्व का एक चित्र बनाने का प्रयत्न करते हैं। यह प्रयत्न जमाने से चलता आया है। गीता में सत्त्व, रज, तम, इन तीन गुणों के आधार पर विभाजन किया गया है। गीता के अनुसार सात्त्विक कर्ता आसक्तिशून्य, अहंकारशून्य, धृति और उत्साह से भरा हुआ और सफलता तथा विफलता दोनों में निर्विकार होता है। राजस कर्ता आसक्ति रखनेवाला, कर्म का फल चाहनेवाला, लोभी, हिंसात्मक, अशुचि और हर्ष तथा शोक से अभिभूत होनेवाला होता है। और जो तामस है, वह योगविहीन, संस्कारहीन, दिखावा करनेवाला, धोखा देनेवाला, नीच, आलसी, विषादपूर्ण और दीर्घसूत्री होता है।

ग्रीस में 'हिप्पोक्रेटिस' ने काला पित्त, पीला पित्त, कफ और रक्त, शरीर के इन चार तत्त्वों के आधार पर व्यक्तित्व का वर्गीकरण किया। जिसमें रक्त का प्राबल्य होता है, वह उत्साही, आशावादी होता है, कफप्रधान व्यक्ति शान्त, कभी उत्तेजित न होनेवाला, उदासीन स्वभाव का होता है, काला पित्तवाला होता है विषादी, निराशावादी, उत्साहहीन, और पीला पित्तवाला आसानी से भड़क उठनेवाला, उत्तेजित स्वभाव का होता है। यह वर्गीकरण यूरोपीय भाषाओं में आज तक अपना आसन जमाये हुए है।

इसी प्रकार आधुनिक जमाने में 'शेल्डन' ने शरीर के आधार पर बुनियादी चरित्र का वर्गीकरण किया। भ्रूणावस्था में शरीर की रचना के समय भ्रूण के तीन स्तरों से शरीर के तीन मुख्य भाग बनते हैं। अंदर के स्तर से शरीर के अंदर के भाग, उदर, आँत, फेफड़े, हृदय आदि, बीच के स्तर से हड्डियाँ, पेशियाँ आदि, तथा बाहर के स्तर से स्नायु-तंत्र, मस्तिष्क आदि बनते हैं। 'शेल्डन' का कहना है कि व्यक्तियों में इन तीन विभागों के प्राधान्य के अनुसार मूल स्वभाव बनता है। जिसमें अंदर के यंत्र का— उदर, हृदय आदि का असर अधिक हो, वह भावनाप्रधान, भोगप्रिय होगा, मध्य

भाग का—हड्डी, पेशी आदि का असरवाला कर्मप्रधान होगा, यानी शारीरिक कर्म खेल कूद आदि में उसका अधिक रस होगा और बाहर के स्तर का प्रभाववाला बुद्धिप्रधान होगा, चिंतन और बौद्धिक विषयों में उसका रस होगा। दूसरे लोगों ने इस दूसरे ढंग से लिया है। युग ने 'एक्स्ट्रोवर्ट' और 'इन्ट्रोवर्ट' ऐसी दो मूल प्रकृतियाँ सुझायीं। एक्स्ट्रोवर्ट यानी बहिर्मुख, जिसका मन बाहर की दुनिया की ओर है। वह दूसरों से मिलने जुलने में आनंद पाता है। सब लोग जो कर रहे हैं वही करना वह पसंद करता है। दौड़ धूप, हँसी मजाक में उसे रस आता है, इत्यादि। इन्ट्रोवर्ट यानी अंतर्मुख, गंभीर स्वभाव का, चिंतनप्रधान होता है। एकांत पसंद करता है। मानसिक तनाव के समय एकांत में अपने में डूब जाने की वृत्ति उसमें होती है। 'युग का यह विभाजन भी आम बोलचाल में बहुत चलने लगा है।

'शेल्डन' या युग के वर्गीकरण कहाँ तक सही हैं, यह लोगों का व्यक्तित्व जाँचकर मालूम किया जा सकता है। ऐसे प्रयोग किये भी गये हैं। उन पर से दीखता है कि अंतर्मुख और बहिर्मुख स्वभाव के कुछ लोग जरूर होते हैं। पर अधिकतर लोग बीच की स्थिति के होते हैं। जैसे आसपास लोगों के हिसाब से कुछ लोग लम्बे और कुछ लोग नाटे जरूर हैं, परन्तु सारे लोगों को लम्बा और नाटा इन दो ही वर्गों में बाँटा नहीं जा सकता। एक लम्बी फुटपट्टी पर बहुत सारे लोगों की ऊँचाई चिह्नित करेंगे तो उसके एक सिरे पर सबसे नाटा होगा तो दूसरे सिरे पर सबसे लम्बा और बाकी सब बीच में होंगे। उसी प्रकार युग की फुटपट्टी के एक सिरे पर बिल्कुल अंतर्मुख तो दूसरे सिरे पर बिल्कुल बहिर्मुख मनुष्य होंगे, बाकी सारे बीच के होंगे। भावप्रधान, कर्मप्रधान और बुद्धिप्रधान के बारे में भी वैसा ही है। किसी किसीमें इन तीनों में से किसी एक लक्षण का प्राधान्य होता है, पर अक्सर लोगों में तीनों गुण कुछ न कुछ अंश में होते हैं। इसीलिए इन लक्षणों के आधार पर कोई निश्चित वर्ग विभाजन नहीं किया जा सकता।

'हिप्पोक्रेटिस' का वर्गीकरण आज की वैज्ञानिक जाँच में नहीं टिकेगा, यद्यपि उसके शब्द तो टिके हुए हैं। 'शेल्डन' और युग के सिद्धांत वर्गीकरण के नाते सही नहीं हैं, पर व्यक्तित्व के पहलुओं के नाते उनमें कुछ तथ्य हो सकता है। परन्तु आखिरी जाँच में ये जितने अंश में सही सिद्ध हुए हैं, उनके पक्ष में तो सबूत मिला है कि मनुष्य के व्यक्तित्व के कुछ पहलू उसकी जन्मजात शारीरिक-मानसिक रचना पर आधारित हैं। प्रसन्नता अवसाद, स्थिरता-अस्थिरता, तनाव की ओर अधिक या कम झुकाव—इन फुटपट्टियों पर नापे जानेवाले व्यक्तित्व के लक्षण आदि गुण जन्मजात रचना से संबंध रखते हैं।

इस प्रकार दो चार बुनियादी सूत्रों के बगैर ही व्यक्तित्व के अलग अलग लक्षणों का वर्गीकरण करके उनके आधार पर व्यक्तित्व जाँचने का प्रयत्न भी हो रहा है। जैसे प्रफुल्लता विषण्णता, कथनप्रियता नीरवता, पराक्रम सावधानी, शांतता उत्तेजना— इस प्रकार के गुणों की जोड़ियाँ समाज में अपने को निभाने की दृष्टि से महत्त्व की

मानी जाती है। कई विषयों में रुचि और थोड़े विषयों में रुचि, स्वतंत्रता और निर्भरशीलता, कल्पना-प्रवणता और कल्पनाहीनता—ये सब जिज्ञासा-वृत्ति से संबंध रखते हैं। हरएक में कौनसा गुण किस मात्रा में है? स्पष्ट है कि ये जातियाँ भी उस उस फुटपट्टी के दो सिरे हैं। कुछ ही लोग ऐसे होंगे, जिनका एक विषय में नाप फुटपट्टी के एक छोर पर या दूसरे छोर पर आयेगा, पर अधिकतर लोग बीच में कहीं न कहीं आयेंगे। कोई अत्यंत पराक्रमी होगा, तो कोई अत्यंत सावधान पर अधिकतर लोगों में दोनों गुणों की कुछ मिलावट होगी।

इस तरीके से लोगों के व्यक्तित्व के लक्षणों को तफसील में जाँचना संभव होता है और इससे विभिन्न प्रकार के कामों के लिए योग्य व्यक्ति चुनने में मदद मिल रही है। अक्सर हम एक स्थूल दर्शन के आधार पर मनुष्यों के चरित्र जाँचने की कोशिश करते हैं कि फलाँ मनुष्य हिसाबनवीस के काम के लिए कहाँ तक योग्य होगा? उसमें तफसील में जाने की आदत तो है? मेहनत तो कर सकेगा? लोगों को निभा सकेगा? अब इन्हीं प्रयत्नों को निश्चित, वैज्ञानिक तथा निरपेक्ष रूप दिया जा रहा है।

मनोवैज्ञानिक जाँच से फौजों के लिए अफसर चुनने में, फौज के विभिन्न विभागों के लिए योग्य मनुष्य चुनने में बड़ी सफलता मिली है। ऐसे परीक्षणों के उपयोग से पहले अनुभवी लोगों के अंदाज पर से चुनने के कारण जितने लोग बाद में अयोग्य साबित होते थे, इन तरीकों के अपनाये जाने के बाद उस तरह बाद में अयोग्य साबित होनेवाले बहुत कम निकलते हैं। इंग्लैण्ड में उच्च सरकारी पदों के लिए भी इस प्रकार के तरीके सफल रूप से अपनाये गये हैं। व्यापार-धंधों में जिम्मेवार कर्मचारी चुनने के लिए भी इनका उपयोग होने लगा है।

इन सब प्रकार के वर्गीकरण और पृथक्करण से समझ जरूर कुछ बढ़ती है, इनका व्यावहारिक उपयोग भी बहुत कुछ होता है फिर भी ज्ञान अधूरा रह जाता है। किसी एक समय किसी व्यक्ति का व्यक्तित्व किस प्रकार का है, यह हम इससे जान सके। पर अब यह देखना है कि वह व्यक्तित्व बना कैसे? उसके अलग-अलग लक्षणों में कोई परस्पर संबंध है क्या? हमने पिछले अध्यायों में देखा है कि मनुष्य का व्यक्तित्व कोई बनी बनायी चीज नहीं है। उसका विकास कई प्रकार के प्रभावों के अधीन होता है। ऊपर के 'स्थितिशील' पृथक्करण के बदले मनुष्य-स्वभाव के 'गतिशील' स्वरूप के आधार पर किये गये कई विश्लेषणों का परिचय हमें पिछले अध्यायों में जगह-जगह मिला है। 'फ्रायड', 'ऐडलर', 'हरने', 'सलीवान' आदि के विश्लेषणों का विवेचन हमने किया है, जिसमें बचपन के अनुभवों में से व्यक्तित्व के विकास पर ध्यान केन्द्रित हुआ है। फ्रायड ने दैहिक इंद्रियानुभूति के विकास के आधार पर व्यक्तित्व के विकास के चार स्तर बताये हैं—मौखिक (ओरेल), मल-मूत्र त्याग से सम्बद्ध (एनेल), लैंगिक (फैलिक) और पूर्ण यौन (सेक्सुअल)। ऐडलर ने 'सत्ता की लिप्सा' पर जोर दिया है। हरने ने परिवार के साथ भावात्मक संबंध पर जोर दिया है। यह सारा विवेचन यहाँ दोह-

जाने की जरूरत नहीं है। उसमें हमने 'एरिक फ्रम' का भी परिचय दिया है और 'श्रेष्ठत्वलाभ की वृत्ति' के आधार पर उन्होंने जो विश्लेषण किया है, उसकी भी जानकारी दी है।

'पैवलोव' के प्रयोगों से जिस परंपरा की शुरुआत हुई, उसका भी थोड़ा सा अवलोकन हमने कर लिया है। इसमें से उद्दीपन-प्रत्युत्तर सिद्धांत (Stimulus Response Theory) का जन्म हुआ। इसके अनुसार मनुष्य का हरएक व्यवहार किसी न किसी उद्दीपन का प्रत्युत्तर है। इस तरह मनुष्य के हर व्यवहार की एक आदत बनती है और उसका व्यक्तित्व ऐसी आदतों की समष्टि के सिवा और कुछ नहीं है।

पर अधिकतर मनोवैज्ञानिक यह दावा स्वीकार नहीं करते। मनुष्य के व्यक्तित्व का कुछ हिस्सा इस प्रकार की आदतों के स्तर पर भी है। पर उसका समग्र व्यक्तित्व आदतों की समष्टि से कुछ अधिक है। न वह लक्षण (ट्रेट्स) विश्लेषण करनेवालों के मुताबिक सिर्फ लक्षणों का जोड़ ही है। वह तो उससे बढ़कर कुछ है। उसमें एक समग्रता होती है, विकासशीलता होती है और ध्येय की ओर बढ़ने की निष्ठा भी होती है।

शायद इस समय कुर्ट लेवीन के 'फील्ड डायनामिक्स थियोरी' को सबसे अधिक दृष्टिकोणों को सँभालनेवाले सिद्धांतों का प्रतिनिधिस्वरूप हम मान सकते हैं। फील्ड डायनामिक्स यानी क्षेत्र गतिशील। उनके सिद्धांत के अनुसार

१ मनुष्य का व्यक्तित्व एक समग्र वस्तु है, जो गतिमान् और परिवर्तनशील है।

२ वह सिर्फ अंशों का जोड़ नहीं है। उसमें एक गतिमान् समग्रता है।

३ समग्र व्यक्तित्व एक एक अंश को प्रभावित करता है, वैसे हर अंश एक-दूसरे को और समग्र को भी प्रभावित करता है। स्वभावत समग्र का प्रभाव ही अधिक होता है।

४ समाज और व्यक्ति भी उसी प्रकार मिलकर एक बृहत्तर क्षेत्र बनता है, जो सारी मानव जाति और मानव-व्यक्तित्व तक फैला हुआ है।

५ व्यक्ति का मूलभूत जैव उपादान तथा समाज का प्रभाव इन दोनों के पारस्परिक संयोग और क्रियाओं में से व्यक्ति का स्वतंत्र व्यक्तित्व बनता है।

६ व्यक्तित्व का विकास तथा परिवर्तन समग्र रूप से ही होता है।

हमने फ्रायड, युग, ऐडलर, हर्नी, फ्रम आदि की दृष्टि का जो विवेचन किया है उससे यह स्पष्ट है कि व्यक्तित्व का समग्र रूप ही इनके सामने रहा है और इन्होंने व्यक्तित्व को समाज तथा व्यक्ति की आपसी क्रिया प्रतिक्रिया का परिणाम ही माना है। व्यक्तित्व पर समाज का किस प्रकार असर होता है उसके कई उदाहरण हमने जगह जगह देखे हैं। ये उदाहरण मनोविज्ञान तथा मानव विज्ञान से लिये गये हैं। हमने देखा है कि सहकारिता, प्रतियोगिता, विश्वास, शंकाशीलता, ग्रहणशीलता, असहिष्णुता, स्वतंत्रवृत्ति, निर्भरशीलता आदि लक्षण सामाजिक सन्दर्भ में आकार होते हैं। इसमें बचपन के लालन पालन का असर मुख्य होता है पर जीवनभर के अनुभवों

का असर भी होता रहता है। छोटे समूहों के असर के बारे में भी हमने विवेचन किया है। ऐसे उदाहरण हजारों दिये जा सकते हैं।

'एरिक फ्रम' ने आदिवासी समाज में नहीं, बल्कि व्यापक समाज में सामाजिक आर्थिक रचना के अनुसार लोगों का व्यक्तित्व किस प्रकार बनता है, उसका एक चित्र खींचा है। ऐसा करते हुए उन्होंने व्यक्तित्व के दो मुख्य प्रकार माने हैं: सृजनहीन और सृजनशील। सृजनहीन चारित्र्य के उन्होंने चार प्रकार गिनाये हैं: १ ग्रहणशील, २ शोषण अभिमुखी, ३ संग्रह-अभिमुखी और ४ बाजार अभिमुखी।

इसके विवेचन में अधिक आगे बढ़ने से पहले हम यह बात ध्यान में ले लें कि इस वर्गीकरण से व्यक्तित्व को देखने का एक और दृष्टिकोण हमारे सामने आता है और यह सबसे महत्त्वपूर्ण है। समाज में व्यक्ति कितनी सफलतापूर्वक जी सकता है, लोगों के साथ उसका सम्पर्क कितना समाधानकारक होता है, उसमें सृजनशीलता कितनी होती है यानी समाज के बहुमुखी विकास में उसका कितना योगदान होता है, अपने जीवन में वह कितनी सार्थकता, समाधान और परिपूर्णता अनुभव करता है, यानी एक जीते-जागते व्यक्ति के नाते वह कितना गतिमान होता है, यह हमें ध्यान में लेना होता है। जीव-विज्ञान से हमें जानने को मिलता है कि हर व्यक्ति के शारीरिक गठन में कुछ विशेषता होती है। कोई एक व्यक्ति कभी किसी दूसरे व्यक्ति के साथ हर तफसील में एकरूप नहीं होता। किन्हीं दो व्यक्तियों के उंगलियों की छाप कभी मिलती नहीं है। सन्तान-उत्पादन का सारा तंत्र और सारी प्रक्रिया ही इस ढंग से रची गयी है, जिससे इस प्रकार की विविधता का निर्माण हो सके। मानवेतर जीवों में भी हम यही देखते हैं।

इसका उद्देश्य यही दीखता है कि हर व्यक्ति की विशेषता के माध्यम से मानव समाज का उत्तरोत्तर विकास हो। जीवों का विकास शारीरिक रचना में परिवर्तन के माध्यम से होता आया। पर मानव में आकर शारीरिक परिवर्तन की प्रक्रिया रुक गयी है, ऐसा दीखता है। हजारों या लाखों वर्षों में मनुष्य-जाति की शारीरिक रचना में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ हो—ऐसा परिवर्तन कि जिससे विकास की सीढ़ी पर मनुष्य ऊपर चढ़ा हो, ऐसा नहीं दीखता। मानव का विकास उसके मन और उसकी बुद्धि के द्वारा हो रहा है। अपनी सांस्कृतिक कृतियों के द्वारा—साहित्य, दर्शन, विज्ञान, कला, तकनीक, उद्योग आदि के द्वारा—उसने अपने जीवन को तथा आसपास की सृष्टि को भी अद्भुत ढंग से बदल डाला है। व्यक्तियों की विशेषता के आधार पर ही यह हुआ है और होता रहा है।

इसके लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति एक गति और शक्ति का केन्द्र बने। समाज और सृष्टि के प्रभाव से सिर्फ प्रभावित न हो, पर उनको भी अधिक-से-अधिक प्रभावित करे। इसी दृष्टि से 'फ्रम' ने व्यक्तित्व को सृजनशील और सृजनहीन ऐसे दो भागों में बाँटा है।

प्रेम' क न्वार सृजनहीन व्यक्तियो म पहले है—'ग्रहणशील'। ऐस मनुष्य को लगता है कि सारी अच्छी चीजे बाहर से ही मिलती ह। इसा क लिए दूसरों का प्यार प्राप्त करना ही मुख्य बात होती है—प्यार देना नही। चिन्तन के क्षेत्र में भी ये नये विचार पैदा नहीं करते, इसलिए दूसरा का विचार अच्छी तरह सुनते ह। कोइ जानकारी प्राप्त करना हो तो दूसरे किसी मनुष्य को ढूढते ह जिससे जानकारी मिल सक, न कि खुद उसक लिए प्रयत्न करत ह। ईश्वर को मानते हो तो सब कुछ ईश्वर स ही चाहते हैं अपने प्रयत्न पर भरोसा नहा रखते। सस्थाओ और व्यक्तियो के साथ भी उनका सम्बन्ध उसी प्रकार होता है। कोई अलौकिक ढग से उनकी मदद म आये ऐसी ताक म वे रहते ह। अनेक व्यक्तियो पर ये निभरशील होते हैं और किसीका आसरा खोने म इनको बडा भय मालूम होता है।

वे जब अकेले पड जाते ह, तो अपने का बडा असहाय पाते ह—खास करके जो काम अकेले का ही करना होता है वहाँ निणय लेने में और जिम्मेदारी उठाने म। ऐसे लोगो को खाने पीने म बडा रस आता है। उद्वेग और अवसाद को ये पान भोजन से मिटाने का प्रयत्न करते ह। ऐसे लोग मोटे तौर पर आशावादी और मिलन सार होते ह। दूसरा को मदद करने की भी इनकी इच्छा होती है, पर उसमें दूसरों से उपकार प्राप्त करने का भाव होता है।

'शोषण-अभिमुखी' चारित्र्य म भी यह भाव होता है कि सारी अच्छी चीज बाहर स मिलनेवाली है पर फरक यह होता है कि ये चीज दूसरों से दान या बख्शीश क रूप म पाने की अपेक्षा नहा रखते धोखा या जबरदस्ती से छीनने का सोचते हैं। उनकी यह दृष्टि जीवन के हर पहलू म होती है।

प्यार क मामले म भी वे किसीको किसी अन्य स छीन ले सकते हैं, तो ही उनको आनन्द आता है। वैसे विचार के क्षेत्र म भी ये नये विचार पैदा नहीं करते दूसरो का चुराते ह। दूसरा क विचारों को अपना बताकर चालू करते है। कभी कभी बड़े बुद्धिमान् व्यक्ति भी इस प्रकार करते हैं, जो अपनी बुद्धि को काम म लगाते तो कहा अधिक सृजन कर सकते थे।

भौतिक वस्तुओ के बारे मे उनका यही हाल होता है, दूसरे किसीसे छीनने मे ही उनको ज्यादा आनन्द मिलता है। इनको तीखी आलोचना करने की आदत होती है दूसरो के लिए विरोध तथा उ ह मोडने की वृत्ति होती है। आशावाद और मत्री क बदले इनम अविश्वास और ईर्ष्या देखने को मिलती है।

सग्रहशील या सग्रह अभिमुखी चारित्र्य इनसे भिन्न होता है। बाहर से दान से या छीनकर कुछ मिलेगा इसकी अपेक्षा ये नहीं रखते। इसलिए जो कुछ है उसीको सुरक्षित रखना चाहते है। किसी प्रकार का खर्च करने मे इनको बडा खतरा मालूम होता है। अपने चारों ओर वे मानो ऊँची दीवार बनाये हुए होते हैं। इसके अन्दर वे जितना ला सक लाने म विश्वास करते है पर कुछ भी बाहर जाने देने मे नही।

इनके लिए प्यार भी सम्पत्ति ही होती है। अपने प्रिय व्यक्ति को अपने कब्जे म

चाहते हैं। भूतकाल के लिए इनका विशेष आकर्षण होता है, वह उन्हें बड़ा सुनहरा मालूम होता है। इन लोगों में व्यवस्थितता की बड़ी कीमत होती है। बाहरी दुनिया मानो उनके गढ़ के अन्दर घुस आना चाहती है और सारी चीजों को यथास्थान रखकर वे दुनिया को ही अपने पास स्थिर रखना चाहते हैं। बाहरी दुनिया के सम्पर्क में भी इनको बड़ा खतरा मालूम होता है, इसलिए वे एक प्रकार की अस्वाभाविक, जबरदस्त शुचिता के द्वारा अपने को उसके संसर्ग से सुरक्षित रखना चाहते हैं। बाहर से खतरा ही खतरा मालूम होने के कारण हर बात में 'नहीं' कहकर ही वे अपने को बाहर की ताकतों के द्वारा अपने स्थान से ढकेले जाने को रोक सकते हैं—ऐसा उनको लगता है। उनको यह भी लगता है कि अपने पास ताकत, बुद्धि या योग्यता की सीमित पूँजी ही है और उसको खर्च कर देंगे तो उसकी भरपाई हो नहीं सकेगी। उनके लिए जीवन और विकास से मृत्यु और विनाश का महत्त्व ज्यादा होता है। उनका आप्त-वाक्य है, 'दुनिया में कोई चीज नयी नहीं होती।' विचार में भी वे रक्षणशील होते हैं। पुराने विचारों से चिपके हुए होते हैं।

'बाजार-अभिमुखी' चारित्र्य पूँजीवादी समाज से विशेष सम्बन्ध रखता है। उसी सन्दर्भ में उसका विकास हुआ है। पूँजीवादी समाज में पैसे के उपयोग पर बहुत जोर होता है। पैसे से सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है। सब चीजों की कीमत पैसे में नापी जा सकती है। हम कहते हैं—यह लाख रुपये का मकान बना है, हजार रुपये की नोकरी है। भोग की वस्तुओं में लोग कीमत को ही देखते हैं, उनके भोग्य गुणों को नहीं, सिनेमा की फिल्म बनाने में कितने लाख खर्च हुए हैं, इसी पर फिल्म की प्रतिष्ठा होती है, पोशाक, गहने, मोटर आदि की कीमत पर ही मुख्य दृष्टि रहती है, कहीं कोई दुर्घटना होती है, तो उसमें कितने करोड़ की बरबादी हुई, इसी पर अधिक ध्यान रहता है।

इस कारण मनुष्य अपनी कीमत भी पैसे में आँकने लगता है। कोई किसीसे मिले, तो पहले पूछ लेता है कि कितना कमाते हो। फिर उसी पर से उसकी प्रतिष्ठा आँकता है। अपने में जो गुण हों, उसकी कीमत मनुष्य पैसे में आँकता है तथा उसे बेचने में ही सार्थकता मानता है। लड़की के लिए वर चाहिए, तो उसकी भी कीमत उसकी पढ़ाई या नौकरी पर से आँकी जाती है।

फिर पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था में कोई किसी चीज के उत्पादन की शुरू से आखिर तक की सारी प्रक्रियाएँ नहीं करता। सारी प्रक्रियाओं का छोटा-सा अंश उसके द्वारा होता है। इससे भी उसकी समग्रता के अनुभव में भंग होता है।

इन कारणों से तथा और भी कई अन्य कारणों से इस समाज का व्यक्ति अपने-आपसे खण्डित हो जाता है। अपने किसी एक टुकड़े को ही अपना सम्पूर्ण व्यक्तित्व मानता है। किसीसे पूछा जायगा कि आप कौन हैं? तो वह कहेगा कि मैं टाइपिस्ट हूँ या क्लर्क या डॉक्टर हूँ। उत्पादन के यंत्र में एक छोटा सा पुर्जा—बस, यही उसका पूरा परिचय। अगर यह बोल पाते, तो पूछने पर बताते कि मैं टाइप

मास्टर मानता या सार्जन्ट हूँ। अब वह अपने को टाइपिस्ट या ड्राइवर बताता है तो उसी यन्त्र के एक पुरजे के सिवा वह अपने को क्या मानता है ?

इस तरह वह अपनी हस्ती के अधिकतर अंश की अवहेलना करता है। वह भोग के लिए सैकड़ों सामान इकट्ठा करता है पर असल में भोग नहीं कर पाता। वह जो भोजन करता है उससे उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा कितनी बढ़ी पड़ोसियों से कहीं वह पीछे तो नहीं रह गया यही अधिक सोचता है। उसमें उसको स्वाद या पुष्टि कितनी मिली यह गौण हो जाता है। पति या पत्नी में जीवन के साथी के तौर पर आवश्यक गुण की, परस्पर सम्पर्क में प्रेम माधुर्य आदि की परिपूर्णता गौण हो जाती है। मोटर या मकान की तरह स्त्री या पति की वेश भूषा, आचार व्यवहार, रूप रंग समाज में अपने मूल्य मापन के साधन बनते हैं।

इस बाजारू वृत्ति से चालित मनुष्य सामन्तवादी युग के प्रत्यक्ष अधिकार (अथॉरिटी) से तो मुक्त होता है पर एक अदृश्य अधिकार के सामने सिर झुकाता रहता है। समाज में उसका कोई राजा या तानाशाह नहीं होता परिवार में पिता भी अधिकार जतानेवाला नहीं होता पर दूसरे लोगों से पीछे न रह जाय, इस भावना से ताड़ित होकर सब जो करते हैं, वही वह भी करता है। अलग कुछ करना, भीड़ से अलग होकर एकान्त का सेवन करना उसे अस्वाभाविक सा लगता है।

इस प्रकार खण्डित मन तथा खण्डित जीवन के कारण उसका जीवन अपूर्ण और दुःखी होता है। आजकल इन देशों में आत्महत्या की संख्या बढ़ती जाती है इसका कारण भी यह खण्डित जीवन ही है ऐसा फ्रॉम का कहना है। इसको सुधारने के लिए मूल्य बोधों में जो परिवर्तन चाहिए तथा समाज की रचना में जो परिवर्तन चाहिए, वह भी उन्होंने सुझाया है। फ्रॉम का कहना है कि चारित्र्य के ये अलग-अलग प्रकार एक दूसरे से एकदम अलग होते हैं ऐसा नहीं है। मनुष्यों में वे मिले जुले रूप में भी पाये जाते हैं। पर समाज विकास के ऐतिहासिक क्रम में एक एक जमाने में एक एक चारित्र्य का प्राधान्य रहा है।

ग्रहणशील चारित्र्य उस समाज में पाया जाता है जहाँ एक वर्ग के द्वारा दूसरे वर्ग का शोषण करने का अधिकार सुप्रतिष्ठित है। वहाँ शोषित वर्ग को यह आशा या विश्वास नहीं होता कि उसकी स्थिति में कोई परिवर्तन हो सकता है। अतः वे अपने प्रभु वर्ग के मोहताज बने रहते हैं। उनको लगता है कि मालिकों ने जो भी दिया उससे बहुत कम वे अपने प्रयत्न से प्राप्त कर सकते थे। जिस जमाने में गुलामी की प्रथा थी और जिस समाज में कड़ा जातिभेद वर्गभेद था उसमें इस चारित्र्य का बोलबाला था। पर आज भी यह पाया जाता है। लोग दूसरों पर जो अत्यधिक निर्भर रहते हैं और यह मानने लगते हैं कि कैसे सुखी बनें कैसे थोड़ी मेहनत से बहुत कमायें आदि हर विषय के वे राज हैं—यह इसी चारित्र्य के लक्षण हैं।

सामन्तवादी जमाने में शोषण अभिमुखी चारित्र्य का प्राधान्य था जब कि लोग किसी भी प्रकार से धन कमाने में हिचकिचाते नहीं थे। फिर यह पूँजीवाद के शुरू

ज़माने में अठारहवीं तथा उन्नीसवीं सदी में भी प्रधान था। लोग धन कमाने के लिए दुनियाभर में घूमते थे। यही चारित्र्य साम्राज्यवादी रचना का आधार था।

संग्रह अभिमुखी चारित्र्य भी शोषण-अभिमुखी चारित्र्य के साथ साथ फैला हुआ था। इसमें निर्मम शोषण और लूट की बनिस्बत व्यवस्थित व्यापार करने से धन कमाने की ओर ज्यादा झुकाव था।

बाजार अभिमुखी चारित्र्य इस बीसवीं सदी की देन है। इस ज़माने में काम करने, उत्पादन करने का महत्त्व कम हुआ है और बेचने का महत्त्व बढ़ा है। हर चीज बेची जाती है। किसीका कोई नया विचार देने को 'सेल इन आयडियाज' (विचार बेचना) कहा जाता है। सफलता को 'टु डेलिवर द गुड्स' (माल पहुँचा देना) कहा जाता है।

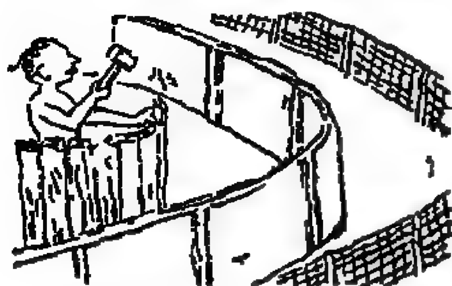
'फ्रम' ने यह दिखाया है कि इन सारे चारित्र्यों में सृजनशीलता का अभाव है। ये सामाजिक परिस्थिति के वश हैं, उससे ऊपर उठे हुए नहीं हैं। फिर भी उन्होंने सृजनशील चारित्र्य के लक्षण बताये हैं। सिर्फ फ्रम ने नहीं, दूसरों ने भी इस प्रकार के चारित्र्य पर जोर दिया है। किसीने उसे समन्वित व्यक्तित्व (इन्टीग्रेटेड परसोनालिटी) कहा है, तो किसीने सेल्फ एक्चुयालाइजिंग यानी अपने को सम्भाव्य में से वास्तव में विकसित करना। आगे हम सृजनशील चारित्र्य के लक्षण पर अलग अलग विचारकों के अलग अलग नहीं, सबके सारभूत विचार पर चर्चा करेंगे। दूसरे महायुद्ध के अवसर विश्रम के बाद वैज्ञानिकों का ध्यान इस दिशा में गया है कि शान्ति, सौमनस्य और सृजनशीलता पर आधारित समाज की स्थापना के लिए किस प्रकार के चारित्र्य की और किन गुणों की आवश्यकता है और उनका विकास कैसे होगा। आदर्श समाज और आदर्श चारित्र्य के बारे में हजारों सालों से सोचा और लिखा जा रहा है। पर आज के ज़माने में यह जो चिन्तन चल रहा है, उसकी विशेषता यह है कि वह वैज्ञानिक शोधों और प्रयोगों पर आधारित है। इसलिए यह वास्तवता से अधिक सम्बन्ध रखता है, और उसमें सफल प्रयत्न की सम्भावना कहीं अधिक है। जैसे प्राचीनकाल से हवा में उड़ने का स्वप्न लोग देखते आये हैं, उसके साधनों के कल्पना-चित्र भी खींचे गये हैं, पर आधुनिक ज़माने में मनुष्य का उड़ना सम्भव हुआ, क्योंकि उसका प्रयत्न वायु विज्ञान और पदार्थ विज्ञान के प्रत्यक्ष आधार पर आगे बढ़ा।



सृजनशीलता में ही पूर्णता है।

इस प्रकार के वांछनीय व्यक्तित्व के बारे में सोचने में उसकी तीन धारणाएँ या उसके तीन पहलू सामने आते हैं मानसिक स्वास्थ्य, समग्रीकरण (इण्टीग्रेशन) और परिपक्वता (मेच्युरिटी)। 'मानसिक विकास तथा बचपन के अनुभव' शीर्षक

अध्याय म हमने पहले मुद्दे पर लम्बा विवेचन किया है। उसका निचोड़ यह है कि बचपन के लालन पालन म अवांछनीय तरीके अपनाये जाते हैं तो उनके असर म उसके मन म छोटी बड़ी विकृतियाँ पैदा होती ह। ये विकृतियाँ मुख्यतया निम्न प्रकार म पायी जाती है—लालन पालन म कड़ा अनुशासन कठोर व्यवहार, दण्ड आदि क कारण उसकी मूलभूत प्रेरणाओ तथा भावनाओं क कुछ अश अचेतन मे दब जाते ह। फिर वे उसके आचरण को प्रभावित करते रहते ह पर वह उनके बारे मे कुछ नहीं कर सकता क्योंकि वे उसके ध्यान म नहीं आते। ये अचेतन की क्रियाएँ विकृत स्वरूप की होती है। इनसे व्यक्ति की कुशलता और दक्षमता कम हो जाती है। कोई बार



कुण्ठित व्यक्तित्व अपने को बाड़ा से घेरकर ही चैन पाता है।

बार नहाता कपड़ा बदलता हो हाथ पैर धोता रहता हो, किसीके हाथ से बार बार बरतन गिरते रहते हों या कोई अपनी पत्नी को शारीरिक यातना देकर ही दाम्पत्य-सम्बन्ध का आनन्द पा सकता हो तो उसके जीवन म कम या अधिक अश म अक्षमता होगी ही।

उसके बड़ों के विधि निषेध ही उसका विवेक बन जाते है। पर ये उसकी अपनी बुद्धि अपने विचार से सम्बद्ध नहीं होते ह। इससे उसके खुद की विवेक शक्ति का विकास नहीं होता। उसकी बुद्धि असहिष्णु होती है।

फिर इस कारण से उसका चिन्तन भी अनमनीय (कड़ा या रिजिड) होता है। वह अच्छा बुरा मित्र शत्रु इस प्रकार क दो टुकड़ो म ही सोच सकता है। बीच की किसी स्थिति के लिए उसके दर्शन म स्थान नहीं होता। इससे बाह्य वास्तवता का उसका दर्शन अप्रयुक्त होता है। इसलिए उस दर्शन के आधार पर उसकी चेष्टाएँ भी कारगर नहीं होती।

उसकी अवदमित प्रेरणाओं और भावनाओं क कारण उसके मन क अन्दर द्वन्द्व चलता रहता है। यह उद्वेग और दुश्चिन्ता के रूप मे प्रकट होता है। यह उद्वेग बाहर की वस्तुओं पर आरोपित होता है। बाहर जो भय नहीं है वह उसे दीखता है। अपने अचेतन क राग द्वेषो का आरोपण भी वह बाहर करता है। इनके कारण भी उसका बाह्य वास्तवता का दर्शन अपूर्ण होता है।

मन म चलनेवाले द्वन्द्व म उसकी बहुत सारी मानसिक शक्ति का क्षय होता है। इसलिए सृजनशील प्रयत्न के लिए और मामूली कामकाज के लिए भी उसम पर्याप्त शक्ति और उत्साह नहीं होता। आत्मविश्वास का भी अभाव होता है।

अपने माता पिता के तथा परिवार के दूसरों के साथ उसके त्रुटिपूर्ण सम्पर्क का असर उस पर रहता है। उसमें लोगों के साथ उसका सम्पर्क समाधानकारक नहीं हो पाता। दूसरों को वह अचेतन रूप से पिता-माता, भाई या बहन की जगह रखता है और पिता माता आदि के सम्बन्धों में उसके जो प्रकट और अचेतन भाव हैं, उनका आरोप वह उनके स्थानापन्न इन व्यक्तियों पर करता है। निर्भरशीलता, असहिष्णुता, झगडालूपन, जिद्दीपन, न्यूनता, शंकाशीलता आदि जो भी मनोवृत्तियाँ उसमें बनती हैं, समाज में भी वह दूसरों से उसी तरह से पेश आता है।

इस तरह से विक्षिप्त व्यक्तित्व खण्डित और सीमित होता है। उसमें कर्म क्षमता कम होती है। सृजनशीलता भी कम या नहीं के बराबर होती है। फ्रायड ने संक्षेप में कहा है कि काम करने की तथा प्यार करने की सामर्थ्य ही मानसिक स्वास्थ्य का लक्षण है। इन मर्यादाओं से मुक्त व्यक्तित्व स्वास्थ्यवान होता है। उसमें आनन्द और उत्साह, कर्मशक्ति और सृजनशीलता तथा प्रेमपूर्ण स्वभाव होता है।

यहाँ एक विलक्षण तथ्य का उल्लेख करना योग्य होगा। अत्यधिक संग्रह-वृत्ति तथा कञ्जूसी भी मानसिक विकृति के लक्षण माने जाते हैं। फ्रायड अपने रोगियों की कञ्जूसी तोड़ना चाहते थे। इसलिए वे बिना फीस के किसीका उपचार नहीं करते थे और नोट या चेक में नहीं, पर सिक्कों में फीस लेते थे, जिससे हर सिक्का गिन-गिनकर बजा-बजाकर देते समय रोगी को पूरा अनुभव होता कि वह बहुत दे रहा है।

संस्कृत में एक श्लोक है कि वृद्ध, विधवा तथा निःसन्तान स्त्रियाँ बड़ी संग्रहशील होती हैं। आखिरी मुद्दे का सबूत मनोविज्ञान में मिला है। सन्तति नियमन के कारण एक स्त्री के बच्चे नहीं हुए। उसे रंग बिरंगे पत्थर इकट्ठा करने की आदत हो गयी थी और वह यहाँ तक बढ़ गयी थी कि पत्थरों की बोरियों के कारण घर में आराम से रहना भी कठिन हो गया था। उपचार करने पर डॉक्टर ने बताया कि इनको बच्चे चाहिए। बच्चे होने पर यह आदत मिट गयी। इस प्रकार के बहुत सारे अनुभवों से यह सबूत पुष्ट हुआ है। सृजनशील मनुष्य के विवेचन में फ्रॉम ने 'दान' पर बहुत जोर दिया है। उनका कहना है कि सृजनशील मनुष्य उत्पादन करने में आनन्द अनुभव करता है, इसमें कुदरत पर श्रेष्ठता हासिल करने का अनुभव उसे होता है। फिर वह अपना उत्पादन दूसरों को देता है। दिये बिना उसके उत्पादन का आनन्द पूरा नहीं होता। किसान अनाज पैदा करता है और उसमें से भर भरके देता है। कवि अपनी रचना दूसरे को सुनाकर ही रहता है। इस तरह पैदा करना और दे देना सृजनशीलता का सर्वप्रधान लक्षण है।

मानसिक स्वास्थ्य के लिए मन के विविध पहलुओं का समग्रीकरण आवश्यक है। प्रेरणाओं का और भावनाओं का अवदमन करके उनका त्याग न किया जाय, बल्कि उनको स्वीकार करके जीवन में उनको परिमित और योग्य स्थान दिया जाय, यह समग्रीकरण का एक पहलू है। हम अपने तईं स्वीकार करें कि 'हम जो हैं सो हैं, मुझमें यौन प्रेरणा है, गुस्सा है', तो फिर आँख मूँद लेने से वे दोष मिट नहीं जायेंगे,

मै उनको स्वीकार कर लूगा तो अपने विचार और विवेक के दायरे म उनको रख सकूँगा ।

दूसरी तरफ म अपने सुपर इगो म दाखिल की गयी अनुज्ञाओ स अपने को मुक्त कर सकूँ तो मेरी विवेक-शक्ति और बुद्धि का समग्रीकरण होगा । सुपर इगो मे बाहर के विधि निषेधो का बाझ निकाल डालने पर स्वतत्र चिन्तक शक्ति पनपेगी । बुद्धि का गहराई उसका मिलेगा । बुद्धि म भी हर्ष लादन आयगा और सृजनशीलता का विकास होगा । इस तरह मनुष्य अपने का स्वीकार कर सकने पर दूसरा को भी सहानुभूति और समझदारी क साथ स्वीकार कर सकता है । उसम कठोरता और असहिष्णुता नही होती । स्वीकार का मतलब होता है कि दोष मेरे हैं पर मैं नही हूँ । इस तरह से अपने को स्वीकारने का एक लक्षण यह है कि वह मनुष्य स्वय पर हस सकेगा । अपने को लेकर मजाक कर सकेगा । अपने बारे म विनोद करने आनद पा सकेगा ।

तीसरा समग्रीकरण आवश्यक होगा व्यक्तिगत और सामाजिक मूल्य बोधा म । अक्सर इन दोनो म हम अलग अलग नापा का उपयोग करते ह । व्यक्तिगत जीवन म झूठ नहीं बोलेंगे लेकिन सार्वजनिक जीवन म राजनीति म धोखा देना कर्तव्य समझेंगे । व्यक्तिगत जीवन म किसीकी जान लेना अपराध समझेंगे और सार्वजनिक जीवन म अणुबम का समर्थन करेंगे । इससे व्यक्तित्व खण्डित होता है । मूल्यो का व्यक्तिगत और सामाजिक समग्रीकरण साध सकने से व्यक्तित्व म समग्रता आती है ।

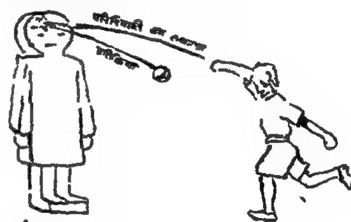
मानसिक स्वास्थ्य की धारणा (कन्सेप्ट) अपने म पूर्ण नही है । कुछ पहलू बच जाते हैं जिनके लिए परिपक्वता (मैच्युरिटी) की धारणा की मदद लेनी पड़ती है । ऐसे कुछ आदिवासी समाज ह जहाँ मनोवैज्ञानिक अपना पिटारा (बक्सा) लेकर उनके मानसिक अस्वास्थ्य की जाँच करने क लिए पहुँचे तो उनको वहाँ उसका नामोनिशान भी दीखा नही । यह तो बहुत ही आम बात है कि आधुनिक जटिल समाज मे ही मानसिक व्याधियो का प्रादुर्भाव होता है । सरल समाज म समस्याएँ कम होती हैं लोगो के आपसी सपर्कों म भी खास जटिलता नही होती इसलिए तनाव कम पैदा होते हैं । यौन प्रेरणा पर अक्सर कम दबाव होता है इसलिए अवदमन नहीं के बराबर होता है । सुपर इगो बाहर के विधि निषेधो से बनता तो है, पर कई समाजो में, खास करके यौन प्रेरणा के बारे म अधिक मुक्तता होने से उसम कठोरता कम होती है । फिर आधुनिक जटिल समाजो म जिस प्रकार नैतिक दुविधाओ का सामना करना पड़ता है वहाँ वैसा नहीं होता । अणुबम या पाकिस्तान क साथ सघर्ष का सवाल वहाँ नहीं उठता । इसलिए यह सीमित सुपर इगो अपनी जीवन यात्रा के लिए पर्याप्त होता है । इसलिए उस तरह के समाज म विक्षिप्तता कम नहो के बराबर, होती है । जीवन में उत्साह आनद परस्पर सौमनस्य सब होते हैं । पर स्पष्ट है कि इस प्रकार के व्यक्तित्व में जटिल समस्याओं का सामना करने के लिए आवश्यक शक्ति और अपनी परिस्थिति को

बदलने की शक्ति नहीं भी हो सकती है। फ्रम के वर्गीकरण में ग्रहणशील व्यक्तित्व इस प्रकार से स्वस्थ, लेकिन सृजनहीन है।

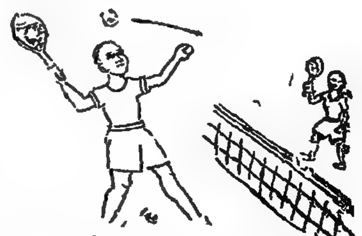
परिपक्वता के संदर्भ में व्यक्तित्व का एक पहलू अभिभावशीलता (सजेस्टिबिलिटी) है। छोटे बच्चे में यह बहुत ज्यादा होती है। बड़ों में भी यह होती है— किसीमें अधिक, किसीमें कम। इससे व्यक्ति दूसरों के विचारों को, खासकर समूह के विचारों को, स्वीकार करने की दिशा में प्रेरित होता है। समूहों के नियमों का अनुवर्ती बनने के लिए यह गुण व्यक्ति को प्रेरित करता है और स्वतंत्र चिंतन को कुंठित करता है। अक्सर यह सरल आदिम समाज में ज्यादा होता है। इसलिए उसमें सामूहिकता अधिक होती है, लेकिन व्यक्तिगत विशेषता कम होती है। सृजनशील व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि उसमें यह अभिभावशीलता कम-से-कम हो। यह परिपक्वता का लक्षण है। सृजनशील-परिपक्व व्यक्तित्व दूसरों के सामने अपनी स्वतंत्रता—चिंतन में, विश्वास में, नैतिक मूल्यों के मामले में—साबित रख सकता है और 'भीड़ के मानस' के वश नहीं होता है।

लेकिन इसको विक्षिप्तता के कारण पैदा होनेवाली मानसिक अनमनीयता (कट्टरता या रिजीडिटी) से भिन्न समझना चाहिए। समाज में कभी-कभी ऐसे व्यक्ति पाये जाते हैं, जो समाज के रीति रिवाज के अनुकूल नहीं बरतते। उनकी अपनी स्वतंत्र रीति के अनुसार चलते हैं। इनके कुछ स्वतंत्र विचार भी हो सकते हैं। इस तरह ये स्वतंत्र दीखते हैं, कहलाते हैं। इनके आचरण और विचार अच्छे और वांछनीय भी हो सकते

अनमनीय व्यक्तित्व पत्थर की मूर्ति जैसा होता है। बाहर की घटना या विचार उससे उसी तरह से उछलता है, जैसे दीवार से गेंद।



सृजनशील मनुष्य लचीला होता है। उसकी प्रतिक्रिया के पीछे सूझ बूझ और सामर्थ्य होती है।

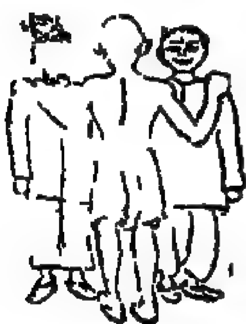


है। कोई मांसाहारी समाज में रहकर स्वयं शाकाहारी बना रहेगा, परिवार-नियोजन के वातावरण में उसके खिलाफ राय देता होगा, युद्ध-विरोधी भी होगा। ऊपर से तो वह बागी दीखेगा, पर ऐसा मनुष्य अनमनीय मानस का भी हो सकता है। ऐसी हालत में वह तो दूसरों के विचार और विश्वास का वश नहीं होगा और वह दूसरों

की सुनेगा भी नहीं। सिर्फ एक दो विशेष श्रद्धा के मामले में नहीं, किसी भी विषय में नया विचार सुनने, नया दृष्टिकोण समझने तथा नये तथ्यों को ध्यान में लेने के लिए उसका मानस खुला नहीं होगा। समाज का नियमानुवर्ती 'अनुसरकार' व्यक्ति कितना बद्ध' और सृजनहीन होता है यह भी उतना ही हो सकता है।

परम्परा और अभिमानशीलता से मुक्त व्यक्ति अपना स्वातन्त्र्य कायम रखेगा लेकिन साथ साथ दूसरों के विचार और दृष्टिकोण भी समझेगा, नये अनुभव, नये विचार, नये दृष्टिकोण प्राप्त करने के लिए, समझने के लिए, नये तथ्य जानने के लिए वह हमेशा तैयार रहेगा। यह उसकी बुद्धि के लचीलेपन का परिणाम होगा। फिर इन सब नये अनुभव, दृष्टिकोण आदि को अपनी स्वतन्त्र चिंतन की प्रक्रिया में बिलो कर उसका निष्कर्ष निकालेगा, जिसके परिणामस्वरूप उसे आगे चलकर अपने विचार और आचार में फर्क भी करना पड़े तो वह करेगा।

सृजनशील व्यक्तित्व में परिपक्वता का यह दूसरा पहलू होगा कि लोगों के साथ उसका सम्बन्ध समाधानकारक और मैत्रीपूर्ण होगा। बचपन के त्रुटिपूर्ण सम्बन्धों से उसके चरित्र में जो अवांछनीय लक्षण पैदा होते हैं, उनसे वह मुक्त होगा। ये लक्षण पहले गिनाये जा चुके हैं। बच्चे का लालन पालन सही ढङ्ग से हुआ हो तो उस चारित्र्य में इस प्रकार के अवांछनीय मोड़ कम पैदा होंगे। परन्तु एक बार पैदा हुए तो बच्चा उनके बारे में न कुछ कर सकता है, न अपरिपक्व मनुष्य ही कुछ कर सकता है। परन्तु परिपक्वता में यह शक्ति होती है कि वह अपने को अपनी न्यूनताओं से मुक्त कर सके। ज्ञान और आत्मविश्लेषण के सहारे वह ऐसा कर सकता है। तो मानव स्वभाव में उसकी श्रद्धा होगी, विभिन्नता जनित अविश्वास, शंकाशीलता नहीं होगी, वह दूसरों का दृष्टिकोण समझ सकेगा, इसलिए दूसरों की त्रुटियों के प्रति उदार होगा, दूसरों के विचार के प्रति सहिष्णु होगा, दूसरों के साथ मैत्री और स्नेह सम्बन्ध वह जोड़ सकेगा।



सृजनशील का
सहज गुण—मैत्री

लोगों के साथ के सम्बन्धों में वह दूसरों को अपने से ऊँचा या नीचा नहीं मानेगा। हमने देखा है कि अधिकारवादी व्यक्तित्व का यह एक लक्षण होता है कि वह समान की कल्पना नहीं कर सकता। पर सृजनशील व्यक्तित्व न किसी पर धाक जमाना चाहेगा, न ही स्वयं किसीके धाक के वश होगा। इस माने में उसका चारित्र्य लोकतान्त्रिक होगा। अधिकारवादी व्यक्ति अधिकार या सत्ता की सीढ़ी में किसी मनुष्य का उसके स्थान के हिसाब से ही महत्त्व देता है। सृजनशील मनुष्य हर व्यक्ति को मनुष्य के नाते उसके अपने अधिकार से ही एक स्वतन्त्र आदरणीय व्यक्ति के नाते स्वीकार करेगा।

वह अपने स्वतन्त्र विचार के कारण जरूरत पड़ने पर दूसरे के विचार का विरोध करेगा। विचार के विकास के लिए यह आवश्यक होता है। परन्तु इस विरोध के साथ आवेश नहीं होगा। अधिकारवादी समाज में समूह के विचार मान लेने पर जोर होता है। अपने से बड़ों के विचारों का विरोध न करने पर बहुत भार दिया जाता है। इसलिए ऐसे व्यक्तित्व का मनुष्य कभी दूसरों के विचार के विरोध में अपना स्वतन्त्र विचार रखना चाहता है, तो अपने को प्रकट करने के लिए उसे भावना के आवेश का सहारा लेना पड़ता है। आवेश में आकर ही वह अपने सुपर-ईगो का निषेध अमान्य करके अपना विचार प्रकट करने का बल पाता है। सृजनशील व्यक्ति सुपर-ईगो के बन्धन से मुक्त होगा। इसलिए वह बिना आवेश के सहजभाव से अपना स्वतन्त्र विचार रख सकेगा।

निष्फलता सहन करने की भरपूर शक्ति का होना परिपक्वता का तीसरा पहलू है। छोटा बच्चा एक मिनट की भी देर सहन नहीं कर सकता। भूख लगी कि तुरन्त भोजन चाहिए। वह बड़ा होता है, तो स्थल और काल में फैली हुई कार्य-कारण की शृंखला का ख्याल कर सकता है और इन्तजार कर सकता है। चावल, दाल, घी, सब्जी लायी जा रही है, खिचड़ी पकेगी और सब खायेंगे—इतनी सारी शृंखला का ध्यान में रखकर वह घण्टों तक भोजन के आयोजन में मदद कर सकता है और उसमें भोजन की प्रतीक्षा का आनन्द पा सकता है। यह परिपक्वता का परिणाम है। इसीको और भी आगे बढ़ाना है। पिछले एक अध्याय में हमने देखा है कि हमारा मानसिक आत्मरक्षा-तन्त्र हमें निष्फलता के तनाव से बचाने के लिए हमसे कई ऐसी क्रियाएँ करवाता है, जिससे तनाव निकल जाता है, पर जहाँ तक समस्या का सम्बन्ध है, हम जहाँ थे, वहीं रह जाते हैं। इस प्रकार की आत्मरक्षात्मक क्रिया में अपनी मानसिक शक्ति का क्षय करने के बदले लम्बे अरसे तक तनाव सहन करने की शक्ति ही—जब तक कि सही रास्ता न सूझे और तनाव कारगर प्रयत्न में परिणत न हो—मनुष्य को सक्षम और शक्तिशाली बनाती है।

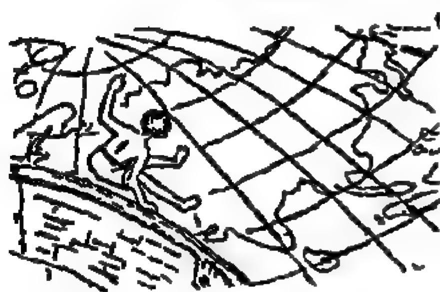
इसका दूसरा पहलू लें। कई अधिक सहानुभूतिशील व्यक्ति दुःख या यातना देखते ही उससे अभिभूत हो जाते हैं। किसीके घाव से खून बहते देखने पर बेहोश हो जानेवाले लोग हैं। पर शल्य-क्रिया करनेवाला डॉक्टर या नर्स इस प्रकार बेहोश होनेवाला हो, तो काम नहीं चलेगा। परिपक्व मनुष्य इस प्रकार दुःख या भावनाओं से अभिभूत होकर अपनी सुध-बुध खो नहीं बैठता। यह भी काल और स्थल में व्याप्त लम्बी प्रतिक्रियाओं के भान पर निर्भर है। दुःख-निवारण के काम में लगे हैं, तो जब तक प्रक्रिया पूरी नहीं होती, तब तक दुःख तो रहेगा। उसको तब तक निभाना है।

पर इसको आत्मरक्षा तन्त्र की एक और प्रक्रिया से अलग करके पहचानना होगा। मैं एक गाँव में भूखे नंगे बीमार बच्चों को देखता हूँ। वह दुःख मुझसे सहन नहीं होता, इसलिए मेरा अपना आत्मरक्षा तन्त्र मुझे उससे बचाने का इन्तजाम करता है

और वकाभास निमाण करता है—'भगवान् ने ही इनको ऐसा भाग्य दिया है। पूर्व जन्म म बहुत पाप किया होगा। म क्या करूँ ?' या ये लोग बडे आलसी होते है उजड्ड। कितने लोग कलकत्ता बम्बई जाकर अच्छी कमाई करते है। ये तो यहाँ पडे रहेंगे या मेरी इन्द्रियों को उस प्रकार की सवेदनाओ की ओर अचेतन ही बन्द कर देगा। बार बार भूखे बच्चे मरियल गाय आदि देख देखकर हम सवेदनाहीन बन जाते है फिर ये नाते हमारे ध्यान म ही नहीं आते।

परिपक्व मनुष्य इस प्रकार मानसिक कवच के अन्दर छिपनेवाला नहीं होगा। उल्टे वास्तविकता का उसका दर्शन अधिक व्यापक अधिक सूक्ष्म और अधिक सही होने के कारण सामान्य मनुष्य को जितना होता है उससे कहीं अधिक दु खो का सघर्षो का अन्यायो का दर्शन उसे होगा। पर यह अधिक दु ख सहन करने की शक्ति उसम होगी क्योकि उसे दीर्घकाल म व्याप्त प्रक्रियाओ का भान होगा और इन समस्याओ के हल के लिए अपने कमिट्मेंट (वचनबद्धता) का भी।

इस तरह से उसकी सहानुभूति और समरसता की सीमा उत्तरोत्तर फैलती जायगी और आखिर सारी सृष्टि को अपने दायरे म ले सकेगी।



स्वस्थ व्यक्तित्व सारी संकीर्णताओ को लाँघकर ही चैन की साँस लेता है।

उसम एक और विशेषता होगी। वह अपने तथा दूसरो के विचार वस्तुस्थिति के मूल्याकन आदि को सावधानी से परन्तु सशकता के साथ जाँच सकेगा। किसी भी बात को वह हमेशा के लिए सत्य नहीं मानेगा और जाँच व सशोधन से परे नहीं समझेगा। यहाँ भी इस सशकता (स्केप्टीसिज्म) को विक्षिप्त मन के अविश्वास और शकाशीलता से अलग करके समझने की जरूरत है। विक्षिप्त की सशकता का आधार उसकी भावना म और अचेतन म होता है बुद्धि म नहीं होता। वैज्ञानिक की सशकता उसकी बुद्धि म होती है और वह उसे अपने विचारों पर अपने दर्शनो पर चलाने में भी हिचकिचाता नहीं है। बल्कि वह उसे पहले अपने पर ही चलाता है। अपने को गल्ती से परे नहीं मानता और दूसरों को भी नहीं मानता।

इस प्रकार मानसिक स्वास्थ्य समन्वय और परिपक्वता के आधार पर रचा व्यक्तित्व सदा विकासशील होगा। उसम अन्दरूनी द्वन्द्व कम से कम होंगे या नहीं के बराबर होगे। इसलिए उसमे भरपूर उत्साह और जीवन जीने म आनन्द होगा। उसकी प्रचण्ड आन्तरिक शक्ति सृजन के काम म लगेगी। खेती या उद्योग धन्धो द्वारा उत्पादन करने म या साहित्य, विज्ञान कला आदि के द्वारा कुछ न कुछ नया सृजन

करते रहने में उसे आनन्द आयेगा। फिर इस तरह अपनी शक्ति से वह जो कुछ सृजन करेगा, उसे दूसरों में बाँटने में ही उसका सृजन का आनन्द परिपूर्ण होगा। उसमें सरसता—ताजगी—का अमिट प्रवाह होगा। जैसे एक लेखक ने कहा है—हजारवें शिशु को या हजारवें फूल को भी देखने पर उसका आनंद और विस्मय कम नहीं होगा। बच्चे के जैसी स्वतःस्फूर्तता (स्पटानिटी) भी उसमें होगी।

ऐसे व्यक्तित्व के व्यापक विकास के लिए समाज की मान्यताएँ बदलने की जरूरत है, आर्थिक रचना बदलने की जरूरत है, घर में बच्चों की परवरिश के तरीके और विद्यालयों का शिक्षण बदलने की जरूरत है। पर ये सब बदलने के लिए भी सृजनशील मनुष्य चाहिए। और यह सम्भव है कि व्यक्ति ज्ञान तथा आत्म निरीक्षण के सहारे अपने को अपनी मर्यादाओं से काफी हद तक मुक्त कर सकता है और ऐसे व्यक्ति इसमें एक दूसरे की मदद भी कर सकते हैं।

मानसिक स्वास्थ्य तथा विकासशील व्यक्तित्व के लिए आवश्यक जो मुद्दे ऊपर दिये गये हैं, उनका व्यवहारोपयोगी सारांश इस प्रकार है

अपने को समझने का प्रयत्न करें। अपने को स्वयं से जो छिपा रखा है, उसको सीधी नजर से देखने की हिम्मत करें। अपनी मर्यादाओं को पहचाने और स्वीकार करें। फिर उनसे आगे बढ़ने का प्रयत्न करें।

दूसरों को निभाने का प्रयत्न करें। यह समझने की कोशिश करें कि सबकी अपनी अपनी मर्यादाएँ हैं और उन्हें ध्यान में रखकर एक दूसरे को साथ देना है। अपने में सीमित न रहें। दूसरों में रस लें। दूसरों के सुख दुःख में भाग लें। दूसरों से प्यार का सम्बन्ध जोड़ें।

किसी सृजनात्मक काम में लगें। इसके लिए किसी बड़ी प्रतिभा की जरूरत नहीं है। औसत व्यक्ति भी सृजनशील बन सकता है। जीवन के सामान्य कर्मों में, माता की रसोई में, किसान की खेती में या बुनकर की बुनाई में सृजनशीलता आ सकती है। आवश्यक यह कि उस काम में उसे खिलने की अनुमति मिले। सिर्फ किसी कर्म में जुटे रहना सृजनशीलता नहीं है। अपने से भागने के लिए भी अक्सर काम में जुटने की, इधर-उधर दौड़-धूप करने की प्रेरणा होती है। यह सृजनशीलता नहीं है।

देने का अभ्यास करें। अपनी कृति दूसरों की सेवा में अर्पण करें।

४

नेतृत्व और अपराध

: २१ :

नेतृत्व और अनुयायित्व

समाज म नेताओ के अस्तित्व और आवश्यकता के बारे म बहुत विचार और बहस चलती है। नेता कौन बनता है, क्यों बनता है, कैसे बनता है, इन सवालो पर तरह-तरह के मत पाये जाते है। एक मान्यता यह है कि जो जन्म से ही विशेष प्रतिभा-वान् और शक्तिशाली हैं, वे ही नेता बनते हैं। इसके विपरीत दूसरी मान्यता यह है कि नेता सामाजिक सन्दर्भ म से ही पैदा होता है, वह उस परिस्थिति के वश होता है। सामाजिक सन्दर्भ से अलग नेतृत्व शक्ति का कोई मतलब नहीं होता। इन दो आत्य-न्तिक मान्यताओं के बीच की राय है कि व्यक्ति के विशेष गुण तथा सामाजिक सन्दर्भ, इन दोनों की परस्पर क्रिया मे से नेतृत्व पैदा होता है। व्यक्ति मे विशेष गुण न हो, तो वह नेतृत्व नहीं कर सकता तथा सामाजिक सन्दर्भ अनुकूल न हो, तो व्यक्ति के उन गुणों का उपयोग नहीं होता।

अक्सर नेतृत्व के बारे में सोचते समय हमारे सामने राष्ट्र या उसी प्रकार के बड़े क्षेत्र की कल्पना होती है, जिसमें लाखो या करोडों अनुयायियो से सम्बन्ध हो। पर जैसे पाया गया कि समाज में स्वतन्त्र लोगो के छोटे-छोटे समूह होते है और हरएक समूह मे नेतृत्व का एक ढॉचा भी पाया जाता है।

किसी सामान्य उद्देश्य को लेकर मनुष्यो का कोई छोटा-मोटा समूह बनता है, तो उसमें एक नेतृत्व भी खडा होता है। 'शरीफ' ने लडको की टोलियों के जो प्रयोग किये, उनमें भी हर टोली में नेतृत्व का एक-एक ढॉचा खडा हुआ। इसी तरह बालिगा की टोलियाँ बनाकर उनको कोई काम सौंपा जाता है, तो उस काम को अन्जाम देने के सिलसिले में उनमें एक नेतृत्व का विकास होता है, यह प्रयोग करके देखा गया है। आवारा लड़कों की टोलियो का अध्ययन किया गया, तो उनमें भी नेतृत्व का अस्तित्व पाया गया। फिर समाज-जीवन मे जैसे छोटे समूहों का महत्त्व होता है, वैसे छोटे समूहो के नेतृत्व का भी होता है। बडे केन्द्रित सगठना म भी आखिर एक-एक व्यक्ति ही प्रत्यक्ष काम करनेवाला होता है और उसके साथ ऊपर के सचालकों का सम्बन्ध छोटी छोटी इकाइयों तथा उनके नेता के माध्यम से ही रहता है। अनुयायियों के साथ सबसे छोटी इकाई के नेता का ही सीधा सम्बन्ध आता है। फौज में प्लैटून लगभग तीस लोगो का समूह होता है। प्लैटून मे परस्पर व्यक्तिगत परिचय और भाई-चारा होता है। प्लैटून का अफसर अपने सिपाहियो के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आता है उसमें नेतृत्व शक्ति हो, तो प्लैटून का नीति-धैर्य बलशाली हो सकता है और वह बडी बहादुरी के काम कर सकता है। अफसर और सिपाहिया मे अनबन हो तो नीति धैर्य नष्ट हो सकता है।

उद्योगों में भी उसी तरह सञ्चालक और मजदूरों के आपसी सम्पर्क पर उद्योग की कार्यक्षमता तथा उत्पादन शक्ति निर्भर रहती है। इसमें भी ऊपर के स्तर के नेतृत्व के अलावा मजदूरों के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध में आनेवाले कामगार या मुकदमों की नेतृत्व शक्ति का महत्त्व अधिक है। बाँध बाँधना, मकान बनाना आदि निर्माण के काम में जहाँ सैकड़ों या हजारों लोग काम करते हों, वहाँ भी नेतृत्व का महत्त्व ध्यान में आता है। जहाँ सही नेतृत्व हो, वहाँ लोग उत्साह से लगन से काम करते हैं, अपना काम पूरा करने के लिए अधिक मेहनत करने से हिचकते नहीं हैं। नेतृत्व न हो तो काम ढीला-ढाला यान्त्रिक ढंग से चलता है। लड़ाई झगड़े पैदा होते रहते हैं।

राज्य व्यवस्था में भी यही हाल है। लोग अक्सर ऐसा मानते हैं कि ऊपर का नेतृत्व अच्छे मनुष्यों के हाथ में हो तो सब ठीक चलेगा। परन्तु सरकार का प्रत्यक्ष काम भी आखिर व्यक्ति ही करते हैं। नीचे के स्तर के अधिकारी में अगर नेतृत्व का गुण रहता है तो उस क्षेत्र में काम अच्छा होता है। नहीं तो जैसे हम हिन्दुस्तान में प्रायः सर्वत्र देखते हैं वैसा ही शिथिलित काम होता है।

लोकतन्त्र में चुनाव के समय लोगों की राय अपने किसी न किसी छोटे समूह के आधार पर बनती है यह हमने देखा है। ऐसे समूह में भी एक मत नेता पाया जाता है जो अखबारों तथा भाषणों में पढ़ी तथा सुनी हुई जानकारी के आधार पर अपनी राय बनाकर समूह के सामने रखता है और दूसरे लोग फिर उसके आधार से अपनी अपनी राय बनाते हैं।

छोटी इकाइयाँ—गाँव, मुहल्ला, टोला आदि—के आधार पर उनका दैनिक कामकाज चलता है। पंचायती राज में गाँवों को प्रत्यक्ष शासकीय अधिकार भी मिलता है। इसलिए इन इकाइयों का नेतृत्व भी समाज की स्थिरता तथा प्रगति की दृष्टि से बड़ा महत्त्व रखता है।

समाज के हर क्षेत्र में तथा हर स्तर में नेतृत्व के इस प्रकार का महत्त्व होने के कारण छोटे समूहों में नेतृत्व का निरीक्षण तथा प्रयोग किया गया है और उससे काफी जानकारी इकट्ठी हुई है। फिर नेता के लक्षण पहचानने के भी प्रयत्न हुए हैं, जिससे उद्योग धन्धे या फौज के लिए योग्य सञ्चालक या अफसर चुने जा सकें। इसके लिए जो प्रयोग और अध्ययन हुए, उससे भी ज्ञान बढ़ा है।

नेता के लक्षण क्या हैं? समूहों के नेताओं में जो विशेष गुण पाये जाते हैं उनका अध्ययन करके उनकी सूची बनायी गयी तो उनमें कोई मेल नहीं बैठा। एक ही प्रकार की दो परिस्थितियों के दो नेताओं के गुणों में बड़ा भारी फरक पाया गया। इस तरह नेताओं में पाये जानेवाले व्यक्तिगत गुण अन्य जिनमें पाये जाते हों उनको जिम्मेदारी के कामों के लिए चुनकर देखा गया तो उससे अपेक्षित परिणाम उस हद तक नहीं मिला, जिससे इस पद्धति को सही माना जा सके।

फौजों के लिए अफसर चुनने के लिए प्रायोगिक परिस्थिति का तरीका अपनाया गया। इस पद्धति में कुछ लोगों की टोली बनाकर उनको कोई कठिन काम सौंपा

जाता है और उस काम को पूरा करने के सिलसिले में उनमें कौन नेतृत्व लेता है, इसका निरीक्षण किया जाता है। इस तरीके से अफसर चुनने में अधिक सफलता मिली और यह भी मालूम हुआ कि नेतृत्व समूह तथा परिस्थिति पर आधार रखता है। जो नेता बनता है, उसमें दूसरों की तुलना में कुछ ऐसी योग्यताएँ विशेष मात्रा में जरूर होती हैं, जो समस्या का हल निकालने या उद्देश्य को प्राप्त करने की दृष्टि से उपयोगी और जरूरी हैं। परन्तु किस परिस्थिति में किस गुण का महत्त्व होगा, यह समूह के उद्देश्य तथा मान्यताओं पर निर्भर रहता है। कभी कुशलता का महत्त्व होता है, तो कभी ताकत का। कभी ज्ञान का महत्त्व होता है तो कभी समझदारी का। फिर एक ही काम के सिलसिले में समय समय पर अलग अलग गुणों का महत्त्व हो सकता है और उसके आधार पर विभिन्न व्यक्ति सामने आ सकते हैं। चर्चा और उपाय-सयोजन के समय जो मुख्य भाग लेता होगा, वह प्रत्यक्ष काम करते समय गौण बन सकता है और दूसरा मुख्य स्थान ले सकता है। पर जो समूह लम्बे अरसे के लिए यानी करीब-करीब स्थायी रूप से बने रहते हैं, उनमें किसी एक योग्यता के आधार पर किसीका नेता बन जाने के बाद अक्सर बदली हुई परिस्थिति में भी वही कायम रहता है। नेतृत्व के साथ उसे जो प्रतिष्ठा मिलती है, उसका असर बना रहता है। वह विशेष काम की जिम्मेदारी उस प्रकार की योग्यता रखनेवाले किसी दूसरे को सौंप देता है और खुद नेता बना रहता है। 'शरीफ' के प्रयोग में लड़कों की टोलियों के जो नेता दैनिक प्रवृत्तियों के लिए चुने गये थे, वे खेल-कूद में सबसे अधिक निपुण नहीं थे। इसलिए जब दो टोलियों में खेल-कूद की प्रतियोगिता का अवसर आया, तो उनमें नेतृत्व करने के लिए हर नेता ने एक विशेष योग्यतावाले सहकारी को चुना।

समूह के ध्येय में बड़ा परिवर्तन हो जाय और चालू नेता उसके साथ अपना मेल साध नहीं सकता हो या परिस्थिति का सामना करने में असमर्थ हो, तो उसे स्थान छोड़ना पड़ता है। 'शरीफ' के एक अन्य प्रयोग में लड़कों की दो टोलियों के बीच में संघर्ष पैदा हुआ और उनमें मारपीट तथा लड़ाइयाँ हुईं। तो एक टोली का नेता, जो सामान्य परिस्थिति में खेल कूद में कुशल था और इसलिए नेता बना था, लड़ाई के समय आगे नहीं आया और इसलिए उसका स्थान दूसरे ने लिया, जो लड़ाई झगड़े में नेतृत्व कर सकता था।

हरएक छोटे-बड़े समूह की कुछ परम्परा और रीति नीति बनती है। उसका हर-एक सदस्य इनका पालन कमोबेश करता है। परन्तु नेता से यह अपेक्षा रखी जाती है कि वह इन रीति नीतियों का पालन दूसरों के बनिस्बत अधिक कड़ाई के साथ करे। आवारा लड़कों के समूह में भी यह पाया गया है। ऐसे एक समूह में नेता से यह अपेक्षा रखी जाती थी कि वह अपने वचन का भंग न करे। रुपये-पैसे प्राप्त करने तथा खर्च करने के बारे में अपने नियमों का पालन करे तथा टोली के सदस्यों पर पैसा खर्च करने में कंजूसी न करे। इसलिए जब उसके पास पैसा नहीं होता था और ऐसी कोई

प्रवृत्ति शुरू करने का सुझाव आता था, जिसमें पैसा खर्च करना पड़ता, तब वैसी प्रवृत्ति वह टालने की कोशिश करता था।

नेता से यह भी अपेक्षा रखी जाती है कि वह समूह की टेक रखे। नेता ने अगर ऐसा आचरण किया जिससे दूसरों को लगा कि उसने उनकी टेक रखी नहीं तो उसका पतन हो सकता है। ऊपर के निरीक्षण में टोली का नेता 'डक्' किसी एक चुनाव के लिए टोली की सम्मति से खड़ा हुआ था। सारी टोली उसकी विजय के लिए उत्साह के साथ प्रयत्न कर रही थी। एकाएक डक् को चुनाव के परिणाम के बारे में शंका हुई और उसने अपनी टोली से सलाह मशविरा किये बिना ही चुनाव से हट जाने का निर्णय अचानक घोषित किया। इससे टोली को लगा कि उसने टोली की टेक नहीं रखी। यह भी शंका हुई कि वह किसी दूसरे नुमाइन्दे से पैसा खाकर उसकी सहूलियत के लिए खुद हट गया है। इससे उसकी प्रतिष्ठा एकदम गिर गयी और उसका नेतृत्व खतम हो गया।

नेता की प्रतिष्ठा बहुत गहरी हो तो उसके आचरण में यदि समूह के रीति रिवाजों से कुछ भिन्नता रह जाय तो भी वह सहन हो सकता है, परन्तु उसका आचरण बहुत अधिक भिन्न हो तो वह नेता के पद पर टिक नहीं सकता। इसलिए सवाल उठता है कि समूह के विचार और रीति नीति में नेता कहाँ तक और कैसे परिवर्तन ला सकता है।

बालकों के समूहों में इसका प्रयोग किया गया है। विद्यार्थियों की टोलियाँ बनायी गयी और काफी दिन तक हर तरह की प्रवृत्तियों में इकट्ठा भाग लेते रहने के परिणाम स्वरूप हर टोली में अपनी अपनी स्वतंत्र परम्परा और रीति नीति खड़ी हुई। तब हरएक टोली में बाहर से एक एक नया बालक दाखिल किया गया, जो उम्र में बड़ा था और अपने पिछले समूह में नेतृत्व के स्थान पर था।

यह हर नया बालक थोड़े समय में अपनी नयी टोली में पचा लिया गया। इनमें से कुछ तो टोली के सामान्य सदस्य बने रहे पर कुछ तो अपनी टोली के नेता बन गये। नेता बनकर वे प्रचलित रीति नीति और परम्परा के अनुसार ही टोली का संचालन करते रहे। यानी टोली की परम्परा को पूरा पूरा मान्य करके ही वे उसके नेता बने। बाकी के कुछ बालक ऐसे थे जिन्होंने अपनी अपनी टोली में थोड़ा बहुत सुधार दाखिल किया। लेकिन शुरू में टोली की रीति नीतियों को पूरा पूरा स्वीकार करने के बाद ही उन्होंने छोटे छोटे सुधार सुझाये, जो स्वीकृत हुए। यह भी देखा गया कि किसी टोली में कोई छोटा सा सुधार एक बार स्वीकृत होने के बाद दूसरे सुधारों के लिए रास्ता सुलभ हो जाता था।

यहाँ यह ध्यान में लेना प्रासंगिक होगा कि गांधीजी जैसे सफल समाज सुधारक समाज के अन्दर से ही सुधार के लिए प्रयत्न करते थे। ब्राह्म समाज आदि कुछ सुधारक वर्गों ने सामान्य समाज से बिलकुल अलग अपना स्वतंत्र अस्तित्व बना लिया तो फिर उसका असर सामान्य समाज पर नहीं के बराबर रह गया।

एक सामान्य मान्यता यह है कि नेता एक असाधारण मनुष्य होता है, जो किसी भी परिस्थिति मे, किसी भी समस्या के सामने नेतृत्व दे सकता है। परन्तु इस प्रकार के प्रयोगों तथा अध्ययनों से यह मान्यता गलत साबित हुई है। नेता में कुछ विशेष योग्यताएँ होती हैं। परन्तु परिस्थिति की माँग के साथ तथा समूह की मान्यताओं और उद्देश्यों के साथ उनका मेल बैठता है, तो ही उस व्यक्ति का नेतृत्व मान्य हो सकता है।

दुनिया में नेतृत्व के प्रकार के बारे में काफी विचार चलता है। आज लोकतान्त्रिक तथा अधिनायकवादी, ये दो विचारधाराएँ हैं। नैतिक दृष्टि से लोकतन्त्र को वाञ्छनीय समझा जाता है, परन्तु यह देखना है कि वैज्ञानिक दृष्टि से इनमें क्या विशेषताएँ हैं। कुछ साल पहले 'कुर्ट लेविन' ने एक रोचक प्रयोग किया था। दस-बारह साल के लड़कों की ग्यारह-ग्यारह की टोलियाँ बनायी गयीं। हर टोली में एक प्रौढ़ नेता या मार्गदर्शक था। इन टोलियों या क्लबों को तीन प्रकार से चलाया गया, एक ताना-शाही ढंग से, दूसरे लोकशाही ढंग से तथा तीसरे अराजक ढंग से। इसमें मार्गदर्शक के व्यक्तित्व का भी असर पड़ सकता था, इसलिए उसे टालने के लिए हरएक मार्ग-दर्शक को बारी-बारी से तीनों प्रकार के ढंग से बर्ताव करने का मौका दिया गया। फिर इन सारे अनुभवों के आधार पर प्रयोग का औसत परिणाम जाँचा गया।

इन तीन प्रकार के नेताओं की कार्य-पद्धति निम्न प्रकार थी

१ तानाशाही या अधिनायकवादी क्लब में

१ सारे निर्णय नेता ही करता था कि काम, खेल आदि का किस दिन क्या कार्यक्रम रहेगा।

२ काम का तरीका कदम-दर-कदम वही बताता था। यहाँ लकीर खींचो, यह कागज काटो, अब इसे गोंद से चिपकाओ, इस तरह बताता रहता था। काम का आखिरी उद्देश्य क्या है, यह नहीं बताता था।

३ काम का बँटवारा वही करता था।

४ काम का मूल्यांकन करते हुए वह व्यक्ति-व्यक्ति की निन्दा-स्तुति करता था।

५ गोष्ठी को सिर्फ अमुक कोई बात बताने के अलावा किसी तरह की चर्चा में भाग नहीं लेता था।

२. लोकशाही या जनतन्त्रीय क्लब में

१ इकट्ठा बैठकर चर्चा करके कार्यक्रम तय होता था, नेता भी उसमें भाग लेता था।

२. चर्चा के समय काम की दिशा स्पष्ट होती थी। काम का अन्तिम स्वरूप शुरू से ही आँखों के सामने रहता था। काम की टेकनिक के बारे में नेता सलाह देता था पर काम करने के अलग-अलग ढंग भी सुझाता था, जिनमें से कोई एक ढंग इच्छा-नुसार चुना जाता था।

३ काम का बँटवारा गोष्ठी में ही होता था । किसीको किसीके साथ काम करने में रुचि हो, तो वैसा करने की आजादी थी ।

४ मूल्यांकन करते समय नेता निष्पक्ष दृष्टि से तथ्यमूलक चर्चा करता था । वह भी गोष्ठी का ही एक सदस्य बनने का प्रयत्न करता था । कुछ अधिक काम कर डालने की लालच से बचता था ।

३ अराजक क्लब में

१ इकट्ठा बैठकर या अलग अलग चाहे जैसे निर्णय लेने की छूट थी । नेता उसमें भाग नहीं लेता था ।

२ पूछने पर सलाह देने की तैयारी नेता की रहती थी । वह सामान जुटा देता था । इससे अधिक कुछ नहीं करता था ।

३ काम के बँटवारे में नेता कोई दिलचस्पी नहीं लेता था ।

४ मूल्यांकन में भाग नहीं लेता था । किसीके पूछने पर निन्दा स्तुति प्रकट कर देता था ।

इसका परिणाम निम्न प्रकार रहा

अधिनायकवादी क्लब में नेता की देखरेख में अधिक काम होता था । पर उसने जरा पीठ फेरते ही काम में कुछ ढिलाई आ जाती थी । सबसे अधिक असन्तोष इसी क्लब में था । एक दूसरे से लड़ने झगड़ने की वृत्ति इसीमें सबसे अधिक थी । यहीं के लड़के एक को 'स्केप गोट' बनाकर उसके पीछे लगते थे उसे तंग करते थे ।

इस झगड़ालू वृत्ति के साथ साथ एक दब्बू वृत्ति भी कुछ लड़कों में पायी गयी । ये लड़के अपनी शिकायत प्रकट नहीं करते थे । चुपचाप काम करते रहते थे । खेल या झगड़ा नहीं के बराबर था । परस्पर या नेता के बारे में किसी प्रकार की राय बहुत ही कम प्रकट करते थे । इन दब्बुओं को जब जनतन्त्रीय क्लब में लाया गया तब शुरू शुरू में दबी हुई ऊष्मा काफी प्रकट हुई ।

जनतन्त्रीय क्लब में नेता तथा विद्यार्थियों में एक दूसरे के प्रति अच्छा बन्धुभाव रहा । काम करते हुए बातचीत कुछ अधिक होती थी । हँसी मजाक भी खूब चलता था । कुछ अनबन भी हो जाती थी पर उसमें अधिक द्वेष नहीं होता था । काम की गति सन्तोषजनक थी । अधिनायकवादी क्लब की तुलना में उत्पादन कुछ कम होता था । पर आलस्य कम देखने में आता था । 'हम' की भावना बलवान् थी । 'मैं' के बदले में 'हम' का उपयोग अधिक होता था ।

अराजक क्लब में यहाँ की स्थिति अधिनायकवादी क्लब के साथ अधिक मिलती जुलती थी । असंगठित खेल में अधिक समय जाता था और काम कम होता था । जनतन्त्रीय क्लब की तुलना में यहाँ अधिक असन्तोष था । झगड़े अधिक होते थे । एक दूसरे के काम में दखल डालने के कारण तनाव अधिक रहता था । परस्पर मित्रता का प्रमाण कम था ।

इस प्रकार इस प्रयोग में सिद्ध हुआ कि मुक्तता के वातावरण के साथ शिक्षणमूलक मार्गदर्शन से ही सबसे अधिक सन्तोषजनक स्थिति निर्माण होती है।

यह नेतृत्व का सवाल सिर्फ राष्ट्र के सामने आता है, ऐसा नहीं है। व्यापारी संस्थाओं में, बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों में भी आता है, विद्यालयों में आता है। लोकतन्त्र में अक्सर व्यक्तिगत मालिकी के उद्योग-धन्धे चलते हैं और मालिकों के आदेशों के द्वारा ही उनका सञ्चालन होता है। किस मजदूर या कर्मचारी को कौन सा काम करना चाहिए, इसका आदेश दिया जाता है, परन्तु यह समझाया नहीं जाता कि क्यों करना चाहिए, न कर्तव्यों का निर्णय लेने में ही कर्मचारियों से किसी प्रकार का सहकार लिया जाता है। हमारे देश में समाजवाद के आधार पर चलने के बावजूद रेलवे, इस्पात तथा अन्य बड़े बड़े उद्योगों का भी वही हाल है। उनमें भी निर्णय लेनेवाला और आदेश देनेवाला सञ्चालक वर्ग ही है। इसमें एक बड़ी दुविधा की बात यह है कि पूँजीवाद के आधार पर चलनेवाले उद्योगों में जिस प्रकार मालिक-मजदूर का भेद होता है, राष्ट्रीय सम्पत्ति के रूप में चलनेवाले इन उद्योगों में भी वही भेदभाव नजर आता है। 'यह राष्ट्र की यानी हमारी सम्पत्ति है, हम राष्ट्र का काम कर रहे हैं', इस प्रकार की आत्मीय भावना इनमें नहीं दीखती। दूसरा भी एक यह सवाल आता है कि क्या इस प्रकार ऊपर से आदेश देकर भी काम क्या अधिक समाधानकारक होता है? उद्योगों में झगड़े और हड़ताल तो नित्य चलते रहते हैं।

उद्योग-धन्धों के कारोबार में निर्णय करने आदि में मजदूर भी हिस्सा लेते हैं, तो क्या परिणाम आता है, इसका एक प्रयोग सन् १९५५ में अमेरिका में हुआ। धातु के एक कारखाने में कुल ३२५ पुरुष और स्त्री काम करते थे और मैनेजर से लेकर फोरमैन तक २२ व्यक्ति सञ्चालक वर्ग में थे। कारखाने के सुपरिण्टेण्डेण्ट 'जेम्स रिचार्ड' ने प्रयोग का मार्गदर्शन किया। प्रयोग का मुख्य उद्देश्य यह था कि कारखाने के सञ्चालन में नेतृत्व का प्रयोग इस प्रकार से हो, जिसमें काम करनेवाले सारे लोगों की अपनी-अपनी शक्ति काम में लगे, सिर्फ ऊपरी आदेश तथा नियन्त्रण के द्वारा काम न हो। इसके लिए प्रत्येक प्रश्न पर मजदूरों के साथ चर्चाएँ होती थीं और प्रत्येक निर्णय में हर विभाग के मजदूर, फोरमैन तथा सुपरवाइजरों का हाथ रहता था। उनको यह महसूस कराने की कोशिश हुई कि सारा काम उन्हींका अपना है और उन्हींको उसे ठीक तरह से चलाना है।

इस प्रयोग के कई दिलचस्प परिणाम आये। एक तो, व्यक्तियों का काफी मानसिक विकास हुआ। एक जिद्दी, अकड़बाज और अपने भावों को व्यक्त न कर सकनेवाला फोरमैन एक अच्छा सोच-विचार करनेवाला, स्थिर स्वभाव का और योग्य सञ्चालक बन गया। फिर सबके बीच एकता दृढ़ हुई। नीति-धैर्य भी बढ़ा। भय, उद्वेग, संघर्ष आदि से पैदा होनेवाले आपसी तनाव कम हुए। काम की गति बढ़ी और ऊपरी मार्गदर्शन पर निर्भर रहने की वृत्ति कम हुई। सुपरिण्टेण्डेण्ट का काम अब कारखाने में अनुशासन रखना तथा दूसरों को आदेश देना नहीं रहा। बल्कि सबके काम

के साथ तालमेल रखने के लिए उनको 'दौड़ना' पड़ा। उत्पादन में जो वृद्धि हुई उसके साथ उसमें एक सृजनशीलता का स्वरूप भी आया। कर्मचारीगण अपने प्रति, काम के प्रति तथा कारखाने के प्रति अधिक आदर भाव रखकर मेहनत करने लगे।

इस प्रकार का यह शायद एक ही वैज्ञानिक प्रयोग है परन्तु अन्य प्रयोगों के अनुभव भी इसी बात की पुष्टि करते हैं कि लोग खुद निर्णय लेते हैं, तो उसे कार्यान्वित करने की भी अधिक दिलचस्पी उनमें होती है।

नौकरशाही (ब्युरोक्रेसी) के सामने भी इसी प्रकार की समस्या रहती है। उसमें जिम्मेदारी के पद पर अधिष्ठित कर्मचारी को दूसरे लोगों से काम लेना पड़ता है, परन्तु उससे यह अपेक्षा नहीं की जाती कि उसमें नेतृत्व की योग्यता भी हो। दफ्तरों में पहले से निश्चित रिजिड और बारीक नियमों के आधार पर काम चलता है, जिनमें व्यक्तिगत विवेक और मानवीय सम्पर्क के लिए अवसर नहीं के बराबर होता है। इसलिए अक्सर नौकरशाही अपने को नयी परिस्थिति के अनुरूप बना नहीं पाती और अपने लक्ष्यों की पूर्ति में भी असमर्थ रहती है। इसके दायरे में काम करनेवाले मनुष्य भी अक्सर इसी प्रकार रिजिड और क्षुद्र चरित्र के होते हैं और उस तरह में काम करते करते उनका यह चरित्र अधिक दृढ़ हो जाता है। नौकरशाही में जिम्मेदारी के पद पर विरला ही कभी कोई ऐसा व्यक्ति आता है जो नियम कानूनों के कड़ेपन (रिजीडिटी) को लाँघकर मानवीय स्तर पर काम करता है और नया नेतृत्व देकर अपने कर्मचारियों से अपेक्षा से अधिक काम करा लेता है। अभी भी नौकरशाही के सुधार की समस्या ज्यों की त्यों है।

अधिकारवादी तथा लोकशाही ढंग के समूहों में संगठन के स्वरूप का असर नेता तथा अनुयायी दोनों के चारित्र्य पर होता है तथा उस उस प्रकार के चारित्र्य स्थिर हो जाने से वे फिर उसी प्रकार का संगठन पसन्द करने लगते हैं। जैसे लेविन के उपयुक्त प्रयोग में हमने देखा कि टोलियों के नेतृत्व के स्वरूप के अनुसार लड़कों के व्यवहार का स्वरूप बनता था। अगर यह टोली अस्थायी न होकर स्थायी स्वरूप की होती और उनको बरसों तक उसी प्रकार की परिस्थितियों में रहना और काम करना पड़ता तो उनका उस-उस प्रकार का व्यवहार उनके चरित्र का स्थायी अंग बन जाता। समाज में यही होता है। हमारे देश का पुराना समाज मोटे तौर पर अधिकारवादी रहा है। मुल्क में जिस प्रकार राजा का एकच्छत्र शासन चलता था, उसी प्रकार परिवार में बाप का चलता था। स्त्रियों को तथा बच्चों को अपने विचार प्रकट करने का अधिकार और अवसर शायद ही रहता था। जर्मनी में अधिकारवाद इससे भी ज्यादा शक्तिशाली था। वहाँ आधुनिक राष्ट्र के उदय के साथ सैनिकवाद ने भी जोर पकड़ा। तालीम में भी सैनिक ढंग का अनुशासन दाखिल हुआ जिससे लोगों का स्वभाव भी उसी प्रकार का बन गया। ऐसी परिस्थिति में हिटलर जैसे व्यक्ति का अभ्युत्थान सम्भव हुआ।

यह अधिकारवादी चारित्र्य कैसा होता है? लगभग तीस साल पहले 'आडोर्नो' आदि कुछ वैज्ञानिकों ने अमेरिका में अधिकारवादी चारित्र्य के सम्बन्ध में एक खोज की। उन्होंने कई प्रश्नों की एक तालिका बनायी और हजारों लोगों से उनके उत्तर एकत्रित किये। जर्मनी में अधिकारवाद के साथ जातिगत श्रेष्ठता की भावना तथा यहूदियों के लिए प्रबल घृणा जुड़ी हुई थी। इसलिए यहाँ भी ऐसे भी कुछ प्रश्न पूछे गये, जिनसे इस बात का पता लगे कि अधिकारवाद के सन्दर्भ में यहूदी, नीग्रो तथा अन्य अल्पसंख्यकों के बारे में मनोभाव क्या हैं। कुछ प्रश्न इस प्रकार के थे

१ काले लोग अपने जन्मजात स्वभाव के कारण ही गोरों से निम्नकोटि के होते हैं।
२ युद्ध मनुष्य-स्वभाव में ही निहित है।
३ जिन लोगों में गम्भीर जन्मगत त्रुटियाँ तथा बीमारियाँ हैं, उनको जबरन् नपुंसक बना देना चाहिए।
४ हम अपराधियों के साथ काफी कड़ाई से काम नहीं लेते। उनको सुधारने के बजाय सख्त सजा ही देनी चाहिए।
५ जो लोग युद्धों का विवेकपूर्वक विरोध करते हैं, वे देशद्रोही हैं। उनसे भी उसी तरह से बर्ताव करना चाहिए।
६ काले और गोरों में विवाह को जोर से निरुत्साहित करना चाहिए।
७ विद्यालयों में यौनता के बारे में शिक्षण नहीं दिया जाना चाहिए।
८ सब मनुष्य समान सम्भावनाएँ लेकर पैदा नहीं होते।
९ आज की दुनिया में राष्ट्रीयता शांति-विरोधी शक्ति नहीं है।
१० हिंसक काम करनेवाले अपराधियों को बेंत लगानी चाहिए।
११ विद्यालयों में अनिवार्य धार्मिक शिक्षण देना चाहिए।
१२ 'छड़ी लागे छम-छम, विद्या आवे झम-झम' इस कहावत में बहुत सत्यता है और इसीके अनुसार बच्चों की परवरिश होनी चाहिए।
१३ पुरुषों की बराबरी की बुद्धि और संगठन शक्ति स्त्रियों में नहीं होती।
१४ मौत की सजा बर्बर नहीं है और उसको हटाना नहीं चाहिए।
१५ जापान के लोग स्वभाव से क्रूर होते हैं।
१६. पचीस साल के अन्दर एक दूसरा विश्व-युद्ध होगा।

इस प्रकार के और कई प्रश्नों का उत्तर छह प्रकार का दिया जा सकता था

'मैं इस वाक्य से—

१ थोड़ा सहमत हूँ।
२ काफी सहमत हूँ।
३ पूरा सहमत हूँ।
४ मेरा थोड़ा विरोध है।
५ काफी विरोध है।
६ प्रबल विरोध है।'

प्राप्त उत्तरों से पता चला कि जिन लोगों का एक वक्तव्य के बारे में एक अभिप्राय होता है, उनका अक्सर दूसरे वक्तव्यों के बारे में उससे मिलता-जुलता अभिप्राय होता है। जो यहूदियों के प्रति द्वेष रखते हैं, वे अक्सर इन सब वक्तव्यों के साथ काफी

या ारदार सहमति प्रकट करते ह । जो यहूदियो स नफरत नही करत व इन वक्तव्यो मे अक्सर एकमत नहीं होते। स तरह यह पाया गया कि लोगो के चारित्र्य म कुछ विपत एक साथ रहती है । जैसे ऊपर क सवालों म से ४ १, १७ और १४ के साथ एकमत होन वाला कठोरता को तरजीह देने वाला होगा साथ साथ विषमता को भी माननेवाला होगा (सवाल ३ ६, ८ और १३) सकीर्ण राष्ट्रीयता को माननेवाला होगा (सवाल ७ और ९) इत्यादि। स तथा स प्रकार की दूसरी खोजों के आधार पर अधिकारवादी व्यक्ति म निम्न गुणो का पता लगा है।



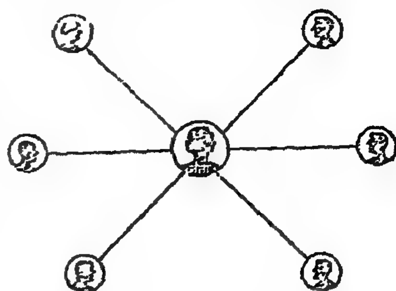
अधिकारवादी भक्तिप्रदर्शन

इस प्रकार क लोगो की बुद्धि तथा भावना दोनो म कट्टरता (रिजीडिटी) ज्यादा होती है। यानी खुद जिस प्रकार सोचने के आदी हैं, उससे भिन्न विचार या सोचन क ढङ्ग को ये समझ नही पाते, बर्दाश्त नही करते। वैसे ही अपने से भिन्न भावना को भी समझ नही सकते। वस्तुस्थिति का उनका दर्शन भी सफेद काला अच्छा बुरा ऐसे दो स्पष्ट भागो म बँटा हुआ होता है। किसी मनुष्य म भलाई क साथ बुराई की मिलावट हो सकती है किसी परिस्थिति मे निराशा के साथ आशा का अश भी सकता है यह ये स्वीकार नहीं कर सकते। फिर जिनको वे अपने ऊपरवाले बुजुर्ग मानते ह उनक प्रति हर प्रकार के विरोध को ये अवदमित करते हैं तो यह विरोध अपने समूह क बाहर के लोगों के प्रति, अल्पसंख्यक जमातो क प्रति द्वेष क रूप मे प्रकट होता है। उनका विवेक या सुपर इगो कठोर होता है और दूसरो की निदा तथा बहिष्कार की ओर झुकता है। दूसरो को प्यार करने क बजाय उन पर सत्ता चलाने की ओर उनका ज्यादा झुकाव होता है।

स्वभावत ही इस प्रकार का नेता दूसरो पर सत्ता चलाना पसद करता है आक्रामक वृत्ति का होता है अनुशासन के महत्त्व पर ज्यादा जोर देता है अपने ऊपरवालो के सामने खुद झुकता है और अनुयायियो की क्षमता पर उसे बहुत कम विश्वास होता है मनुष्यो की कमजोरी और गलतियाँ उसे सहन नहीं होती इस प्रकार का भाव वह दिखाता है। वह लोगो को समझा बुझाकर उनका नेतृत्व नही करता बल्कि सत्ता पुरस्कार दण्ड आदि क आधार पर करता है।

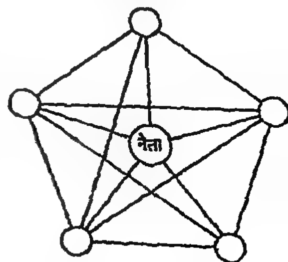
इस प्रकार क अधिकारवादी समूह क अनुयायियों म परस्पर सवाद बहुत कम

होता है। एक तो इस प्रकार का नेता ऐसे संवाद को निरुत्साहित करता है, रोकता है, क्योंकि उसकी सत्ता दृढ़ होने में वह बाधक है, दूसरा, इस प्रकार के अनुयायी भी एक दूसरे से सम्बन्ध नहीं रखते। क्योंकि दूसरों को या तो अपने ऊपर या अपने नीचे मानते हैं, बराबरी का रिश्ता उनके अनुभव के बाहर होता है। इस समूह का 'सोशियोग्राम' साथ के चित्र के अनुसार होगा।



लोकशाही ढंग के नेता की सिफत इससे भिन्न होती है। उसका मुख्य गुण यह होता है कि दूसरों पर सत्ता चलाने में उसे दिलचस्पी नहीं होती, उनके चिंतन और कार्यशक्ति को प्रेरित करने में वह रस लेता है, जिससे वे अपने ध्येय की प्राप्ति के लिए अधिक सफलता के साथ प्रयत्न कर सकें, अपने हाथ में सारी सत्ता रखने के बजाय वह सबमें जिम्मेदारी बाँट देता है, अपने अनुयायियों के प्रति उसमें आदर होता है और उन पर वह भरोसा रखता है, वह अपने गुण-दोषों को पहचानता है और अपने को स्वीकार करता है, यानी अपने वास्तविक स्वरूप का अस्वीकार करके काल्पनिक व्यक्तित्व के पीछे छिपता नहीं है, इसलिए वह दूसरों को भी उनके गुण दोष समेत स्वीकार कर सकता है, उनका आदर कर सकता है, दूसरों के साथ आनेवाले सम्बन्धों में सत्ता के बजाय स्नेह पर उसका ज्यादा जोर होता है, अपने अन्दर से उठनेवाली प्रेरणाओं का वह बहुत कम अवदमन करता है, उनको वह बुद्धिपूर्वक समझता है और इसलिए अपने व्यक्तित्व के साथ उनका समन्वय काफी हद तक साधा हुआ होता है, उसके चिंतन तथा भावना में कट्टरता बहुत कम होती है, लचीलापन अधिक होता है, इसलिए वह अपने से भिन्न विचार और भावनाओं को सहानुभूति के साथ समझ सकता है, नये-नये बौद्धिक, भावनात्मक तथा ज्ञानात्मक अनुभव के लिए अपने हृदय को खुला रखता है और इनके कारण उसके विचार में परिवर्तन हो जाय तो उससे वह डरता नहीं है, अपने अनुयायियों में वह परस्पर सम्बन्ध और संवाद को प्रोत्साहन देता है, जिससे समूह में परस्पर सद्भाव बढ़े और सामूहिक चिन्तन का लाभ मिले।

लोकतान्त्रिक समूह का सोशियोग्राम साथ के चित्र के अनुसार होगा।



दुःख के प्रसङ्गों पर उसमें बहुत ज्यादा तनाव और द्वन्द्व नहीं चलते। इसलिए वह दूसरों का तनाव और द्वन्द्व निरसन करने में समर्थ होता है। जैसे लोकतान्त्रिक नेता का व्यक्तित्व होता है, लोकतान्त्रिक अनुयायियों का व्यक्तित्व भी उसी प्रकार का होता है।

बीनर' ने लोकतान्त्रिक नेता के बाद अराजकवादी नेता की सिफ्तों का वर्णन भी किया है। इसके अनुसार आदर्श अराजकवादी नेता इतने सूक्ष्म रूप से काम करता है कि उसमें निष्क्रियता का भास होता है। वह खुद कम-से कम नेतृत्व करता है। लेकिन दूसरो के विचारो को वह ध्यान से सुनता है और उन्हें अधिक सुव्यवस्थित और स्पष्ट रूप से उनके सामने रखता है। अपनी समझदारी और संयम से वह दूसरो को अधिक-से अधिक समर्थ और क्रियाशील बनने का अवसर देता है।

लेविन के प्रयोग में हमने देखा है कि उसमें अराजकवादी नेतृत्व का परिणाम अच्छा नहीं आया था। स्पष्ट है कि उस निष्क्रिय अराजकवाद मे और इस सूक्ष्म क्रियाशील अराजकवाद में फरक है। इस प्रकार के पूर्ण विकसित लोकतन्त्ररूपी अराजकवादी नेतृत्व के उदाहरण ढूँढते हैं तो सहज ही सर्वोदय आन्दोलन में विनोबाजी का नेतृत्व ध्यान में आता है।

यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि यहाँ अधिकारवादी तथा लोकतान्त्रिक नेतृत्व के जो लक्षण बताये गये है, वे कुछ हद तक आदर्श रूप हैं। एक सिरे पर अधिकारवादी तथा दूसरे सिरे पर लोकतान्त्रिक नेता के नमूने रख दिये गये हैं। वास्तविक जीवन के नेता बीच के किसी स्तर के होगे। अक्सर उनमें दोनो प्रकार की सिफ्तें देखने को मिलेगी। परन्तु ये नमूने काल्पनिक नहीं वास्तविक जीवन के शोध के आधार पर बने हैं। इनमें लोकतान्त्रिक तरीका ही वांछनीय है। उसमें मानसिक स्वास्थ्य अधिक से अधिक होता है तथा सृजनशीलता और समाधान का अनुभव भी होता है। अधिकारवादी व्यक्तित्व में मानसिक अस्वास्थ्य, विकृति काफी मात्रा में होती है सृजनशीलता तथा समाधान का भी कम अनुभव होता है।

यह भी विचार चला है कि आखिर नेतृत्व की आवश्यकता ही क्या है? आदर्श स्थिति में नेतृत्व को खतम होना है तो इस विचार के आधार पर 'नेता विहीन समूहों' के भी कई प्रयोग हुए हैं। इनमे यह साबित हुआ है कि किसी एक व्यक्ति मे नेतृत्व केन्द्रित हुए बिना भी काम चल सकता है। इन समूहो मे अलग अलग सदस्य नेतृत्व के विभिन्न पहलुओ को सँभालते हैं। नेता विहीन से मतलब अक्सर यही होता है कि नेतृत्व किसी एक मनुष्य मे केन्द्रित न हो। नेतृत्व की क्रिया का पृथक्करण करने पर उसके अलग-अलग पहलू ध्यान में आते हैं। वे इस प्रकार हैं

(१) परिस्थिति का अध्ययन और विश्लेषण करके उसको समझना और उसके सन्दर्भ में समूह का कार्यक्रम तय करना।

(२) कार्यक्रम को संगठित करना उसके लिए आवश्यक आयोजन करना।

(३) समूह के सदस्यो के आपसी सम्बन्धो को दुरुस्त रखना और तनाव उद्वेग संघर्ष आदि को कम करना।

ये अलग अलग क्रियाएँ अलग अलग सदस्य कर सकते है और इस प्रकार अधिक लोगों की या सबकी शक्ति और योग्यताओं का उपयोग होता है और उससे समूह की कार्यक्षमता बढ़ सकती है।

वास्तव मे ऐसा होता भी है। हमने पहले कहा है कि राजनीतिक पक्ष मे वरिष्ठ नेतृत्व का भार एक टोली पर होता है। कम्युनिस्ट पार्टी, समाजवादी पार्टी या किसी और पार्टी को देखे। उसकी कार्यकारिणी म कोई एक थिओरेटीशियेन या तत्त्वविशारद होता है, जो अपने तत्त्वज्ञान की दृष्टि से परिस्थिति का अध्ययन और विश्लेषण करके सबके सामने रखता है। कोई स्ट्रेटेजिस्ट या व्यूह-रचना-विशारद होता है, जो परिस्थिति के इस विश्लेषण के आधार पर अपने कार्यों की व्यूह-रचना किस प्रकार करनी चाहिए, इस बात की तरह-तरह की कल्पनाएँ प्रस्तुत करता है। कोई एक सगठक होता है, जो निश्चित कार्यक्रम के आधार पर कदम उठाने के लिए आवश्यक ब्योरेवा आयोजन और सगठन का माहिर होता है। एक होता है, जो रुपये पैसे और साधन सामग्री जुटाने की विशेष काबिलियत रखता है। सदस्यों के आपसी मनमुटाव, तना आदि समस्याओं को सुलझाकर पार्टी म सौमनस्य और एकता कायम करने योग्यता रखनेवाला एक होता है। कोई एक सदस्य ऐसा भी रहता है, जो। प्रकार की सामर्थ्य रखनेवाले योग्य लोगो को पहचान सकता है तथा उन्हे उपयुक्त काम मे लगा सकता है।

इस तरह साधारण राजनीतिक सगठना मे भी नेतृत्व के कार्यों का विभाज जाता है, और जिस समूह म इस प्रकार का कार्य-विभाजन अधिक होता है, कार्यक्षमता भी अधिक होती है।

हमने देखा कि अधिकारवादी नेता नेतृत्व के लिए सत्ता पर निर्भर रहता है लोकतान्त्रिक नेता मानवीय सपर्क, बुद्धि की जागृति और भावना की प्रेरणा पर। बावजूद लोकतान्त्रिक समूहों और सगठनो मे सत्ता का कुछ अश होता है। 'हौसर' ने इस नेतृत्व को दो प्रकारो में बाँटा है—प्रभावशाली नेता और सत्ताध नेता। सत्ताधारी नेता लोकतान्त्रिक ढग से चुना हुआ होता है, उस ढग से का करता है, पर उसके हाथ मे सगठन की कुछ सत्ता होती है। काम को अजाम दे की जिम्मेवारी उस पर होती है। प्रभावशाली नेता इस प्रकार की जिम्मेवारी से मुक्त होता है। वह अपने विचार और भावना के बल से लोगो को प्रभावित करता रहता है। सत्ताधारी नेता को समूह को साथ लेकर चलना होता है। इसलिए वह विचार या भावना मे उससे



यहाँ नेता कौन है?
लोकतान्त्रिक समूह में नेतृत्व का क्रियाकलाप बँटा हुआ होता है।

बहुत आगे नहीं, एक-दो ही कदम आगे हो सकता है। पर प्रभावशाली नेता लिए यह मर्यादा नही रहती। वह विचार और भावना मे समूह से बहुत आगे

न्का हो सकता है। अपने देश का उदाहरण लिया जाय तो देश के प्रधानमंत्री सत्ताधारी नेता है और विनोबाजी प्रभावकारी नेता है।

विद्यार्थियों के समूहों में तथा दूसरे क्षेत्र में किये गये अनेक प्रयोगों से सिद्ध हुआ है कि बहुत अधिक बुद्धिशाली तथा सामर्थ्यवान् व्यक्ति सामान्यतया छोटे समूहों के नेता नहीं बन सकते। उनमें तथा अनुयायियों में बुद्धि तथा सामर्थ्य के स्तर का इतना अधिक फरक होता है कि दोनों में सहज संवाद नहीं हो पाता। सत्ताधारी नेता की बात ऐसी नहीं है। उसको समूह के रीति रिवाज तथा श्रद्धाओं का भी ख्याल रखना पड़ता है। उसका आचरण समूह से बहुत अधिक भिन्न होता है तो उसका नेतृत्व अमान्य हो सकता है। समय समय पर समाज तथा राष्ट्र के सामने ऐसे नेता आते हैं जिनमें अलौकिक शक्ति का भास होता है। जनता के विशाल समूहों को वे प्रभावित करते हैं उन पर करोड़ो लोगों की श्रद्धा बढ़ती है। इस प्रकार के नेतृत्व का प्रसंग मनोविज्ञान के प्रयोग क्षेत्र में नहीं आ सकता, इसलिए उस पर उतना खास प्रकाश पड़ा नहीं है। फिर भी उपर्युक्त विवेचनों के प्रकाश में हम समझ सकते हैं कि उनमें लोकतांत्रिक नेता के कई गुण बहुत अधिक विकसित रूप में होते हैं। लेनिन जैसे अधिकारवादी नेता में भी अपने अनुयायी तथा सामान्य जनता के साथ व्यवहार में स्नेह का प्राधान्य था। चिंतन और भावनाओं में काफी हद तक लचीलापन और ग्रहणशीलता थी। इस प्रकार के 'चमत्कारी' नेता एक माने में प्रभावकारी नेता का विशाल स्वरूप होते हैं। ऊपर के विवेचन में हमने देखा कि अधिकारवादी नेता और उसके अनुयायी तथा लोकतांत्रिक नेता और उसके अनुयायियों के चारित्र्यों में सामंजस्य होता है। दोनों परस्पर पूरक होते हैं। किसी लोकतांत्रिक समूह में अधिकारवादी व्यक्ति आसानी से नेतृत्व कर नहीं सकता, न अधिकारवादी समूह में लोकतांत्रिक व्यक्ति। इस तरह समूह और उसके नेता में अन्योन्य संबंध रहता है। एक को छोड़कर हम दूसरे को समझ नहीं सकते और कृत्रिम रूप से इनको एक दूसरे से अलग भी नहीं कर सकते।

इस तथ्य का बड़ा व्यावहारिक महत्त्व है। अक्सर समाज-सेवक किसी गाँव या शहर के मुहल्ले में काम करने जाते हैं तो पता चलता है कि वहाँ पहले से ही एक नेतृत्व कायम है और अक्सर यह नेतृत्व दकियानूसी होता है। समाज-सेवक के सुधारवादी विचार उसे मान्य नहीं होते। इस हालत में वहाँ एक नया नेतृत्व खड़ा करने का विचार मन में आता है और सेवक अपने समर्थक किसी नये मनुष्य को अपना समर्थन और शुभेच्छा देकर नये नेता के नाते प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करता है। कहीं कहीं वह खुद ही नेतृत्व करने का प्रयत्न करता है। परन्तु ऐसे प्रयत्नों का नतीजा अक्सर समाधानकारक नहीं आता। या तो गाँव में फूट पड़ती है समूह भावना टूटती है या सेवक को हार खानी पड़ती है और वहाँ से भाग जाना पड़ता है।

कोरापुट के ग्रामदानी गाँव लिमागुडा में घन पुजारी पुराने नेता थे। उन्हींके नेतृत्व में वह गाँव ग्रामदान हुआ था। वे उस गाँव के सबसे बड़े जमीन मालिक भी थे। गाँव

म जमीन का पुनर्वितरण हुआ, तो उन्होंने अपनी १८० एकड जमीन का एक-तिहाई से अधिक भाग भूमिहीनो के लिए छोड दिया। उसके बाद जब वहाँ निर्माण का काम शुरू हुआ, तब सेवको को लगा कि यह मनुष्य तो ढोंगी है, दकियानूस है, उसके पास अब भी सौ एकड से ज्यादा जमीन है, वह मजदूरो से खेती कराता है, इसलिए इसका नेतृत्व तोडना चाहिए। यह सोचकर उन्होंने दूसरे व्यक्ति को बढावा देना शुरू किया। कहानी लम्बी है, सक्षेप मे कहना हो, तो वहाँ आखिर यही हुआ कि ग्रामदान करीब करीब टूटने को हुआ। उस गॉव मे निर्माण का काम ठप्प हुआ और अब वर्षो बाद भी वहाँ की परिस्थिति को पूरा पूरा सुधारना सभव नही हो पा रहा है।

अपने देश मे लम्बे जमाने से प्रचलित अधिकारवाद का असर समाज मे अब भी है। इसलिए पचायतो से लेकर लोकसभा तक वह असर देखने को मिलता है, खास करके नीचे के स्तरो मे। हमने देखा है कि अधिकारवादी व्यवस्था मे कार्य-कुशलता कम होती है, समाधान कम मिलता है और इससे बढकर लोगों के व्यक्तित्व पर उसका अनिष्ट परिणाम होता है। इससे व्यक्तित्व का विकास कमोबेश रुक जाता है। उसमे सकीर्णता और विकृति आ जाती है। सृजनशीलता भी पनपती नहीं। इसलिए इस अवाछनीय प्रभाव को मिटाना होगा। यह स्थिति इसलिए है कि नेता और जनता, दोनो मे इस अधिकारवाद का असर है। चाहे जिस नये मनुष्य को नेता बनाने की कोशिश करने मात्र से यह स्थिति बदलेगी नहीं। समूह और नेता दोनो मे लगातार नयी दृष्टि, नये विचार और नयी आदत डालते रहने से नये नेतृत्व का विकास स्वत होगा। समूह में नयी दृष्टि दाखिल होगी और पुराने नेताओ की दृष्टि नही बदलती है, तो समूह उनको छोडेगा और नयी दृष्टिवाले नेताओ को अपनायेगा। समूह की दृष्टि और आदतें बदलने की कोशिश किये बगैर सिर्फ नेतृत्व बदलने का प्रयत्न करने से काम नहीं बनेगा। मनोविज्ञान और समाज विज्ञान के आज तक के प्रयोगो का यह अनुभव है।

विरोध और उसका निरसन : २२ :

दुनिया मे मनुष्यो के समूहो मे अनेक विषयो को लेकर विरोध और सघर्ष होता है, खासकर धर्म, भाषा, रग आदि के भेदों के आधार पर विरोध होता है। आज ये सघर्ष दुनिया की शाति की दृष्टि से बडी चिंता के विषय बन गये है और इसलिए इन दिनों वैज्ञानिको का ध्यान भी इनकी ओर अधिक जाने लगा है। इस सबध मे 'गार्डन आल्पोर्टन' ने सारी सामग्री अपनी किताब मे इकट्ठी की है।

मनुष्यों मे अन्य जाति, धर्म, वर्ण आदि के लिए क्या पूर्वग्रह होता है? 'आल्पोर्ट' का कहना है कि इसका एक कारण है, अपने जीवन में सहूलियत का रास्ता पकडने की

सहज वृत्ति। अपने से भिन्न आचार-व्यवहार, धर्म या भाषा के लोगों के साथ हम मिलने-जुलने, ब्याह-शादी करने जायँ तो उसमें नयी आदतें, नये खान-पान, नयी भाषा आदि कई नयी बात समझने की, सीखने की समस्या खड़ी होती है। आप अपने मेहतर के साथ ताश खेलने क्यों नहीं बैठते? इसलिए कि अपने दोस्तों के साथ जो हँसी मजाक चलता है, उसको वह समझ नहीं पायेगा। उसके हँसी मजाक में शरीक होने में आपको भी कठिनाई होगी। इसलिए लोग अपने स्तर के लोगों के साथ ही मेल-जोल करना पसंद करते हैं।

इस तरह लोग अलग-अलग समूहों में रहते हैं तो उनमें परस्पर भाषा और विचारों का आदान-प्रदान, संवाद बहुत कम रह जाता है। इससे एक-दूसरे के बारे में गलत धारणाएँ बनने में आसानी हो जाती है। दोनों समूहों में भेद अतिरंजित हो जाता है। इसमें मनुष्य के सामान्यीकरण की वृत्ति मदद करती है।

'अनुभवों का संगठन' अध्याय में सामान्यीकरण पर विस्तार से विवेचन किया गया है। वहाँ हमने देखा है कि इससे अपने अनुभवों को व्यवस्थित रूप देने से उनको समझने में हमें सहूलियत होती है। पर हम कभी-कभी बहुत स्थूल सामान्यीकरण कर लेते हैं और उसकी आदत बन जाने पर उसकी त्रुटि दीखने पर भी उसे बदलते नहीं हैं। इससे दिमाग की मेहनत बचाते हैं।

अपने देश में हर पेय और हर भोजन को 'ठंडा' और 'गर्म' इन दो भागों में बाँटा जाता है न? दही 'ठण्डा' और दूध 'गर्म', लौकी 'ठंडी' और लहसुन 'गर्म'। कितना आसान! कोई चीज 'ठण्डी' है या 'गर्म' यह समझ लिया तो मानो उसका सारा भेद पकड़ में आ गया!

इसी तरह मैं एक टोकरी बनाकर सारे मुसलमानों को उसमें डाल देता हूँ तो पाँच करोड़ लोगों के बारे में मेरा काम आसान हो जाता है। किसी भी मुसलमान से कैसे पेश आना चाहिए, यह मेरे लिए तय हो जाता है। गंदे और आलसी की एक और टोकरी में सारे हरिजनों को डाल दिया जाय तो छह करोड़ लोगों के साथ किस प्रकार बर्ताव करना है, यह तय हो गया। इससे अधिक आसान क्या हो सकता है?

हम विचारपूर्वक सामान्यीकरण करते हैं तो कई बार अविचारपूर्वक आवेश में आकर भी करते हैं और इस प्रकार आवेश के साथ जुड़ी हुई धारणा ज्यादा मजबूत होती है। आलपोर्ट गुआटेमाला देश की एक जमात का उदाहरण देते हैं जहाँ यहूदियों के लिए प्रबल द्वेष है पर वहाँ एक भी यहूदी नहीं है। यह कैसे हुआ? वहाँ किसी ने पढ़ाया है कि यहूदियों ने ईसा को मारा। फिर, वहाँ एक लोक-कथा प्रचलित है जिसमें एक राक्षस एक देवता को मारता है। इन दोनों भावना-भरी धारणाओं के मेल से यहूदियों के लिए द्वेष इतना प्रबल हुआ।

एक तेलगू-भाषी रिक्शेवाले के साथ एक सज्जन का किराये की रकम को लेकर झगड़ा हो गया तो उन्होंने सामान्यीकरण कर लिया कि सारे तेलगू-भाषी लोग ठग होते हैं। अब आवेश से बनी इस धारणा को हिलाना आसान नहीं है।

जब हमारी धारणा के साथ तथ्य का मेल नहीं होता, तब हम उसका अपवाद बना देते हैं। सारे तेलगू झगडालू है—सिर्फ भार्ट लवणम् और श्री गोराजी को छोड-कर। जब मनुष्य म अपने मानस को खुला रखने की आदत होती है, तभी वह इससे बच सकता है और नये अनुभवो के आधार पर अपनी धारणाओं मे बदल कर सकता है। फिर स्वार्थ का तकाजा हो, तो धारणा बदलना आसान होता है। पुरी के मदिर मे हरिजनों का प्रवेश कानून से हुआ और उनसे दक्षिणा की बडी सम्भावना दीखी, तो उनके प्रति पडो का रुख बदल गया।

इस तरह समूह समूह के बारे में हमारी जो धारणाएँ बन जाती है, उनको बद्ध-धारणा (स्टीरियोटाइप) कहा जाता है। यह बद्ध-धारणा किसी समूह को लगाये गये सामान्य लेबल से इस माने मे भिन्न होती है कि इसके साथ मूल्याकन और भावना भी जुडी हुई होती है। एक समूह को 'मुसलमान' कहा गया, तो यह तथ्य ही है। पर जब 'मुसलमान' के साथ 'गद्दार, क्रूर, गदे, व्यभिचारी' आदि मूल्याकन तथा उससे सम्बद्ध भावना जुडी हुई होती है, तब यह बद्ध-धारणा कहलाती है। 'सारे वकील प्रपची होते हैं'—यह एक बद्ध धारणा है।

समाजों के सर्वेक्षण से पाया गया है कि दूसरे समूहो के बारे म इस प्रकार की बद्ध-धारणाएँ हर समाज में होती हैं। अमेरिका मे यहूदियों के बारे मे सन् १९३२ मे कॉलेज के विद्यार्थियों मे एक सर्वेक्षण हुआ, तो उनके बारे मे यह बद्ध-धारणा पायी गयी

यहूदी

चतुर,
अर्थ-लोलुप,
मेहनती,
लालची,
बुद्धिमान्,
महत्त्वाकाक्षी तथा
सयाने होते है।

कुछ कम विद्यार्थियों ने यह भी राय दी कि वे

परिवार के प्रति अनुरक्त,
अध्यवसायी,
बहुत बोलनेवाले,
आक्रामक तथा
बड़े धार्मिक होते है।

इस प्रकार की बद्ध-धारणा के कारण 'यहूदी', 'नीग्रो', 'मुसलमान या हरिजन' शब्द ही बडे भावना-युक्त बन जाते हैं। एक लेखक ने एक उदाहरण दिया है—"एक मनुष्य को मैं जानता हूँ, जिसकी दोनों आँखें नष्ट हो गयी थीं। उसे 'अधा' कहा जाता था। पर उसको एक कुशल टाइपिस्ट, एक निष्ठावान् कार्यकर्ता एक अच्छा विद्यार्थी

ध्यान से सुननेवाला, एक नौकरी चाहनेवाला भी कहा जा सकता था। लेकिन उसे एक दूकान में नौकरी नहीं मिल सकी। दूकान के कर्मचारियों का संचालक उससे बातचीत सिर्फ खतम करना चाहता था और अधीर होकर बार-बार कहता था—'तुम तो अंधे हो।' मानो उसमें एक अक्षमता के कारण सारी अक्षमताएँ आ गयीं।'

कई लोगों को पता नहीं होता कि किसी मनुष्य को हम एक लेबल चिपकाते हैं, तो वह उसके समग्र व्यक्तित्व के एक पहलू का ही परिचय देता है। 'दयालु', 'मेहनती' 'समझदार' 'शिक्षक' 'मुसलमान' 'विनयी' ये सारे लेबल किसी एक मनुष्य को चिपकाये जा सकते हैं—पर शायद आपके मन में इनमें से 'मुसलमान' का लेबल ही भावना-युक्त होगा और वह बाकी के सारे लेबलों को ढँक देगा। फिर 'मुसलमान' लेबल से जुड़ी हुई रूढ़ धारणा सामने आकर खड़ी होगी—'गद्दार, क्रूर, गंदा, व्यभिचारी।'

कभी किसी लेबल के साथ लोगों की शंका, द्वेष, अविश्वास आदि किस प्रकार जुड़ जाते हैं और वह हर किसी प्रकार की कठिनाई, गड़बड़, अनिश्चितता आदि का कारण याने द्वेष का एकमात्र पात्र बन जाता है, उसका उदाहरण आल्पोर्ट ने दिया है।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद अमेरिका में मूल्य-वृद्धि, बेकारी, आर्थिक अनिश्चितता आदि की परिस्थिति पैदा हुई तो लोगों के तीव्र क्षोभ के लिए इन सबके कारणस्वरूप कोई व्यक्ति या समूह चाहिए था। तो अखबारवालों ने कई जमातों पर रोष उँडेला। जैसे—विदेशी आन्दोलनकारी, अराजकवादी, कम्युनिस्ट, बोल्शेविक, यहूदी, बनारी क्रांतिकारी, मजदूर संघ इत्यादि।

इससे पता चलता है कि सारी गड़बड़ी के लिए जिम्मेदार कोई दुश्मन चाहिए था लेकिन इसका लेबल किसी एक निश्चित जमात से चिपकाया नहीं जा सकता था। पर दूसरे विश्व युद्ध के बाद इसके लिए एकमात्र 'कम्युनिस्ट' का लेबल हाथ लग गया और हर किसी प्रकार की अवांछनीय परिस्थिति के लिए 'कम्युनिस्ट' को जिम्मेवार समझा जाने लगा। हर प्रकार के भय, द्वेष और खतरे का यह प्रतीक बन गया।

ऐसा क्यों हुआ?

आल्पोर्ट बताते हैं कि युद्ध के समय कई कठिनाइयाँ सहन करके तथा विदेशों में हुई क्रांतियों की भयंकरता के बारे में सचेतन होने के कारण बहुत सारे लोग घबराये हुए थे। उनको अपनी संपत्ति खोने की शंका थी। ऊँचे टैक्सों से गुस्सा था। चारों ओर नैतिक मूल्यों का ह्रास हो रहा था। तो इन सबके कारण लोग इनसे भी बड़े खतरे की अधिक अपेक्षा रखते थे। यह स्वाभाविक था। इन सबके लिए कोई कारण ढूँढ़ने लगे तो कोई दूर की वस्तु को, जैसे रूस या बदलनेवाली सामाजिक स्थिति जैसे सैद्धांतिक धारणा को कारण समझना समाधानकारक नहीं था। कोई ऐसा कारण चाहिए था जो स्पष्ट दीख पड़े, जिसको हम अपने स्कूलों में, कारखानों में, मुहल्ले में अँगुली दिखाकर बता सकें, जो मनुष्य के रूप में हो, तो इसके लिए कम्युनिस्ट मिल गया।

अपने देश में भी हम इस प्रकार की परिस्थिति पहचान सकते हैं। यह ठीक है कि लोकतान्त्रिक स्वतन्त्रता तथा साम्यवाद की तानाशाही के विचार में मौलिक विरोध है। इसलिए कम्युनिज्म के प्रति विरोध का होना ठीक है। पर जब 'कम्युनिस्ट' शब्द का निश्चित विचारधारा, पक्ष तथा कार्यक्रम की सीमा से हटकर हर प्रकार की भावना से जुड़ती है, हरएक परिवर्तनवादी कम्युनिस्ट कहलाता है, हर गड़बड़ी का कारण कम्युनिस्ट बताया जाता है, तब यह निरे पूर्वग्रह तथा मताग्रह की बात हो जाती है।

अपने मूल्यों का समर्थन करते हुए मनुष्य दूसरों के मूल्यों का खण्डन आसानी से कर सकता है। अपने मूल्यों के साथ अपनी भावनाएँ जुड़ी हुई होती हैं। उनके बारे में हम बुद्धिपूर्वक चिंतन शायद ही कर सकते हैं। उनके समर्थन में ही दिमाग चलता है। मैं चाय नहीं पीता हूँ, तो इस आदत को अच्छा बताने के लिए चाय पीनेवालों को बुरा बताने लगता हूँ।

छोटे छोटे बच्चे अपनी माँ, दीदी या नानी के साथ अक्सर अच्छे-बुरे का खेल खेलते हैं। दीदी या नानी पूछती है—'नाना क्या है?' बच्चा कहता है—'अच्छा।' 'दीदी क्या है?' 'अच्छा', 'बिल्ली क्या है?' 'अच्छा' 'आम क्या है?' 'बुरा।' शायद नानी ने एक बार उसका घोड़ा बनने से इनकार किया था, तब से वह बुरा। बच्चा अपने लिए दो विभाग बना लेता है—'अच्छा' और 'बुरा'। उसके बीच की स्थिति की कल्पना उसे होती नहीं। अक्सर लोग इस बचपन की आदत से छूट नहीं पाते। संसार उनके लिए 'अच्छा' और 'बुरा', सफेद और काला, इन दो विभागों में ही बँटा हुआ होता है।

बच्चा परिवार में पैदा होता है। परिवार में और आसपास के समाज की गोद में वह पलता है, बड़ा होता है। यह छोटा-सा समाज उसका परिचित होता है, करीब करीब उसके अस्तित्व का ही हिस्सा होता है। इसलिए इस समूह के प्रति उसका आकर्षण होता है। यह उसको अच्छा लगता है। करीब पाँच साल की उम्र में वह इस समूह को 'अपना' मानने लगता है और उसके बाहर के लोगों को 'पराया'। अपना उसके लिए 'अच्छा' और पराया 'बुरा' हो जाता है। क्यों होता है?

एक तो वह बड़ों से सीखता है। जिसको बड़े अच्छा मानते हैं, उसको वह अच्छा मानने लगता है और बड़ों के 'बुरे' को 'बुरा'। फिर अपरिचय का सवाल भी होता है। जो परिचित, सो अच्छा और जो अपरिचित, सो अच्छा नहीं इसलिए बुरा, क्योंकि उसके पास इन दो के सिवा तीसरी टोकरी नहीं होती, जिसमें वह अपरिचित चीज को डाले।

एक स्कूल के लड़कों से पूछा गया—'कहाँ के बच्चे बेहतर हैं, इस गाँव के कि उस गाँव के?' जवाब मिला—'इस गाँव के।' 'क्यों?' 'उस गाँव के बच्चों को हम नहीं पहचानते।' इसमें से एक सूत्र मिलता है कि जो अपरिचित, सो कम अच्छा माना जाता है। और यह कम अच्छा आसानी से बुरे में बदल सकता है।

इस तरह 'अपना समूह' बनने के साथ-साथ 'पराया समूह' बनाने की वृत्ति होती है और पराया अपरिचित है, इसलिए अवांछनीय, बुरा बनने की सम्भावना होती है।

इसका एक और कारण होता है। हम अपने रीति रिवाज अपने समूह से सीखते हैं। अपने समूह के बाहर दूसरे समूहों के साथ बचपन में शायद ही निकट का परिचय होता है। इससे अपना रीति रिवाज ही उसके लिए एकमात्र अच्छा रीति रिवाज बन जाता है फिर वह उसीसे दुनिया को नापता है। और जहाँ उसे फरक दीखता है उसे वह बुरा लगता है। इस प्रकार अपने ही सीमित समूह के रीति रिवाज आचार विचार और विश्वास के चश्मे से दुनिया को देखने की दृष्टि को 'एथनोसेंट्रीजम' यानी घर कद्रिकता कहा जाता है।

यह आवश्यक नहीं कि कोई एक समूह के अन्तर्गत हैं तो बाहर के समूह के प्रति उसमें प्रतिकूलता होगी ही। एक मनुष्य एक साथ या क्रम से कई समूहों का सदस्य बन सकता है।

वह अपने परिवार में पैदा हुआ यह उसका पहला समूह है।

उसने नाना के या दादा के घर गया तो उसको अपनाया।

स्कूल गया तो हमजोलियों की टोली बनी।

कॉलेज में गया तो दूसरी टोली बनी।

नौकरी की, तो अपने कम्पनी के प्रति अनुरक्ति पैदा हुई।

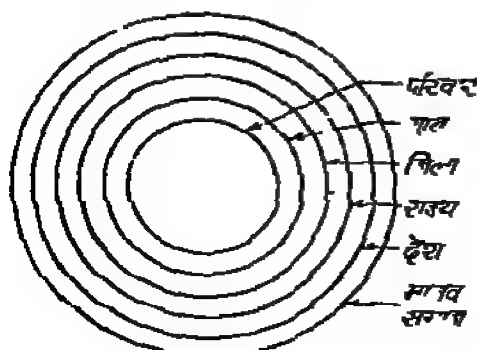
दफ्तर में साथ काम करनेवालों की मित्र मण्डली बनी।

समाजवादी पक्ष में शामिल हुआ तो यह एक समूह हुआ।

इस तरह वह जितने समूहों में शरीक हुआ उनके प्रति अपनी अनुरक्तियों में उसको कोई विरोध मालूम होता हो ऐसा नहीं है।

इस तरह सम-केन्द्रिक तथा एक से एक व्यापक अनुरक्तियों को एक साथ निभाना मनुष्य के लिए, सिद्धान्त से, असम्भव नहीं है।

जो मनुष्य बहुतेरे लोगों के सम्पर्क में आया है जिसने दुनिया देखी है उसके लिए यह समझना अधिक आसान होता है कि दुनिया में तरह-तरह के लोग हैं तरह तरह के रीति-रिवाज हैं और कोई किसीसे एकदम अच्छा हो ऐसा नहीं है। पर यह असम्भव नहीं, तो भी कठिन जरूर है।



मनुष्य और मानव समाज

स्विट्जरलैण्ड में 'पियाजे' और वील ने स्कूल के बच्चों के एक अध्ययन में पाया कि छोटे बच्चों के लिए एक के अन्तर्गत दूसरी अनुरक्ति समझना कठिन होता है। एक बार सात साल के बच्चे के साथ इस प्रकार बातचीत हु

'तुमने स्विट्जरलैण्ड का नाम सुना है ?'

'हाँ' 'वह क्या है ?' 'एक कंट्री—प्रांत' 'और जिनेवा क्या है ?' 'एक शहर' 'वह कहाँ है ?' 'स्विट्जरलैण्ड में'—लेकिन वह बालक एक के पास एक दो वृत्त खींचता है—'तुम स्विस हो ?' 'नहीं, मैं जिनेवा का हूँ।'

आठ-दस साल के लड़के समझ सकते हैं कि जिनेवा स्विट्जरलैण्ड में है और उस प्रकार एक के अन्दर एक वृत्त खींचकर यह बता सकते हैं। पर समकेन्द्रिक अनुरक्ति की धारणा उनकी पकड़ में नहीं आती।

'तुम्हारी राष्ट्रीयता क्या है ?' 'स्विस' 'यह कैसे हुआ ?' 'मैं स्विट्जरलैण्ड में रहता हूँ।' 'पर तुम जिनेवावासी भी हो ?' 'नहीं' 'क्या नहीं ?' 'मैं इस समय स्विस हूँ, फिर जिनेवावासी कैसे हो सकता हूँ ?'

दस साल के बाद बालक इस बात को पकड़ सकते हैं।

'तुम्हारी राष्ट्रीयता क्या है ?' 'मैं स्विस हूँ।' 'वह कैसे ?' 'मेरे माता पिता स्विस हैं, इसलिए।' 'तुम जिनेवावासी भी हो ?' 'हूँ ना। जिनेवा स्विट्जरलैण्ड में है न ?'

पर अक्सर इस प्रकार अपने समूह का उत्तरोत्तर फैलाव राष्ट्र के स्तर तक आकर रुक जाता है, क्योंकि आसपास के समाज का विचार भी उसी हद तक बढ़ा हुआ होता है। उसकी आगे की धारणा सामान्यतया बालकों के पास पहुँचती नहीं। पर यह विचार सामने रखा जाय तो उसका भी स्वीकार हो सकता है।

कुछ विद्वानों की धारणा है कि परिवार, समाज या राष्ट्र की आन्तरिक एकता कायम रखने के लिए एक 'सामान्य दुश्मन' की जरूरत होती है। दुश्मन के साथ लड़ना है—इस आवश्यकता की माँग से ही सब इकट्ठे हो सकते हैं। इस सिद्धान्त के आधार पर कूटनीतिक लोग राजनीति में इस प्रकार बाहर के दुश्मन के खिलाफ लोगों का रुख फिराकर एकता कायम करने का प्रयत्न करते हैं। वास्तव में बाहर का खतरा अदरूनी एकता को मजबूत करता है।

पर यह भी तथ्य है कि बिना बाहर के खतरे के भी समाज में एकता होती है। हर परिवार अपने पड़ोसियों के द्वारा अपने को विपद्ग्रस्त नहीं समझता, फिर भी परिवार में एकता होती है। असल में अदरूनी सुरक्षा पर ही भार देना चाहिए, बाहर के खतरे पर नहीं।

इस तरह कई लोग समाज में प्रचलित धारणाओं से प्रभावित होकर ही पूर्वग्रहग्रस्त होते हैं। उनमें यह धारणा तथा भावना खास गहरी नहीं होती। समाज का वातावरण बदलने पर उनकी भी भावना और धारणाओं में परिवर्तन आसानी से होता है। सही जानकारी मिलने पर धारणाएँ बदल सकती हैं। पर कुछ लोगों में यह चीज गहरी पैठी हुई होती है। पिछले अध्याय में अधिकारवादी व्यक्तित्व का विवेचन करते हुए हमने इस बात का उल्लेख किया था कि ऐसे मनुष्य अक्सर जाति, धर्म, भाषा आदि के पूर्वग्रह तथा संकीर्ण राष्ट्रवाद के भी वश होते हैं। इस सम्बन्ध में काफी छानबीन की

गयी है और इसका बहुत सबूत मिला है कि पूर्वग्रह और भेदभाव अलग नहीं हैं बल्कि दोनों एक समग्र मानसिक स्थिति, एक समग्र चारित्रिक ढाँचे के ही अंग होते हैं। उदाहरण के लिए विद्यालयों के बच्चों में की गयी जाँच से पता चला है कि जिन बच्चों में पूर्वग्रह प्रबल होता है, उनमें इस प्रकार के विचार भी पाये जाते हैं :

१ हर काम करने का एक ही सही तरीका होता है।

२ सावधान नहीं रहोगे तो कोई न कोई तुमको धोखा देगा।

३ शिक्षक अधिक कठोर होंगे तो अच्छा होगा।

४ मेरे जैसे लोगों को ही सुखी बनने का अधिकार है।

५ लड़कियों को सिर्फ घर के कामकाज ही सीखने चाहिए।

६ लड़ाइयाँ हमेशा होंगी, क्योंकि यह मानव स्वभाव में है।

७ जन्म के समय नक्षत्रों की स्थिति पर से गणना करके उस मनुष्य का चरित्र बताया जा सकता है।

वैसे भेदभाव और पूर्वग्रह रखनेवाले बालिग मनुष्यों में भी नीचे लिखे प्रकार के विचारों को अधिक समर्थन मिलता है

१ यह दुनिया बड़ी खतरनाक है और लोग तो स्वभाव से दुष्ट और खतरनाक होते हैं।

२ अपनी अमीरी की जीवनधारा में अनुशासन का अभाव है।

३ मैं गुण्डों से जितना डरता हूँ उससे ठगों से ज्यादा डरता हूँ।

अब वैसे तो इन धारणाओं का कोई सीधा सम्बन्ध भेदभाव और पूर्वग्रह से नहीं है। पर खोज से पता लगता है कि इस प्रकार की धारणाएँ और भेदभाव अक्सर इकट्ठे पाये जाते हैं। इसका मतलब हुआ कि दोनों वास्तव में जुड़े हुए हैं और एक ही जीवन दृष्टि के अंग हैं।

इस प्रकार के चरित्र में भय सुरक्षा के अभाव का अनुभव एक मुख्य लक्षण होता है। ऐसा मनुष्य दुनिया से सशंक रहता है, अपने से डरता है अपनी अंदरूनी वृत्ति या प्रेरणाओं से डरता है परिवर्तन से डरता है, समाज से डरता है। इससे पहले अचेतन मन अवदमन आरोप आदि का तथा बचपन के अनुभवों के साथ इनके सम्बन्ध का भी विवेचन किया है। जिन परिवारों में बच्चों के साथ ज्यादा कड़ाई की जाती है बाहर से लादे हुए सदाचार और अनुशासन पर भार दिया जाता है हमने देखा है कि उन बच्चों में बड़ा मानसिक द्वन्द्व खड़ा होता है। माता-पिता के प्रति द्वेष पैदा होता है। उस द्वेष को बच्चा अवदमित करता है। यौनता जैसी अपनी कई प्रेरणाओं को अवदमित करता है। इससे उसके मन के टुकड़े पड़ते हैं। अहं या ईगो कमजोर होता है। अचेतन में दबी हुई प्रेरणाएँ जोर करती हैं और विकृत रूप में प्रकट होती हैं। उनके कारण मन में उद्वेग और दुराग्रहिता होती है जो अक्सर बाहर की वस्तु पर आरोपित की जाती है इत्यादि।

इस मामले में भी इन सारी प्रक्रियाओं का दर्शन मिलता है। पूर्वग्रह ग्रस्त लोगों में माता-पिता के प्रति अवदमित द्वेष पाया जाता है। यहूदी-विरोधी विद्यार्थिनियों की एक जाँच में हरएक लड़की ने कहा कि मैं अपने माता पिता से प्यार करती हूँ। पर 'थेमाटिक आपरसेपशन टेस्ट' में उनमें से बहुत अधिक लड़कियों में माता-पिता के प्रति कमीनापन, निष्ठुरता, मतेदी वृत्ति, ईर्ष्या आदि के दबे हुए आरोप पाये गये। पर उसी जाँच में पूर्वग्रह रहित, उदार लड़कियों ने अपने बुजुर्गों की खुली आलोचना की, उनके दोष बताये। पर टी० ए० टी० जाँच में उसमें बहुत कम अवदमित विरोध प्राप्त हुआ।

ऐसे लोग कमजोर ईगो के कारण अपनी अवदमित प्रेरणाओं से त्रस्त रहते हैं और इसलिए परम्परागत रीति-नीति और अनुशासन का बहुत अधिक समर्थन करते हैं। इनका पालन कड़ाई के साथ नहीं हुआ, तो अपनी अवदमित प्रेरणाओं को कैसे रोका जा सकेगा? इसलिए वे मानते हैं कि पिटाई बच्चों के लिए अच्छी है, अपराधियों को कड़ी सजा दी जानी चाहिए। मौत की सजा नहीं हटनी चाहिए। मानस की ऐसी स्थिति में फिर 'भला' और 'बुरा' का स्पष्ट विभाजन लाजिमी हो जाता है। बुरे के साथ कठोरता से ही पेश आना है तो फिर किसी भले में बुराई का या बुरे में भलाई का अंश हो सकता है, यह कैसे सहन होगा?

इस तरह फिर हर मामले में इनको स्पष्टता की जरूरत होती है। दुविधा सहन नहीं होती। एक प्रयोग में प्रयोग के हर पात्र को अँधेरे कमरे में रोशनी का एक बिन्दु बताया गया। असल में यह बिन्दु स्थिर ही था, पर हरएक को वह कुछ-न-कुछ हिलता हुआ दीखता था। प्रयोगकार ने पाया कि पूर्वग्रह ग्रस्त व्यक्ति बहुत ही शीघ्र अपने लिए एक मयार निश्चित कर लेते थे। प्रत्येक बार के प्रयोग में उनको वह बिन्दु उसी निश्चित दिशा में और उतने ही इंच हिलता दीखता था। उनको निश्चितता चाहिए और जहाँ वह नहीं होती, वहाँ वे अपने लिए उसे बना लेते हैं। पूर्वग्रह शून्य व्यक्ति अधिक देर तक दुविधा सहन कर सकते थे। कई प्रयोगों तक उनको वह बिन्दु विभिन्न दिशा में और विभिन्न पैमाने में हिलता दीखता था।

दीखता है कि पूर्वग्रह ग्रस्त व्यक्ति 'मैं नहीं जानता' कहने में डरते हैं। उनके मानस में जो उद्वेग होता है, अरक्षितता (इनसिक्युरिटी) का एहसास होता है, उससे वे 'न जानने' की अनिश्चितता का सहन नहीं करते। हर सवाल का जवाब तुरन्त मिलने पर ही उनको सुरक्षा का अनुभव होता है।

फिर उनमें अपने मानस के द्वेष और शंकाओं को बाहर की वस्तुओं तथा परिस्थितियों में आरोपित करने का बड़ा झुकाव होता है। उनके 'मानसिक आत्म रक्षा का तन्त्र' की यह प्रक्रिया जोरदार होती है—'दुनिया बड़ी खतरनाक है', 'लोग बड़े बुरे होते हैं' आदि।

ऐसे लोगों को मानसिक सुरक्षा की बड़ी जरूरत होती है। उसका एक रास्ता है प्रचलित रीति नीतियों से चिपके रहना। दूसरा है संस्थाओं को पकड़े रहना। संस्था, सम्प्रदाय

राष्ट्र इसके चिपके रहने से सुरक्षा मिलेगी। इसमें मकीर्ण राष्ट्रवाद का जोर होता है। और राष्ट्र यानी अधिक संख्यक समूह। अपने देश में सम्प्रदायवादियों में भारत यानी हिन्दू राष्ट्र इस प्रकार की धारणा तो जानी हुई है। अमेरिका में भी पाया गया है कि वहाँ के पूर्वग्रहवाले लोगों के मन में अमरिका राष्ट्र की कल्पना प्रोटेस्टण्ट बहु संख्यकों के साथ ही जुड़ी हुई होती है।

अधिकारवादी की कुछ और विशेषता की चर्चा पहले भी की गयी है। उनको यहाँ दोहराने की जरूरत नहीं है। इससे स्पष्ट होगा कि यह एक समग्र मानसिक स्थिति है और इस स्थिति में जब तक परिवर्तन नहीं होता, तब तक उसमें से सिर्फ पूर्वग्रह और भेदभाव को निकाल फेंकना असम्भव सा है। मन की यह स्थिति सारी की सारी निषेधक (निगेटिव) दीखती है। पर यह अपने को सुरक्षा का अनुभव कराने के मन के प्रयत्न का परिणाम है। ऐसा मनुष्य दया का पात्र है। इसका प्रतिकार तो बचपन के लालन पालन के तरीके से ही शुरू करना होगा। विद्यालयों में भी कुछ हो सकता है पर आजकल के विद्यालयों से इसकी बहुत अपेक्षा रखी नहीं जा सकती। प्रौढ शिक्षण भी चाहिए।

आजकल मानसिक उपचार के लिए समूह तरीके का उपयोग किया जा रहा है। रोगियों की एक छोटी मण्डली बैठकर आपस में अपनी समस्याओं के बारे में चर्चा करती है और उसके द्वारा चिकित्सक के मार्गदर्शन में आरोग्य की ओर बढ़ती है। लोगों को विधायक कार्य के लिए छोटी छोटी मण्डलियों में संगठित किया जाय तो उनके माध्यम से लोकतान्त्रिक आदत तथा मानस का विकास होने में मदद मिल सकती है।

पूर्वग्रह दूर करने के कारगर तरीकों की खोज हुई है और हो रही है। विद्यालयों के जरिये, अखबार रेडियो आदि प्रचार साधनों के जरिये भाषणों के द्वारा, विभिन्न जमातों के लोगों में परस्पर परिचय बढ़ाने के द्वारा यह करने का प्रयत्न सामान्यतया किया जाता है। इन सबमें कुछ न कुछ सफलता मिलती है। इनमें कुछ खास ध्यान में लेने लायक मुद्दे नीचे दिये जाते हैं।

विद्यालयों में इनके लिए नीचे लिखे अनुसार कार्यक्रम सुझाये गये हैं १ वर्गों के द्वारा, साहित्य के जरिये सही जानकारी देना २ नाटक सिनेमा, उपन्यास आदि के द्वारा अल्प संख्यकों के प्रति भावनागत समरसता सहानुभूति पैदा करना, ३ समाज में सेवा और अध्ययन के कार्यक्रम—भ्रमण सर्वेक्षण आदि ४ प्रदर्शनी उत्सव आदि, जिनके द्वारा एक दूसरे की संस्कृति परम्परा धर्म आदि का परिचय मिले, आदर पैदा हो, ५ छोटे समूह की तकनीक चर्चा, सहियोगसभा आदि ६ व्यक्तिगत सम्पर्क से सलाह, विचार परिवर्तन।

परस्पर परिचय के कार्यक्रम के बारे में अनुभव के आधार पर यह चेतावनी दी गयी है कि कभी-कभी इससे अधिक कटुता भी पैदा हो सकती है। एक दूसरे के धर्म, संस्कृति आदि के बारे में चर्चा के दरम्यान ज्यादा मतभेद पैदा हो सकता है।

फिर सद्भावना मण्डल आपस मे बैठकर सिर्फ समस्या की चर्चा करते हैं, दोनों जमातों की दिलचस्पी जिसमें हो, ऐसे किसी काम को उठाते नहीं, तो इससे निष्फलता का अनुभव बढ सकता है। परस्पर परिचय बढाने का एक कारगर तरीका यह है कि किसी एक छोटे अञ्चल, मुहल्ला जैसे क्षेत्र के विविध जमातों के लोगों का एक 'स्थानीय पर्व' आयोजित किया जाता है। सचालक किसीसे अपने सस्मरण किसी छुट्टी के, वसन्त ऋतु के, बचपन के स्वादिष्ट भोजन के, सबको सुनाने के लिए कहते हैं। फिर सबको उस प्रकार के परिचय-सस्मरण याद आते हैं और थोडी देर में सभी साथी अनुभवों के आदान प्रदान में, आचलिक या जातिगत रीति-रिवाज की तुलना में मशगूल हो जाते हैं। दूर अतीत के सस्मरणों में जो भावना, जो विनोद होते हैं, उनमें समरसता पैदा होती है। जमातों की रीति-नीतियों में काफी समानता पायी जाती है। फिर कोई लोक नृत्य या लोक सगीत शुरू करता है, दूसरा को सिखाने लगता है और धीरे-धीरे आनन्द-उल्लास का वातावरण बन जाता है। इस तरीके से स्थायी सम्बन्ध पैदा होते हो या नहीं, पर लोगों में दूरता तोडने के लिए, परिचय के आरम्भ के लिए यह लाभदायक होता है।

अखबार, सिनेमा आदि के बारे मे ये मुद्दे ध्यान में लेने लायक हैं

१ एक फिल्म, एक लेख, या एक कार्यक्रम का थोडा सा असर होता है, पर परस्पर सम्बद्ध कई कार्यक्रम एक के बाद एक हो तो उनके हरएक के असर के जोड से ज्यादा असर होता है। एक कार्यक्रम से काम नहीं चलता, कईने चाहिए।

२ किसी एक सदर्भ मे जो नयी दृष्टि आती है, वह अक्सर दूसरे सदर्भ में लागू नहीं की जाती। एक सिनेमा की कहानी के अन्त में यह नीति शिक्षा थी कि सघर्ष का निरसन धीरज तथा समझदारी से ही हो सकता है, हिंसा से नहीं। दर्शक भावपूर्ण कहानी से बडे प्रभावित हुए और खूब ताली पीटी। उसके बाद ही एक सवाद-फिल्म (न्यूजरील) में सिनेटर टैफ्ट का भाषण आया कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो में धीरज और समझदारी से काम लेना चाहिए, हिंसा से नहीं। दर्शकों ने उसकी खिल्ली उडायी।

३ मनोभाव में जो भी परिवर्तन होता है, वह थोडी देर के बाद फिर पीछे हटता है, पर शुरू में जहाँ था, वहाँ तक नहीं। कुछ असर बच जाता है। पर कुछ लोगों में इसका उल्टा भी होता है। अधिक पूर्वग्रहवाले लोग पहले तो नये सदेश का जोरदार विरोध करते हैं, पर उस पर 'कुछ नींद' लेने के बाद फिर उनमें अनुकूलता पैदा होती है।

४ जहाँ गहरा विरोध न हो वहीं प्रचार अधिक सफल होता है।

५ एक-तरफा प्रचार अधिक सफल होता है, जैसे तानाशाही राज्यो में। बार-बार सुनकर लोगों का मानसिक प्रतिरोध टूट जाता है। किसी सवाल के दोनों पहलू सुनने को मिलते है, तो लोगों को सोचना पडता है। अपने विचार से निर्णय लेने के लिए प्रेरित होते हैं। इसलिए सम्प्रदायवादियो, पूर्वग्रहग्रस्तों के प्रचार के सामने उल्टा प्रचार भी चलना चाहिए, जिससे लोग एक-तरफा सुनकर रह न जायँ—दोनों तरफ की बातें उन्हें सुनने को मिलें।

६ असर करने के लिए प्रचार उद्वेग का शमन करना चाहिए। उद्वेग बढ़ाने वाला प्रचार विफल होता है।

७ प्रसिद्ध लोग किसी विचार का समर्थन करते हैं, तो उसको स्वीकार करने में मदद होती है।

संघर्ष और उसके निरसन का एक बड़ा रोचक और महत्त्वपूर्ण प्रयोग अमेरिका में 'शरीफ' ने सन् १९५४ में किया। उन्होंने ग्यारह ग्यारह लड़कों की दो टोलियाँ बनायी। इन्होंने एक और प्रयोग के बारे में पहले जैसा बताया गया है, उसी तरह से इन्होंने इन टोलियों के लिए लड़के चुने। फिर इनको एक एकांत स्थान में अलग-अलग शिविरों में रखा गया। पहले के कुछ दिन तो टोलियों का अंदरूनी मेल कायम करने में गये।

इसमें पाया गया कि हरएक टोली ने अपने लिए एक नाम चुन लिया। एक का नाम हुआ 'रैटलर्स' और दूसरे ने अपना नाम रखा—'ईगल्स'। हरएक टोली ने अपना अपना झंडा भी बनाया और हरएक में अपने अपने कुछ विशेष रीति रिवाज भी स्थिर हो गये।

फिर दोनों टोलियों में प्रतियोगिता और उसके जरिये वैमनस्य पैदा करने का काम शुरू हुआ। दोनों में रस्सा कशी का दंगल हुआ। उसमें 'ईगल्स' हार गये। तो उन्होंने रैटलर्स का एक झण्डा जला दिया। दूसरे दिन सुबह रैटलर्स को यह मालूम हुआ तो उन्होंने ईगल्स का एक झंडा छीन लिया। दोनों में खाचातानी मारामारी की हद तक पहुँच गयी। एक दूसरे के शिविर पर भी हमले हुए और सामान तहस नहस किये गये। एक दूसरे की भेंट हुई तो मारामारी गाली गलौज चलता रहा।

इस समय हर लड़के से अपनी तथा दूसरी टोलियों के बारे में राय पूछी गयी। उन लड़कों के परस्पर व्यवहार में प्रचलित अच्छे-बुरे तीन-तीन विशेषण चुने गये। अच्छे विशेषण थे—साहसी जबरदस्त और दोस्ताना बुरे विशेषण थे—कमीना धूर्त और गंदा। फिर हरएक से यह सवाल पूछा गया कि किस टोली में इस प्रकार के लड़के कितने हैं?—सबके सब? बहुत अधिक? थोड़े से? या बिल्कुल नहीं? तो जैसी अपेक्षा थी, हरएक ने अपनी टोली के बारे में अच्छी राय दी और दूसरी के बारे में प्रतिकूल। रैटलर्सवालों ने अपनी अनुकूल १ प्रतिशत राय दी और ईगल्स ने ९४ प्रतिशत। रैटलर्सवालों ने ईगल्सवालों के बारे में ५३ प्रतिशत प्रतिकूल, और ३४ प्रतिशत अनुकूल राय दी। ईगल्सवालों ने रैटलर्स के बारे में ७६ ९ प्रतिशत प्रतिकूल और १५ ४ प्रतिशत अनुकूल राय दी।

अब दोनों में तनाव मिटाकर मैत्री स्थापित करने का प्रयोग तीसरे हफ्ते में शुरू हुआ। इसमें विरोध निरसन के कुछ तरीकों को आजमाना जरूरी समझा नहीं गया जैसे किसी तीसरी टोली के खिलाफ दोनों को इकट्ठा करना। इससे एक वैर तो मिटता है पर दूसरा खड़ा होता है। इसी तरह नेताओं को इकट्ठा करके आपसी सुलह कर लेने का तरीका भी छोड़ दिया गया। अगर अनुयायियों में मनमुटाव बना रहता है तो

नेताओं में मत्र हाने स कुछ बनता नहा। नेता को ही लोग फेक देते ह, बदल देत ह।

तीसरा तरीका यह हो सकता था कि हरएक लडके में व्यक्तिगत हित की भावना पैदा की जाय, हरएक व्यक्ति खेल-कूद आदि म दूसरा से बाजी लेने की फिकर में रहे, टोलीगत भाव मिट जाय। पर वास्तविक जीवन म ता समूहा क आधार पर ही भेदभाव खडा होता है। व्यक्तिगत हित चिता समूह की भावना को मिटा नहीं सकती है। इसलिए इसकी व्यावहारिक उपयोगिता नहा मानी गयी। इसलिए इसम आखिर दो ही तरीके अपनाये गये।

पहले यह प्रयाग किया गया कि दोना इकट्ठे एक भाजनालय में खाय, एक साथ सिनेमा देख, एक साथ पटाखे छाड। पर इन अवसरो से कोई परस्पर सद्भाव पैदा नही हुआ, उलट गाली गलाज और खाने के समय जूठन फकना आदि मे उनका उपयोग हुआ।

फिर इस उपाय का आजमाया गया कि दोना किसी बृहत्तर ध्येय क लिए एक साथ काम करने के लिए प्ररित हा। इसके अवसर निर्माण किये गये। ये प्रसग ऐसे थे, जिनमें दाना के लिए बराबर महत्त्व की ओर जरूरी समस्याएँ थीं और दोनों की सम्मिलित चर्चा, सयाजन तथा प्रयत्न के सिवा उनका हल निकल नहीं सकता था।

प्रथम प्रसग इस प्रकार था। कुछ घट पहले सबको सूचना दी गयी थी कि शिविरो को पानी पहुँचानेवाले नल तथा टकी मे कहीं गडबड है और पानी बन्द हा जायगा। फिर सचमुच पानी बन्द ही हो गया—यानी कर दिया गया। टकी वहाँ से करीब एक मील दूर थी, पानी का पम्प दो मील दूर। सब लडको को बुलाकर समझाया गया कि बीस-पच्चीस लोग चाहिए, जो जाकर देख कि कहीं नल फूट तो नहीं गया, नहीं तो मामला जल्दी सुधरेगा नहीं। सब उत्साह के साथ तैयार हुए और टोलियाँ बनाकर निकल पडे। पर टोलियाँ सिर्फ रैटलस या ईगल्स की बनी। सब घूम-फिरकर टकी के पास पहुँचे। तब तक सबको प्यास लगी थी। टकी की टाटी घुमायी तो पानी निकला नहीं। जगल म पडी हुई सीढी ढूँढ लाये ओर सबके सब टकी पर चढकर देखने लगे कि पानी है या नहीं। टकी तो भरी थी। फिर टाटी म क्या गडबडी है, यह देखने लग। देखा कि उसमे चिथडे ठूँसे हुए ह।—उनसे पहल कहा गया था कि कभी-कभी बाहर का काई आदमी विनोद के लिए नल को बिगाड देता है—फिर सबने मिलकर अपने पास चाकू आदि जो ओजार थे, उनके सहार टाटी को साफ किया। इस काम मे दानों सहकार करते रहे। एक-दूसरे के सुझाव भी स्वीकार करत रहे। फिर सचालको की मदद माँगी गयी और उनकी मदद से नल म पानी चलने लगा तो सबको बडा सतोष हुआ।

सिनेमा के कुछ चित्र देखने की सबको बडी इच्छा थी। सचालको की ओर से सूचना दी गयी कि सब लडके फिल्म के किराये के लिए थोडी-थोडी रकम अपनी ओर से देंगे, तो सचालकों की ओर से बाकी आधी रकम दी जायगी और एक फिल्म लायी जा सकेगी। तो इसके लिए सब राजी हुए। दोनों टोलियो ने रकम देने का निश्चय

किया। किसको कितना देना चाहिए इसका हिसाब किया और फिर यह भी दोनों ने मिलकर तय किया कि कौन सी फिल्म मँगवानी चाहिए। पर रात को सिनेमा देखने के लिए बैठे तो अधिकतर लड़के अपनी अपनी टोलिया के साथियों के साथ ही बैठे।

आखिरी प्रसंग में दोना टोलियाँ वहाँ से साठ मील दूर समुद्र के किनारे घूमने गयीं। दोनो ने वहाँ जाने की इच्छा प्रकट की थी, पर दोनो ने वहाँ अलग अलग जाना और अलग से अपना खेलकूद करना चाहा। वैसा ही हुआ। वहाँ काफी खेल कूद और तैरने के बाद जब सब भूखे आये, तो देखा कि भोजन पास के गाँव से लाने के लिए एक शिक्षक एक ट्रक लेकर निकल रहे हैं। पर जब ट्रक को स्टार्ट करने की कोशिश हुई तो लाख कोशिश करने पर भी दुर्भाग्य से वह स्टार्ट ही नहीं हुई। लड़के सोच में पड़े। किसीने सुझाया कि चलो खींचकर स्टार्ट करें। रस्सा कशी की रस्सी उसमें बाँधकर सबने खींचना शुरू किया। रस्सी के दो फेरे थे। एक फेरे को रैटलर्स ने और दूसरे को ईगल्स ने पकड़कर खींचा। ट्रक स्टार्ट हो गयी। खाना आया तो दोना ने मिलकर रसोई बनायी और परोसा यद्यपि एक टोली ने अलग से खाने की इच्छा पहले प्रकट की थी क्योंकि पहले वे वैसा ही करते थे।

तीसरे पहर भी ट्रक की वही 'हालत' हुई और उसे खींचकर स्टार्ट करना पड़ा। पर अबकी बार रस्सी के दोना छोरों को लड़को ने मिल जुलकर पकड़ा। शाम को भी दोनो ने साथ खाना बनाया और खाया। अब टोलीगत भेदभाव नहीं रहा। फिर लौटते समय दोना ने एक ही गाड़ी में साथ लौटने की माँग की। इस तरह यह तरीका कारगर साबित हुआ। अन्त में फिर दोनों टोलियों के लड़को से दूसरी टोली के बारे में राय पूछी गयी तो प्रतिकूल राय सिर्फ १९ २० प्रतिशत मिली।

इस प्रयोग के सिलसिले में और तरह से भी सूक्ष्म अध्ययन किया गया और जानकारी प्राप्त की गयी। जैसे जब झगड़ा शुरू हुआ तब एक टोली का नेता बदल गया। शान्ति के समय तो वह खेलकूद में लायक था, पर 'लड़ाई' के समय नाकारा पाया गया। रस्सा कशी में जो टोली हार गयी, उसमें आपसी फूट पड़ी और मनमुटाव शुरू हुआ पर दूसरी टोली के साथ झगड़ा अधिक तेज होने पर वह मिट गया।

इन दिनों पश्चिम के देशों में नमूना सर्वेक्षण के द्वारा आम लोगों की राय जाँचने का तरीका खूब काम में लिया जाता है। ऊपर हमने इस प्रकार के कुछ सर्वेक्षणों के नतीजों का उल्लेख किया है। इसमें सामान्यतया किसी क्षेत्र की जनसंख्या का अमुक प्रतिशत चारों ओर से समान रूप से या समाज के हर स्तर में से समान अनुपात में चुन लिया जाता है। फिर एक प्रश्नावलि के आधार पर उनकी राय मालूम की जाती है। इस नमूने के आधार पर समाज में प्रचलित राय का ठीक ठीक पता लग जाता है। आम चुनाव से पहले इस तरह नमूने लेकर इस बात का काफी सही अन्दाजा लगाया गया है कि आगामी चुनाव में किस पक्ष को कितना वोट मिलेगा।

इस ढंग से लोगों में पूर्वग्रह, धर्म या रंगगत विरोध आदि समस्याओं के बारे में लोगों के विचार तथा समय-समय पर उसमें होनेवाले परिवर्तन आदि कई विषयों की जानकारी प्राप्त की जाने लगी है।

जैसे कुछ साल पहले अमेरिका के ३३०० हाईस्कूल विद्यार्थियों की राय जाँची गयी तो निम्न प्रकार की जानकारी मिली

सवाल 'क्या नीग्रो एक निकृष्ट जाति है?'

	हाँ	नहीं
लड़के	३१ प्रतिशत	६९ प्रतिशत
लड़कियाँ	२७ ,,	७३ ,,

सवाल 'क्या तुम सोचते हो कि अन्य किसी भी जमात की भाँति नीग्रो लोग भी समाज की प्रगति में मदद कर सकते हैं?'

	हाँ	नहीं
लड़के	६५ प्रतिशत	३५ प्रतिशत
लड़कियाँ	७२ ,,	२८ ,,

यहूदियों के बारे में इंग्लैण्ड के एक शहर के मध्यमवर्ग के लोगों में इस प्रकार की राय थी। १२ प्रतिशत की यह मान्यता थी कि 'यहूदियों का किसी भी चीज से सम्बन्ध आता है, तो वे उसे भ्रष्ट और अपवित्र कर देते हैं', ३१ प्रतिशत की मान्यता थी कि 'दूसरों के साथ व्यवहार में यहूदी बड़े खतरनाक, बहुत ही लालची और नीतिहीन होते हैं' और ४ प्रतिशत ऐसे थे, जो समझते थे कि 'यहूदी इस धरती पर रेंगनेवाली, इन्सानों की सबसे कमीनी जमात है।' दूसरी तरफ ६ प्रतिशत लोग मानते थे कि 'यहूदी काफी ऊँचे दर्जे के लोग हैं। उनमें जो सराहनीय सद्गुण हैं, उन्हीं के कारण वे युगों के अत्याचार के बावजूद टिके हुए हैं।'

अभी अमेरिका के एक साप्ताहिक पत्र ने नीग्रो लोगों के विचार का सर्वेक्षण किया है और सन् १९६३ में किये गये सर्वेक्षण के साथ उसकी तुलना की है। इन दो वर्षों में नीग्रो आन्दोलन तथा नागरिक अधिकार-कानून के पास होने के कारण उनके विचारों में हुए परिवर्तन का पता इसमें चलता है

	सन् १९६३	सन् १९६५
१ बिना हिंसा के नागरिक अधिकार जीते जा सकते हैं।	६२ प्रतिशत	८० प्रतिशत
२ डेमोक्रेटिक पक्ष रिपब्लिकन पक्ष से ज्यादा हमारे अनुकूल है।	६२	३० ,,
३ गोरे लोग हमें बेहतर सहूलियत देना चाहते हैं।	७८ ,,	८३ ,,

बैंकों ने जितना धन जमा किया होता है, वह सारा तो सन्दूकों में पड़ा हुआ नहीं रहता, वह तो व्यापार-उद्योगों में लगा हुआ होता है, उसका दसवाँ या बारहवाँ हिस्सा ही बैंक में नकद रकमों में रहता है, क्योंकि इतनी ही रकम का कारोबार रोजाना होता है। लोग पैसा उठाते हैं, तो दूसरे लोग जमा भी कर देते हैं। इसलिए सब लोग एक साथ पैसा उठाना चाहें तो भला बैंकवाले कहाँ से दें? इसलिए वहाँ ऐसी कोशिश शुरू हुई, तो दो तीन दिन में धड़ाधड़ दस सौ से अधिक बैंक फेल हो गये। इससे जो आर्थिक संकट अमेरिका में शुरू हुआ, वह देखते देखते सारी दुनिया में फैल गया और बेहद दुःख और दुर्दशा का कारण बना।

इस तरह भय या द्वेष की छूत से जो तनाव होता है, उसके कई उदाहरणों से हम अच्छी तरह परिचित हैं। साम्प्रदायिक तथा दूसरे प्रकार के दंगे तो यहाँ की दैनन्दिन घटना बन गयी है। कुछ वर्ष पहले कुम्भ-मेले में इसी कारण आतंक फैला और उसमें जो भगदड़ मची, उससे लगभग एक हजार लोग कुचल गये। कभी-कभी सद्भावना की भी छूत लगती है, जैसे भूदान की सभा में दो चार व्यक्तियों ने दान दिया, उनकी प्रशंसा हुई और एक प्रकार की हवा बन गयी, तो फिर सैकड़ों दानों की वर्षा होने लगती है।

लोग इस तरह का बर्ताव क्या करते हैं, इसके कारण निम्न प्रकार हैं

मनुष्यों में दूसरों की भावना से प्रभावित होने की तथा विचार मान लेने की वृत्ति होती है। बच्चों में यह वृत्ति अधिक मात्रा में पायी जाती है। हम पहले देख चुके हैं कि इसके कारण ही बच्चा अपने परिवार तथा अड़ोस पड़ोस से सीखता है, सामाजिक जीव बनता है। बड़ों में यह वृत्ति काफी हद तक बनी रहती है, खासकर उस हालत में कि जब व्यक्तित्व पूर्ण रूप से समन्वित न हो तथा स्वतन्त्र विचार-शक्ति दृढ़ न हुई हो। सम्मोहन की प्रक्रिया में इस अभिभावशीलता (सजेस्टिबिलिटी) का उपयोग हम देखते हैं। इसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं।

परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया से भी भीड़ में जगी भावना या वृत्ति मजबूत होती है। 'क' भयभीत हुआ, इसलिए 'ख' का भय और भी बढ़ा। बचपन में कई लड़के मिलकर अमरूद चुराने या और कोई दुष्कर्म करने साथ गये होंगे और किसी कारण एक को जरा भय हुआ होगा, तो इस तरह परस्पर प्रतिक्रिया से वह भय अनियन्त्रित आतंक में परिणत होता है, इसका अनुभव कई लोगों को होगा।

भीड़ का तीसरा असर यह होता है कि उसमें मनुष्य अपना स्वतन्त्र अस्तित्व खो देता है। अनामधेय (अनानिमस) बन जाता है। इसलिए उसकी 'जिम्मेवारी की भावना' भी घट जाती है। बहुत सारे लोगों के समूह में वह जो कुछ करता है, उसके लिए वह खुद जिम्मेवार है, यह भावना उसकी कम रहती है। मैंने खुद देखा है कि रेल में सफर करते हुए जितनी बार मेरा सामान खो गया, उतनी बार मैं अकेला नहीं, वरन् किसी दूसरे के साथ या टोली में ही सफर कर रहा था।

४ नागरिक अधिकार दिलाने में ये समूह जो मुख्यतया गोरों के हैं हमारे अनुकूल हैं—

(क) अमेरिका की कांग्रेस — लोकसभा और राज्यसभा—	५४ प्रतिशत	८५ प्रतिशत
(ख) मजदूर संगठन	४	६९
(ग) राज्य सरकार	३८	७६
(घ) धार्मिक संस्थाएँ (गिरजे)	२४ ,	४४

इससे लोगों की मानसिक स्थिति का पता चलता है और आगे के कार्यक्रम तय करने में मदद होती है। सुधार के लिए भी इस पद्धति का उपयोग हो सकता है।

सन् १९४७ में अमेरिका के एक शहर में इस प्रकार का सर्वेक्षण खुद नागरिकों के द्वारा किया गया। इसके लिए वहाँ की सार्वजनिक संस्थाओं की मदद ली, खासकर भेदभाव की समस्या में दिलचस्पी रखनेवाली संस्थाओं की। सर्वेक्षण से पता चला कि शहर में नीग्रो और यहूदियों के प्रति काफी भेदभाव है—खासकर आवास स्थलों में, नौकरियों में, होटलों में तथा रेस्तराओं में। सर्वेक्षण से लोगों की आँखें खुली और इस भेदभाव को मिटाने के लिए काफी प्रयत्न हुआ। सामाजिक नीति में परिवर्तन हुए, सार्वजनिक आचार में सुधार हुए तथा वहाँ एक नया वातावरण पैदा हुआ और लोगों में परस्पर के बारे में समझदारी बढ़ी। ●

भीड़ का मनोविज्ञान २३

भीड़ का मतलब हम 'एक जगह एकत्रित लोग' समझते हैं, जिनके कारण दंगे फसाद आदि होते हैं। लेकिन 'भीड़ की मनोवृत्ति' फैलाने के लिए यह कोई आवश्यक नहीं है कि लोग एक जगह ही इकट्ठे हों। घर बैठे भी यह मनोवृत्ति छूत की तरह लग सकती है, खासकर आज के जमाने में। भीड़ की मनोवृत्ति के कारण सिर्फ दंगे नहीं होते, वरन् शासकों का उत्थान-पतन भी होता है। हिटलर, मुसोलिनी-जैसे तानाशाहों ने इसी मनोवृत्ति का सहारा लेकर अपने अपने राज्य पर कब्जा किया था। चुनावों में भी इसी वृत्ति का उपयोग करने की कोशिश होती है।

सन् १९२९ में अमेरिका में एक बड़ा भारी आर्थिक संकट प्रारम्भ हुआ जो सारी दुनिया में छा गया और वर्षों तक अकथनीय बेकारी, दारिद्र्य तथा दुर्दशा का कारण रहा। इसके मूल में भी भीड़ की मनोवृत्ति एक कारण थी। कुछ आर्थिक कठिनाई के कारण वहाँ के एक-दो बैंकों ने अमानतदारों का पैसा देना बन्द कर दिया। इससे दूसरे बैंकों के अमानतदारों के मन में भय हुआ कि कहीं हमारा बैंक भी फेल न हो जाय। तो सबने बैंकों में से अपना पैसा उठा लेना शुरू किया।

बैंकों ने जितना धन जमा किया होता है, वह सारा तो सन्दूकों में पड़ा हुआ नहीं रहता, वह तो व्यापार-उद्योगों में लगा हुआ होता है, उसका दसवाँ या बारहवाँ हिस्सा ही बैंक में नकद रकमों में रहता है, क्योंकि इतनी ही रकम का कारोबार रोजाना होता है। लोग पैसा उठाते हैं, तो दूसरे लोग जमा भी कर देते हैं। इसलिए सब लोग एक साथ पैसा उठाना चाहें तो भला बैंकवाले कहाँ से दें? इसलिए वहाँ ऐसी कोशिश शुरू हुई, तो दो तीन दिन में धड़ाधड़ छह सौ से अधिक बैंक फेल हो गये। इससे जो आर्थिक संकट अमेरिका में शुरू हुआ, वह देखते देखते सारी दुनिया में फैल गया और बेहद दुःख और दुर्दशा का कारण बना।

इस तरह भय या द्वेष की छूत से जो तनाव होता है, उसके कई उदाहरणों से हम अच्छी तरह परिचित हैं। साम्प्रदायिक तथा दूसरे प्रकार के दंगे तो यहाँ की दैनन्दिन घटना बन गयी है। कुछ वर्ष पहले कुम्भ-मेले में इसी कारण आतंक फैला और उसमें जो भगदड़ मची, उससे लगभग एक हजार लोग कुचल गये। कभी-कभी सद्भावना की भी छूत लगती है, जैसे भूदान की सभा में दो-चार व्यक्तियों ने दान दिया, उनकी प्रशंसा हुई और एक प्रकार की हवा बन गयी, तो फिर सैकड़ों दानों की वर्षा होने लगती है।

लोग इस तरह का बर्ताव क्यों करते हैं, इसके कारण निम्न प्रकार हैं :

मनुष्यों में दूसरों की भावना से प्रभावित होने की तथा विचार मान लेने की वृत्ति होती है। बच्चों में यह वृत्ति अधिक मात्रा में पायी जाती है। हम पहले देख चुके हैं कि इसके कारण ही बच्चा अपने परिवार तथा अड़ोस पड़ोस से सीखता है, सामाजिक जीव बनता है। बड़ों में यह वृत्ति काफी हद तक बनी रहती है, खासकर उस हालत में कि जब व्यक्तित्व पूर्ण रूप से समन्वित न हो तथा स्वतन्त्र विचार-शक्ति दृढ़ न हुई हो। सम्मोहन की प्रक्रिया में इस अभिभावशीलता (सजेस्टिबिलिटी) का उपयोग हम देखते हैं। इसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं।

परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया से भी भीड़ में जगी भावना या वृत्ति मजबूत होती है। 'क' भयभीत हुआ, इसलिए 'ख' का भय और भी बढ़ा। बचपन में कई लड़के मिल-कर अमरूद चुराने या और कोई दुष्कर्म करने साथ गये होंगे और किसी कारण एक को जरा भय हुआ होगा, तो इस तरह परस्पर प्रतिक्रिया से वह भय अनियन्त्रित आतंक में परिणत होता है, इसका अनुभव कई लोगों को होगा।

भीड़ का तीसरा असर यह होता है कि उसमें मनुष्य अपना स्वतन्त्र अस्तित्व खो देता है। अनामधेय (अनानिमस) बन जाता है। इसलिए उसकी 'जिम्मेवारी की भावना' भी घट जाती है। बहुत सारे लोगों के समूह में वह जो कुछ करता है, उसके लिए वह खुद जिम्मेवार है, यह भावना उसकी कम रहती है। मैंने खुद देखा है कि रेल में सफर करते हुए जितनी बार मेरा सामान खो गया, उतनी बार मैं अकेला नहीं, वरन् किसी दूसरे के साथ या टोली में ही सफर कर रहा था।

इस तरह मनुष्य को अपना स्वतन्त्र परिचय खो देने के कारण उसमे दबी हुई प्रवृत्तियो के प्रकट होने के लिए अनुकूल अवसर मिल जाता है। इससे मन मे नीति परायणता के निषेध ढीले हो जाते है। फिर वह अकेला जो नही कर सकता था वही भीड मे कर सकता है। घर जलाने मे खून करने मे या स्त्री पर अत्याचार करने मे उसे हिचक नहीं होती।

हम अक्सर देखते है कि हिन्दू मुसलमानो मे या असमी-बंगाली या मराठी गुजराती-जैसे अलग भाषिक समुदायो मे झगडे होते है तो उसमे स्त्रियो पर विशेष रूप से ज्यादतियॉ हुआ करती है। पर कई आदिवासी जातियो मे भी झगडे तथा मारपीट हुआ करती है पर उनमे स्त्रियों पर इस प्रकार ज्यादतियॉ होते कभी सुना नहीं गया। हो सकता है कि ऊँची कहलानेवाली जातियो मे यौन वृत्ति अधिक कृत्रिम भाव से अवदमित होती हो और इसी कारण ऐसा होता हो।

कहते हैं कि फ्रास मे दगे होते है तो मनुष्यो की बनिस्बत सम्पत्ति पर अधिक आक्रमण होता है। यह विषय अधिक खोज का है।

व्यक्ति को भीड के साथ एकरूप करने मे सगीत, वाद्य नृत्य आदि तालबद्ध क्रियाऍ मदद करती है। सैनिको के जैसे कदम मिलाकर चलने से या सिर्फ भीड मे इकट्ठे चक्कर काटते रहने से भी यह असर होता है। जुलूसो मे सगीत नारा तथा साथ चलने का प्रभाव हरएक के ध्यान मे आया होगा। सकीर्तनो मे भावात्मक एकता लाने के लिए सगीत तथा वाद्यो का उपयोग होता है। हिटलर, मुसोलिनी, स्तालिन जैसे तानाशाहो ने इस तरकीब का खूब प्रयोग किया है। वे हजारो या लाखों लोगो को इकट्ठा करते थे और सगीत, वाद्य नारे आदि की उन पर वर्षा की जाती थी। हजारो लोग कदम मिलाकर घण्टो तक जुलूसो मे चलते रहते थे। इस तरह बार बार होते होते उनके मानस सिर्फ उतने समय के लिए ही नहीं पर एक प्रकार से, स्थायी रूप से सम्मोहित हो जाते थे। उनका चेतन, उनका विवेक निष्क्रिय हो जाता था।

इस प्रकार की टेक्नीकों के अलावा नेता का असर भी काम करता है। किसी नेता के लिए लोगों मे अनुराग या भय हो और वह उनको सुहाने लायक बात न करे, यानी अवदमित द्वेष या आक्रमण वृत्ति को प्रोत्साहन दे तो लोग आसानी से उसमे बह जाते हैं।

हमने पहले ही देखा है कि किसीको निष्फलता (Frustration) का अनुभव होता हो, तो उसकी आक्रामक वृत्ति जाग जाती है और वह निष्फलता उसके वाजिब कारण के अलावा किसी दूसरे निर्दोष व्यक्ति या वस्तु पर भी सक्रिय हो सकती है। मियॉ दफ्तर मे बडे साहब से फटकार सुनकर आते है तो घर मे बीबी पर गुस्सा उतारते हैं। इसी तरह जनता अपने जीवन मे किसी प्रकार की विफलता अनुभव करती हो, तो किसी न किसी वस्तु पर वह गुस्सा उतारती है। इस तरह मनुष्य अपने मानसिक भय द्वेष आदि का किसी बाहरी वस्तु पर आरोपण करता है। और जो कारण उसके अपने मन मे है उसे बाहर देखता है यह भी हमने देखा है। इस आरोपण

(प्रोजेक्शन) से बलि का बकरा (स्केप गोट) बनाने की प्रक्रिया चल पड़ती है। स्कूलों में लड़के बहुत दबाये जाते हैं, तो वे अपने में से किसी एक या दो कमजोर लड़कों को चुन लेते हैं और उन्हींको हर तरह से तंग करने में अपनी सारी दबी हुई आक्रामक-वृत्ति चरितार्थ करते हैं। समाज में भी ऐसा होता है। प्रथम महायुद्ध के बाद जर्मनी के लोग हारे थे, बेकारी और भुखमरी चारों ओर छायी हुई थी, तो इस गहरी विफलता के अनुभव से उन्होंने यहूदियों को बलि-पशु (स्केप गोट) बनाया और उन्हीं पर सारा गुस्सा उतारा। हिन्दुस्तान में जो दंगे होते हैं उनमें भी इस प्रकार किसी न किसीको बलि पशु (स्केप गोट) बनाने की वृत्ति कहाँ तक है, यह अध्ययन करने का विषय है।

यह ध्यान में रखने लायक है कि कमजोर को ही 'बलि पशु' (स्केप गोट) बनाया जाता है। आक्रमण होने पर जिसमें प्रतिरोध करने की शक्ति हो, जो समान रूप से प्रति आक्रमण कर सके, ऐसे गिरोह को कभी बलि पशु (स्केप गोट) नहीं बनाया जाता। यह भी आवश्यक है कि उस गिरोह में रंग, भाषा, रस्मो रिवाज आदि कोई एक या अधिक प्रभेद हों, जो उसे मुख्य समाज से अलग करते हों।

भीड़ की मनोवृत्ति किन कारणों से प्रबल होती है, यह हमने देखा। अब मतलबी लोग उसे उभाड़ने के लिए कौनसे तरीके अपनाते हैं, यह भी देख लेना चाहिए। इस जमाने में, इस प्रकार से, मतलब साधनेवाले मुख्यतः दो प्रकार के हैं— राजनीतिवाले तथा व्यापारी। अधिनायकवादी देशों में ये लोग जनता को अपने काबू में रखने के लिए तथा इच्छानुसार संचालित करने के लिए भीड़ की मनोवृत्ति का पूरा उपयोग करते हैं। लोकतान्त्रिक देशों में राजनीतिवाले वोट प्राप्त करने के लिए लोगों को उभाड़ते हैं तथा व्यापारी अपने माल की बिक्री के लिए।

इसके लिए विज्ञापन की एक व्यवस्थित कला आज बन रही है।

यहाँ हम विचार-प्रचार तथा प्रोपेगेण्डा का फर्क समझ लें। किसी सच्चे विचार के प्रचार की आवश्यकता हो, तो उसे प्रकट रूप से किया जाता है। उसमें दो बाजू हों तो दोनों बाजू की बात जानने का अवसर उसमें होता है तथा उसमें मनुष्य के विचार-बुद्धि को स्पर्श करने का प्रयत्न करते हैं। मान लीजिए, लोगों को हम यह समझाना चाहते हैं कि बीमारी से बचने के लिए टीका (वैक्सिनेशन) लगा लेना चाहिए, तो इसमें कोई ऐसा विषय नहीं है, जिसे हम छिपाना चाहेंगे। और अगर इसका कोई विरोधी पक्ष हो, तो उसके दृष्टिकोण की चर्चा भी हम जनता के सामने करेंगे, उनकी युक्तियों का खण्डन करेंगे, पर यह नहीं चाहेंगे कि उनकी दृष्टि लोगों के सामने आये ही नहीं।





विज्ञापन की करामात !

लेकिन यदि हम चाहते हैं कि लोग सिगरेट पियें तो हमारी कोशिश यह होगी कि उसका विरोधी दृष्टिकोण लोगों के सामने न आये। लोगों की विचार-बुद्धि को हम सुप्त ही रहने देना पसन्द करेंगे हमारा प्रचार भी अक्सर अप्रत्यक्ष रूप से होगा। इस तरह जिस विचार में मिथ्या का कुछ अंश हो उसके प्रचार को 'प्रोपेगेण्डा' नाम पड़ गया है।

१ प्रोपेगेण्डा का सबसे महत्त्व का उपाय है कि उसके मुद्दे बार बार दोहराये जायें। उसमें युक्ति से समझाने की कोशिश कम-से कम हो। इसका यह सिद्धान्त है कि मिथ्या काफी दोहरायी जाय तो सत्य बन जाती है।

२ उसमें दबे हुए भय, द्वेष और उद्वेगों को उभाड़ने तथा इनके उभड़ने के लिए मार्ग देने का उपाय हो।

३ यह दावा किया जाय कि अपना पक्ष ही सही पक्ष है, और दूसरा भी एक पक्ष है, यह लोगों के सामने कम से कम आने दिया जाय।

४ दूसरे पक्ष स्पष्ट हैं और लोगों के सामने उनके विचार आ गये हों, तो फिर अपने पक्ष को देव के रूप में तथा दूसरे को दानव के रूप में चित्रित किया जाय।

कम्युनिस्ट तथा कम्युनिस्ट विरोधियों के परस्पर प्रचार प्रति प्रचार में यह तरकीब बड़े पैमाने पर देखने को मिलती है।

५ बड़े लोगों के अनुकूल प्रमाण दिये जायँ। फिर सब लोग यह चाहते हैं, सब लोग यह कहते हैं, यह कर रहे हैं—आदि दावा किया जाय।

६ बच्चों पर अधिक ध्यान दिया जाय। वे ज्यादा संवेदनशील होते हैं और आसानी से प्रभावित हो सकते हैं। इसलिए डिक्टेटरगण हमेशा उन्हींको पूरा-पूरा हाथ में लेते हैं। शिक्षण व्यवस्था अपने मातहत रखते हैं। उनको कैडेटकोर, पायोनियर, स्काउट आदि में संगठित करके संगीत, कवायद आदि का उपयोग उनमें पूरा पूरा करते हैं।

विज्ञापनवाले भी बच्चों को अपना शिकार बनाने में पीछे नहीं रहते। कई विज्ञापनों के साथ, बच्चों के लिए प्रतियोगिताएँ होती हैं। बच्चों को अच्छी लगने लायक छोटी-छोटी चीजें—टूथपेस्ट साबुन आदि के साथ दी जाती हैं। रेडियो पर बच्चों के प्रिय गाने तथा लोरियों में विज्ञापित वस्तु को शामिल कर दिया जाता है ताकि बच्चे गाने गुनगुनाते रहें और घर में उस वस्तु का नाम गूँजता रहे।

७ प्रचार के विषय को किसी आकर्षक वस्तु के साथ जोड़ दिया जाय। इसी लिए विज्ञापनों में सुन्दर स्त्रियों के चित्रों का उपयोग हमेशा होता है। यह आवश्यक नहीं कि उस वस्तु का स्त्री से कुछ सम्बन्ध हो। लिप्टन या ब्रुकबाण्ड चाय के विज्ञापन में भी किसी स्त्री का चित्र होता है। मानस में दोनों का संयोग (असोसियेशन) हो जाय इतना काफी है। फिर सुन्दरता के साथ उस चाय का नाम भी याद होता रहेगा। बच्चों के चित्रों व स्मरणीय अवसर के चित्रों का भी उपयोग किया जाता है। एक सिगरेट के विज्ञापन में आता है कि आप यहाँ होते तो कितना

अच्छा होता'—किसी एक छुट्टी बिताने के स्थान का चित्र उसमें होता है फिर सिगरेट का उल्लेख।

८ देव दानववाली युक्ति जो पहले बतायी गयी है, वह कभी-कभी काम नहीं देती। लोग भावना के आवेश में ही नहीं होते, कुछ चौकन्ने होते हैं, तो उस प्रकार के स्थूल प्रचार से मुँह मोड़ लेते हैं। पहले चुनावों में उस प्रकार का प्रचार जितना होता था, आजकल उससे कम हो रहा है। क्योंकि जनता उस प्रकार के प्रचार करनेवालों पर श्रद्धा खो रही है। इसलिए प्रचार के सूक्ष्म तरीके अपनाये जाते हैं। कोई असाधारण बात न हो इस प्रकार से, निन्दा के विषय का, सरसरी प्रकार से उल्लेख कर देना, इसका एक उपाय है। 'हाँ, वे फलाँ की पत्नी को भगा ले गये थे, छोड़ो, किसीकी व्यक्तिगत चर्चा में पड़ना ठीक नहीं। वैसे तो वे अच्छे आदमी हैं' इस प्रकार का वाक्य-प्रयोग करके कहानी, उपन्यास, नाटक आदि कला-कृतियों में लिखा जाता है।

९ अचेतन मन के आविष्कार के बाद सूक्ष्म प्रचार के लिए उसका भी उपयोग करने की कोशिश हो रही है। यह पाया गया है कि हमारी इन्द्रियों से जो अनुभूति हमको मिलती रहती है, चाहे हम उसकी ओर ध्यान भी न दें, फिर भी हमारे अनजाने उनके असर हमारे अचेतन मन में जमा होते हैं। अभी हमारा वर्ग चल रहा है, हमारा ध्यान श्रवण पर केन्द्रित है। सड़कों पर चलनेवाली मोटरों की आवाज से हम अचेतन हैं, खिड़की से जो धूप आ रही है, उसकी ओर भी हमारा ध्यान नहीं है। फिर भी हमारे अनजाने यह सारे अनुभव हमें हो रहे हैं। वैज्ञानिकों का कहना है कि अगर इस तरह किसी मनुष्य को उसकी सचेतन जानकारी के बिना ही कोई सुझाव दे दिया जाय, तो वह ज्यादा कारगर होगा। क्योंकि वह उसकी बुद्धि की पहुँच के बाहर होगा, उसकी छानबीन वह नहीं कर पायेगा। अमेरिका के एक सिनेमा में एक बार ऐसा प्रयोग किया गया। सिनेमा के चित्र चलते समय ही उसी चित्र पर १/१० या १/१०० सेकण्ड के लिए—एक बिजली की झलक की तरह—यह विज्ञापन चमक गया कि 'अधिक चनाचूर खाइए'—(या इसका अमेरिकी विकल्प)। लोगों ने वैसे ख्याल भी नहीं किया कि कुछ अस्वाभाविक बात हुई, पर इण्टरवल के समय पाया गया कि दूसरे दिनों से उस दिन चनाचूर की अधिक बिक्री हुई।

सोते समय तकिये के नीचे छोटा सा माइक रखकर उसमें धीमे-धीमे कोई सूचना दी जाय तो वह भी अपने अनजाने दिमाग में बैठ जाती है, इसका भी प्रयोग हुआ है और अमेरिका के किसी जेलखाने में कैदियों को धर्म उपदेश दिये जाने के लिए इसका उपयोग करके नतीजा परखा जा रहा है।

इस प्रकार के और भी कई उपाय आजकल परखे जा रहे हैं जिनमें अद्यतन वैज्ञानिक शोधों का उपयोग किया जाता है। ये सफल हुए तो लोगों को अपने इच्छानुसार चाहे जिधर मोड़ने के नये कारगर तरीके राजनीतिवालों तथा व्यापारियों को मिल जायेंगे।

दंगों का आरम्भ और उनका प्रतिकार : २४

'विरोध और उसका निरसन' शीर्षक अध्याय में हमने देखा है कि किस तरह लोगों म 'पराये' समूहा के बारे म भेद दृष्टि पैदा होती है। सामान्य स्थिति मे भिन्न भिन्न समूह अपने अपने दायरे म रहते ह। ग्वास निकट का सम्पर्क आता नही है, इसलिए न तनाव होता है न बिगाड।

परन्तु ऐसी स्थिति म भी एक दूसरे के प्रति जो शब्द प्रयोग होता है, उसमे तिरस्कार आर अनादर प्रकट होता है। बगाल म शहर के हिन्दू मुसलमानों क लिए 'मोछला' शब्द का अक्सर उपयोग करते हैं। पर हमारे गाँवो मे इस प्रकार का तिरस्कार कुछ कम देखने को मिलता ह। इस स्थिति म किसी कारण तनाव पैदा होता है तो समूहों मे एक-दूसरे के लिए अविश्वास बनता है। एक दूसरे के खिलाफ आरोप प्रत्यारोप को लेकर कानाफूसी चलने लगती है। खासकर बहुसंख्यकों की जमात म अल्पसंख्यकों क प्रति शक प्रकट होता है। उनके देश प्रेम पर सन्देह किया जाता है। भारत के मुसलमानो की अनुरक्ति पाकिस्तान के प्रति है इस प्रकार के आक्षेप सुनने को मिलते हैं।



ऐसी न इनकी अफवाह अशांति का बहुत बड़ा साधन होता है।

साथ साथ यह स्थिति पैदा होती है कि 'पराये' समूह के बारे मे एक पक्का पूर्वग्रह (दृढ़ धारणा) बन जाता है। इस कारण उस समूह का कोई भी व्यक्ति व्यक्ति के नाते इनके अपने समाज क लोगो को दिखाई नही देता बल्कि हरएक मनुष्य दृढ धारणा या पूर्वग्रह के साँचे में ढले हुए पुतले के जैसा एक सा दीखता है।

फिर दोनो म सामाजिक फासला बनता है। आपस म जो भी थोडा सा सामाजिक सम्बन्ध रहा होगा वह मिट जाता है। एक दूसरे के दूकान पर नहीं जाते। सड़क पर परिचित व्यक्ति दीखता है, तो उससे आँखें फेर लेते हैं।

तनाव जब अत्यधिक हो जाता है तब समूहो का भौगोलिक अलगाव भी हो जाता ह एक समूह की बस्ती के बीच म बसे हुए दूसरे जमात के लोग अपने समूह की बस्ती म चले जाते ह। परन्तु हमेशा इसके लिए मौका नही मिलता। कभी कभी उससे पहले ही हमला शुरू हो जाता है।

अल्पसंख्यकों के खिलाफ शिकायत होती है वे विदेशी राष्ट्र क दलाल आर जासूस समझे जाते ह। अन्यत्र घटी घटनाओ क लिए उन्ह जिम्मेदार समझा जाता है

यहाँ पाकिस्तान की घटनाओं की जिम्मेवारी मुसलमानों पर लादी जाती है। एक समय जर्मनी की दुर्दशा के लिए यहूदियों को जिम्मेवार समझा जाता था। परन्तु तनाव को अधिक तीव्र करने के अन्य मनोवैज्ञानिक कारण भी होते हैं।

'आलपोर्ट' ने निम्न कारण गिनाये हैं

१. 'अपने' समूह (बहुसंख्यकों का समूह) पर आर्थिक कठिनाई, प्रतिष्ठा की हानि, राजनीतिक घटनाओं से असन्तोष, बेकारी की आशंका आदि बाह्य परिस्थिति का दबाव होता है।

२ लोग अपनी सबर खो चुके होते हैं। उनको लगता है कि अब बेकारी, बढ़ती हुई कीमत, अपमान और अनिश्चितता को सहन नहीं कर सकेंगे। युक्तिहीन विचारों का आकर्षण बढ़ता है। लोग विज्ञान, लोकतन्त्र, स्वतन्त्रता आदि पर अविश्वास करने लगते हैं। वे मानते हैं कि जो ज्ञान बढ़ाता है, वह दुःख बढ़ाता है। कहने लगते हैं— 'बातूनी लोगों की मत सुनो', क्योंकि विचार देनेवालों को वे बातूनी मान लेते हैं।

३ लोग संगठित आन्दोलनों में शरीक होते हैं। पार्टी के लोग (जर्मनी), कू क्लक्स क्लैन (अमेरिका) आदि में शरीक होते हैं। जहाँ बाकायदा संगठन नहीं होता, वहाँ भीड़ संगठन का काम करती है।

४ ऐसे औपचारिक या अनौपचारिक संगठन से व्यक्ति को हिम्मत और सहारा मिलता है। वह देखता है कि उसके गुस्से को सामाजिक समर्थन मिल रहा है।

५ कोई-न-कोई घटना ऐसी घटती है, जो बारूद में आग लगाने का काम करती है। हो सकता है कि वह छोटी-सी घटना, जो सामान्य परिस्थिति में किसीके ध्यान में नहीं आती या वह बिल्कुल काल्पनिक भी हो सकती है या अफवाह के जरिये उसे बहुत बढ़ा चढ़ा स्वरूप मिला होता है।

६ फिर दंगा शुरू होता है, तो दूसरों को भी उसमें भाग लेते और उत्तेजित स्थिति में देखकर हरएक की अपनी उत्तेजना बढ़ती जाती है। आवेग बढ़ता जाता है, बाँध टूटता जाता है।

'आलपोर्ट' ने जो पृथक्करण किया है, वह राउरकेला आदि के दंगों में हूबहू देखने को मिला है। आर्थिक परिस्थिति, महँगाई आदि के कारण लोगों में जो असंतोष था, वह भी दंगे में प्रकट हुआ। लोग मुसलमानों की दुष्कृतियों को बताते हुए अक्सर सरकार पर भी उसकी कथित गलतियों तथा अन्यायों के कारण आक्रमण करते थे। सम्प्रदायवादी संगठनों का असर बढ़ रहा था। दंगे के समय भीड़ तो बिल्कुल संगठित रूप से काम करती थी। दो अफवाहों ने वहाँ आग लगाने का काम किया। एक यह थी कि ट्रेन से दंडकारण्य में बसाने के लिए भेजे जानेवाले बंगाली शरणार्थियों को स्टेशन पर एक मुसलमान ने रोटी में जहर मिलाकर खिला दिया है और उसे खाकर लोगों ने उल्टी की है, इत्यादि। शहर के लोग शरणार्थियों को भोजन आदि देते थे, उनमें मुसलमान भी थे। पर यह जहर देने की कहानी झूठी थी। दूसरी अफवाह यह थी कि मुसलमानों ने एक ग्वाले की हत्या की है। एक ग्वाले पर किसी

मुसलमान ने हमला किया था परन्तु पता नहीं चला कि क्या किया था। बड़े शहरों में व्यक्तिगत झगड़ों के कारण इस प्रकार की घटनाएँ होती रहती हैं और यह ग्वाला मरा भी नहीं था, अस्पताल में आकर अच्छा हो गया था।

इस तरह दंगों को बढ़ावा देने में अफवाहों का बड़ा हाथ होता है। इससे अन्य सम्प्रदाय 'पराये' समूह के प्रति द्वेष और गुस्सा बढ़ता जाता है। उनके दुष्कर्मों के बारे में कहानियाँ फैलती हैं। वे लोग ही षड्यन्त्र रच रहे हैं, हथियार इकट्ठा कर रहे हैं, ऐसी अफवाहें बहुत फैलती हैं। 'आल्पोर्ट' ने अमेरिका के अनुभव के आधार पर जो लिखा है, वह यहाँ के अनुभवों के साथ हूबहू मिल जाता है। यहाँ भी राउरकेला में तथा अन्यत्र अफवाह फैली कि मुसलमान रेडियो के जरिये पाकिस्तान को गुप्त समाचार भेज रहे हैं हिंदुओं पर हमला करने के लिए हथियार इकट्ठा कर रहे हैं आदि।

किसी जमात में तनाव को वहाँ फैलनेवाली अफवाहों से नापा जा सकता है।

किसी घटना के अतिरंजित वर्णन से या सरासर झूठी कहानी से किस प्रकार विस्फोट में मदद होती है, इसका नमूना हमने देखा है। कभी-कभी इस प्रकार की अफवाह ध्यान बूझकर फैलायी जाती हैं। परन्तु प्रायः वे अपने आप फलती-फूलती और फैलती जाती हैं। एक से दूसरे तक पहुँचने में उसमें कुछ न कुछ बदल होता जाता है। उसके उत्तेजक अंश पर रंग चढ़ता है और गौण लगनेवाले अंश छूट जाते हैं।

'अनुभवों का संगठन' अध्याय में हमने देखा है कि अपने उद्दीपनों में से हम चुनाव करते हैं, चुने हुए अंश पर भार देते हैं और फिर उसका अर्थ निकालते हैं। अफवाहों के सिलसिले में यह क्रिया बहुत साफ देखने को मिलती है। मन आवेश में होता है तो उस आवेश के अनुकूल बात ही ध्यान में आती है। कहीं दो व्यक्तियों में मारामारी हुई दोनों ने एक दूसरे को समान रूप से पछाड़ा और उनमें एक हिन्दू और दूसरा मुसलमान हो तो बाहर से देखनेवाले हिन्दू को दीखेगा कि मुसलमान ने हिन्दू को मारा और मुसलमान को दीखेगा कि हिन्दू ने मुसलमान को मारा।

राउरकेला के इर्द-गिर्द तीन हजार मुसलमानों की हत्या की गयी और उनके हाथ में मुश्किल से पाँच छह गैर-मुसलमान लोग मरे होंगे। परन्तु हिन्दू और सिखों के ध्यान में फिर यही बात आती थी कि मुसलमानों ने तीन-चार जगह बचाव के लिए गोली चलायी, तो क्या चलायी। इस बात की वे बराबर शिकायत करते थे।

फैलते फैलते अफवाह कैसे विकृत होती है उसका एक रोचक प्रयोग आसानी से किया जा सकता है। आठ-दस लोग खड़े हों। उनमें से प्रथम व्यक्ति को एक छोटे-से कागज पर लिखा हुआ एक सन्देश एक मिनट ध्यान से देखने के लिए दिया जाय। फिर वह उसे दूसरे व्यक्ति से कहे और कहने के बाद लिख डाले। दूसरा व्यक्ति तीसरे से कहे और फिर लिख डाले। इस तरह आखिरी व्यक्ति तक पहुँचते-पहुँचते उस सन्देश की अजीब सूरत हो गयी होती है। एक प्रयोग में यह सन्देश दिया

'नारायणभाई ने कहा कि उनके लड़के के स्कूल के हेडमास्टर बीमार हो गये हैं। इसलिए अगले सोमवार को परीक्षा नहीं होगी।'

यह जब आखिरी मनुष्य के पास से निकला, तो इसका स्वरूप निम्न प्रकार बन चुका था

'नारायणभाई ने कहा है कि उनका लड़का बीमार हो गया है। इसलिए हेडमास्टर ने यह समाचार भेजा है।'

दूसरी बात यह कि 'तैयारी' की अफवाह फैलती है। 'आज रात को मुसलमान हमला करेंगे।' इस तरह दूसरे समूह से अपने बचाव की तैयारी करनी है, हमें तैयार रहना है, यह धारणा फैलती है। दंगा शुरू करने तथा हत्या, लूटमार, आगजनी आदि के लिए कुछ लोग संगठित आयोजन करते हैं। राउरकेला तथा जमशेदपुर में तीन-चार दिन पहले से ही हिन्दू और सिखों ने कारखानों में हथियार बनाना और इकट्ठा करना शुरू किया था। परन्तु बाकी लोग भय से प्रेरित होते हैं। और उनके भय का ही सहारा लेकर बचाव के नाम पर उनको आक्रमण के लिए तैयार किया जाता है।

उत्तेजना के कारण वास्तविकता का दर्शन अधिक विकृत हो जाता है। पूर्वग्रह के कारण विकृति तो इसमें पहले से ही होती है। मुसलमान मोटर ट्रक तथा दूसरे वाहनों से निरापद आश्रय-स्थल पर भागते थे और दूसरों को यह दीखता था कि झुण्ड के झुण्ड मुसलमान हमला करने के लिए आ रहे हैं। ऐसी स्थिति में दृष्टिभ्रम भी होता है। जो वास्तव में नहीं है, वह भी प्रत्यक्ष दीखने लगता है। आलपोर्ट ने एक उदाहरण दिया है कि अमेरिका के 'डेट्रायेट' शहर में एक दंगे के समय पुलिस को किसी औरत ने टेलीफोन पर सन्देश दिया कि उसने एक नीग्रो-समूह को एक गोरे की हत्या करते हुए खुद देखा है। पुलिस दौड़कर वहाँ पहुँची तो वहाँ कुछ भी नहीं था, सिर्फ कुछ छोटी लड़कियाँ खेल रही थीं।

हमारे देश में दूसरे एक प्रकार के हंगामे सरकार के खिलाफ होते हैं। इनका स्वरूप कभी संगठित, तो कभी असंगठित होता है। जहाँ किसी उद्देश्य को लेकर सरकार के खिलाफ प्रदर्शन, प्रत्यक्ष प्रतिकार आदि का आयोजन संगठित रूप से किया जाता है, वहाँ यद्यपि 'शान्तिपूर्ण', 'सत्याग्रह' शब्दों का उच्चारण किया जाता है, फिर भी साथ-साथ यह भी कहा जाता है कि अगर अशांति हुई तो उसकी जिम्मेवारी सरकार पर होगी। सरकार ने इतना अन्याय किया है कि लोग सब्र खो चुके हैं इत्यादि। इसका असर लोगों में शान्ति की भावना को ढीला करने में होता है।

करीब-करीब सब पक्षों में ऐसे नेता होते हैं, जो चाहते हैं कि पुलिस की ओर से गोली चले, लाठी चले, ताकि उत्तेजना बढ़े और आन्दोलन जोर पकड़े। इसलिए वे जान बूझकर ऐसी परिस्थिति पैदा करने की कोशिश करते हैं। कुछ पक्षों की विचारधारा और व्यूह-रचना में यह विचार बाकायदा गृहीत है।

अक्सर किसी एक ध्येय को लेकर आन्दोलन चलता है, परन्तु उसमें लोगों का सर्व-

सामान्य असन्तोष भी जुडता है। इसके लिए बाकायदा प्रचार भी होता है। अफवाहे फैलायी जाती है और इस तरह से जिन लोगो का उस ध्येय से कोइ वास्ता नहीं, वे भी उस आन्दोलन म जुट जाते हैं।

मद्रास मे हिन्दी के खिलाफ आन्दोलन हुआ तो उसका प्रकट ध्येय तो था 'अग्रजी भारत की सरकारी भाषा बनी रहे' किन्तु सामान्य जनता म यह प्रचार हुआ था कि हिन्दी तमिल का स्थान लेगी। हिन्दी के कारण तमिल भाषा खतरे में है।

अफवाहों के कारण लोगो म आवेश बढता है और वह आवेश अपने आप हिंसक दगो के रूप म फूट निकलता है या पुलिस के किसी कृत्य के कारण चलनेवाले असगठित आन्दोलन म किसी छोटी सी बात को लेकर जनता म आवेश पैदा होता है।

कई बार पुलिस आफिसर या मजिस्ट्रेट यह जानते नहीं कि बडी भीड के साथ किस प्रकार व्यवहार किया जाय। जरा सी बात से घबरा जाते हैं और भीड को छितराने के लिए लाठी, अश्रु गैस या गोली चलाने का आदेश दे देते है।

राजनैतिक अशान्ति के समय धारा १४४ का प्रयोग भी अदूरदर्शी कदम साबित होता है। जहाँ लोग सरकार के खिलाफ प्रदर्शन और कानून भग करने पर तुले हुए हो वहाँ धारा १४४ लगाने से वह उनको उत्तेजित करने का एक बडा कारण बनता है और तोडने के लिए एक आसान चीज लोगो को मिल जाती है। फिर पुलिस और मैजिस्ट्रेटों को कानून की रक्षा करनी पडती है। जो जुलूस या भीड सिर्फ हल्ला-गुल्ला करके ही शान्त हो जाती कानून की रक्षा के निमित्त उस भीड को तोडने के लिए उन्हे मजबूर होना पडता है और सघर्ष खडा होता है।

इस भीड की मनोवृत्ति से तथा उसे उभाडने के साधनो से लोगो को कैसे बचाया जाय?

प्रतिकार के उपायो के दो प्रकार हो सकते है। एक, दीर्घकालीन उपाय तथा दूसरा तुरन्त का यानी तात्कालिक उपाय।

कहीं भीड इकट्ठी हुई हो और कोई उपद्रव करने पर तुली हुई हो तो उसके सामने हमे तात्कालिक उपाय काम में लेना पडेगा। इसका कोइ बना बनाया तरीका नहीं है कि यह बताया जा सके कि फलाँ परिस्थिति में फलाँ पन्ने पर लिखा फलाँ नम्बर का उपाय काम म लायेंगे तो काम बन जायगा। इसम तो प्रतिभा और सूझ बूझ की आवश्यकता है फिर भी उपर्युक्त विवेचन तथा अनुभव से कुछ मोटे सिद्धान्त सुझाये जा सकते है

१ कइ परिस्थितिया तो केवल अफवाहों के कारण पैदा होती हैं। उनका खण्डन दृढतापूर्वक किया जाना चाहिए। इसके लिए वास्तविक घटना की जाँच-पडताल भी कर लेना आवश्यक होगा। जब गाधीजी की हत्या हुई तो समाचार सुनकर बिड़ला भवन के सामने अपार भीड जमा हो रही थी। उस भीड म यह अफवाह फैल रही थी कि किसी मुसल्मान ने उनकी हत्या की है। लॉर्ड माउण्टबेटन बिड़ला भवन आ

थे, तो उनके कानों में यह फुसफुसाहट पड़ी। उन्होंने वहीं तुरन्त ही कह दिया कि 'नहीं, उनको तो हिन्दू ने मारा है।' यद्यपि तब तक उन्हें हत्याकाण्ड की निश्चित जानकारी नहीं थी, फिर भी अफवाह का खण्डन करना उन्होंने जरूरी समझा। वे ऐसा न करते, तो उसमें से आग भभक उठती।

२ जनता की भावना में यदि कुछ यथार्थ अंश हो, तो उसे स्वीकार करके जनता के साथ एकरूप होना, फिर उसके गलत विचारों का सोच-समझकर खण्डन करना तथा उसे ठीक-ठीक मार्गदर्शन देना होगा।

लोग जिसको 'अपना' मानते हैं, वे उसीकी सुनते हैं 'पराये' की नहीं। यह अपनापन जाति, धर्म, भाषा, वर्ग आदि के कारण हो सकता है या उस समय की भावना के कारण हो सकता है। असम में—दूसरे प्रान्तों की तरह—अपने प्रान्त तथा भाषा के प्रति प्रीति है। बंगला-विरोधी दंगों के बाद जब विनोबाजी वहाँ पहुँचे, तब उन्होंने उस प्रीति की सराहना की, फिर उसके बाद उसकी संकीर्णता की आलोचना की। गांधीजी हिन्दू होने के नाते हिन्दू-धर्म की जितनी टीका हिन्दुओं के गले उतार सके, उतना कोई अहिन्दू आसानी से नहीं कर पाता। इसलिए गांधीजी 'सब धर्मों' का अनुयायी बनने की कोशिश करते थे। यदि वे कहते कि 'मैं किसी धर्म का नहीं हूँ', तो शायद उनकी आवाज उतनी नहीं सुनी जाती। सम्भव है, धर्म, जाति, भाषा आदि भेदों को काटनेवाली दूसरी भावनाएँ भी रही हों। राष्ट्रीय आन्दोलन के जमाने में एण्ड्रूज, मीराबेन, पीयरसन, रेनल्ड्स आदि अंग्रेज हमारे पक्ष में थे, इसलिए वे पराये नहीं माने गये। हमने उन्हें अपना माना। कई भारतीय लोग स्वराज्य के पक्ष में नहीं थे, इसलिए पराये माने गये।

यह आवश्यक है कि सेवक जनता की भावना की कदर कर सके, पर खुद उसका शिकार न बन जाय। किसी भी मनुष्य की भावना तथा विचार का सूत्र पकड़कर ही हम उसके दिल व दिमाग में पहुँच सकते हैं। पागल को सँभालना होता है, तो उसको कोरे ज्ञान का उपदेश देने से काम नहीं बनता। वह मानता है कि मैं हिन्दुस्तान का बादशाह हूँ और इन सबने मेरा राज्य छीन लिया है, तो उससे यों कहना पड़ेगा कि 'आइए जहाँपनाह! इधर आपके लिए मसनद लगायी गयी है, उस पर तशरीफ रखिए।' फिर आप उसका दीर्घकालीन उपाय कर सकेंगे। छोटा मुन्ना कभी अपने को अशोक भैया के साथ एकरूप मानकर अशोक भैया बन जाता है, तो उससे कहना पड़ता है, 'अशोक भैया, अब पोशाक उतारकर नहाइयेगा, अशोक भैया, अब यों चम्मच से खाना खाइएगा।'

राउरकेला में एक भीड़ वहाँ के इंजीनियरिंग कॉलेज के अध्यक्ष के पास पहुँची और माँग की कि वहाँ के मुसलमान कर्मचारी गद्दार हैं, जासूस हैं, उनको निकाल दिया जाय, हम उनकी हत्या करेंगे। अध्यक्ष ने समझाया कि 'ठीक है, मैं भी चाहता हूँ कि गद्दार और जासूस पकड़े जायँ तथा उनको कड़ी सजा मिले। परन्तु उन्हें आप लोग मार डालेंगे तो क्या होगा? उनके पास कई गुप्त तथ्य हैं, जो सरकार को मालूम

होने चाहिए। मैं उनको पुलिस के जिम्मे कर दूँगा। पुलिस उनकी ठीक खबर लेगी। आखिर जनता परास्त होकर लौट गयी।

३ जहाँ जनता बिल्कुल आवेश में आ गयी हो, वहाँ उसके साथ तादात्म्य हासिल करके, फिर धीरे धीरे हँसी मजाक के द्वारा उसका ध्यान दूसरी ओर मोड़ सकते हैं या वह जो उपद्रव करने जा रही थी, उसका बेहूदापन या अव्यवहार्यता का भान करा सकते हैं।

जब गाधीजी हिन्दुस्तान से लौटकर अपने बाल बच्चों के साथ दक्षिण अफ्रीका पहुँचे तो हिन्दुस्तान में वहाँ के भारतीयों की दुर्दशा के बारे में जो प्रचार उन्होंने किया था, उसके समाचार से चिढ़कर, हजारों गोरे उन्हें मारने के लिए बन्दरगाह पर पहुँचे। गाधीजी तो जैसे-तैसे जहाज से उतरकर पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट की पत्नी के साथ थाने तक आ पहुँचे, फिर आगे बढ़ना असम्भव था, तो पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट मिस्टर अलेक्ज़ेण्डर ने गाने गाकर तथा हँसी मजाक करके जनता का ध्यान अपनी ओर बनाये रखा। उधर गाधीजी पीछे के दरवाजे से चले गये।

बगाल के सब डिवीजनल अफसर एक गाँव में हगामे की सूचना पाकर वहाँ कुछ सज्जनों को लेकर पहुँचे। पुलिस उनके पास काफी नहीं थी। इसलिए सिर्फ सादी पोशाक में एक सब इन्स्पेक्टर को उन्होंने साथ लिया और अधिक लोगों को नहीं। उस गाँव के मुसलमान जगल में भाग चुके थे। लोग जगल में जाकर उन्हें मारने के लिए तीर धनुष आदि लिये इकट्ठे हो रहे थे।

एस डी ओ के साथ वहाँ के भूतपूर्व राजा के भाई थे। वे कई लोगों को नाम से पहचानते थे। उन्होंने नाम लेकर पुकारा, तो कुछ लोग भीड़ से निकल आये। फिर उनसे कुशल प्रश्न पूछे और इकट्ठा होने का कारण पूछा, तो लोगों ने कहा खरगोश मारने के लिए 'खरगोश कहाँ हैं?' 'जगल में भाग गये हैं' लोगों ने हँसकर जवाब दिया। फिर एस डी ओ ने कहा आप लोग बड़े बहादुर हैं। तीर धनुष चलाना जानते हैं। हम कलम चलानेवाले हैं। हमें इन सबसे बड़ा डर लगता है। यह सब जरा रख दो फिर आओ बैठें, बात करें। हमें भूख भी लगी है। बड़ी देर हो गयी है।'

इस तरह सहज कुशलता से उन्होंने तीन विलक्षण काम किये। एक कुछ लोगों के नाम लेकर उन्होंने भीड़ को 'व्यक्तियों के समूह' में बदल दिया। इससे सामूहिक आवेश का सम्मोहन हटने में मदद हुई दूसरा, उन्होंने उनकी सराहना करके तादात्म्य हासिल किया और तीसरा—आतिथ्य की बात निकालकर ध्यान दूसरी ओर मोड़ दिया। फिर लोगों के साथ बातचीत हुई लोगों को हिंसाकाण्ड के खिलाफ समझाया और आखिर उन्हीं लोगों ने मुसलमानों को गाँव में वापस बुलाया और सुरक्षित रखा।

४ द्वेष भावना को कोई अपेक्षाकृत निर्दोष मार्ग दिया जा सकता है। स्वराज्य के आन्दोलन के दिनों में अंग्रेजों के लिए लोगों में बेहद द्वेष था और उसे दबे

को बाहर निकालकर खतम होने दिये बिना लोगों की छिपी हुई सद्भावनाएँ बाहर नहीं निकल सकती थीं। तो गांधीजी ने इस रोष को विलायती कपड़े की ओर मोड़ा। लोगों ने खूब मजे में विदेशी कपड़ा जलाना शुरू किया। श्री एण्ड्रूज ने इसकी टीका की और कहा कि आप द्वेष उभाड़ रहे हैं। गांधीजी ने जवाब में लिखा था कि 'मैं अन्दर छिपी हुई असद्भावना को बाहर प्रकट करवाकर खतम कर रहा हूँ। अगर मैं विलायती कपड़े जलाने की इजाजत न दूँ तो लोग विलायती मनुष्य जलाने लग जायेंगे।'

राजनैतिक आन्दोलनों के समय शान्ति रखने के लिए नेताओं से मिलकर शान्ति के महत्त्व पर जोर देने से अच्छा परिणाम होता है। महागुजरात-आन्दोलन के समय बड़ोदा में शान्ति सैनिकों ने ऐसा ही किया और उसका अच्छा परिणाम आया। नेताओं में शान्ति का महत्त्व समझनेवाले कुछ लोग होते हैं और कुछ लोग उसकी उतनी परवाह नहीं करते। उनके अपने समूह में जहाँ संघर्ष का वातावरण होता है, वहाँ शान्ति की बात कमजोरी का लक्षण समझी जाती है। बाहर से कोई उस पर भार देता है, तो शान्ति के समर्थकों को बल मिलता है।

साथ-साथ अखबार, प्रचार-पत्र आदि के सहारे, प्रभातफेरी तथा जुलूस के द्वारा शान्ति का प्रचार किया जा सकता है।

जहाँ भीड़ और पुलिस एक-दूसरे के आमने सामने संघर्ष पर तुले हुए हों, वहाँ कोई शान्त-बुद्धि और सूझ-बूझवाला मनुष्य पहुँचता है, तो परिस्थिति को सँभाल सकता है। मद्रास में हिन्दी विरोधी आन्दोलन के समय विरुधुनगर में विद्यार्थियों का जुलूस और पुलिस आमने-सामने थी। धारा १४४ जारी की गयी थी। इतने में एक शान्ति-सैनिक वहाँ पहुँचा और उसने विद्यार्थियों को राजी किया कि वे छोटे-छोटे दलों में, बिना नारे लगाये, उस रास्ते को पार करेंगे, और पुलिस को भी उसमें बाधा न देने के लिए राजी कर लिया। परिस्थिति सँभल गयी।

दूसरे एक शहर में पुलिस ने कुछ विद्यार्थियों को पीटा था, इसलिए दो-तीन सौ की एक भीड़ डंडे लेकर पुलिस को पीटने पर आमादा थी। पुलिस की टुकड़ी भी बन्दूक लेकर तैयार थी। इस समय संयोग से एक सज्जन वहाँ मोटर से गुजर रहे थे। उन्होंने दोनों के बीच मोटर रोक दी। दोनों को समझा-बुझाकर शान्त किया। फिर विद्यार्थियों को जो पीटा गया था, उसके लिए पुलिस के अधिकारी के द्वारा लोगों के सामने खेद प्रकट करवाया और परिस्थिति शान्त हुई।

जहाँ भीड़ उत्तेजित स्थिति में होती है और कुछ करने पर तुली हुई होती है, वहाँ कोई मनुष्य शान्तभाव से सामने आता है, शान्ति से लोगों की बात समझना चाहता है और अपनी बात समझाता है, तो उसका अच्छा परिणाम होता है।

इस प्रकार तात्कालिक परिस्थिति को देखते हुए अपनी सूझ के अनुसार कोई उपाय काम में लेना होता है।

परन्तु दीर्घकालीन प्रतिकार का महत्त्व इससे अधिक है। इसमें मुख्य प्रयत्न होगा तनावों के कारणों को दूर करना। तनावों के मुख्य कारण आर्थिक सामाजिक या राजनैतिक परिस्थिति में निहित होते हैं। आर्थिक परिस्थिति बिगड़ने के कारण बेकारी महँगाई आदि बढ़ी हो तो उसमें कारण सहज ही निष्फलता के अनुभव तथा तनाव पैदा होते हैं। तरह तरह के भेदभाव के कारण जमातों में एक दूसरे के बारे में जो पूर्वग्रह होते हैं, उनकी चर्चा विस्तार से की गयी है। अन्य कारणों से तनाव बढ़ता है तो अल्पसंख्यक जमात को बलि का बकरा बनाने की संभावना रहती है। इसके विपरीत भेदभाव के कारण दबी हुई जमातों में जागृति आती है और उनकी ओर से अपने अधिकारों की माँग पैदा होती है, तो उनकी ओर से हंगामे हो सकते हैं। जैसे अमेरिका के नीग्रो लोगों में हुए हैं।

राजनैतिक परवशता के खिलाफ बलवे तो हुआ ही करते हैं। परन्तु किसी देश के किसी भाग की अपनी विशेष राजनैतिक आकांक्षाएँ हों, तो उसके कारण भी अशांति होती है। जैसे अपने देश में भाषावार प्रान्त-रचना को लेकर हुई थी या नागा तथा मिजो लोगों ने आजादी के नाम पर की है।

तनाव का एक बड़ा कारण इस जमाने में घटनेवाले तेज परिवर्तन भी हैं। परिवर्तन के कारण समाज व्यवस्था के विविध हिस्सों में परस्पर सामंजस्य टूट जाता है। शहरों में उद्योग धंधे बढ़े, जनसंख्या बढ़ी परन्तु उस अनुपात में मकान नहीं बढ़े। इससे मकान का किराया बढ़ा उनमें भीड़ बढ़ी। फिर भी लोग सड़कों पर रहने को मजबूर हुए। तो यह तनाव का एक आरम्भ बिन्दु बना।

देशी रियासतें खतम हुईं। स्वाभाविक अपेक्षा यह थी कि मनमाने शासन से मुक्ति मिलने के कारण लोगों को खुशी होगी। परन्तु लोगों में असन्तोष पैदा हुआ। देशी रियासत के शासक अत्याचार करते थे तो लोगों के निकट सम्पर्क में रहकर शासन की कुछ जिम्मेवारियाँ निभाते भी थे। लोगों को जल्दी फैसला मिल जाता था। इसकी जगह लेनेवाली नयी व्यवस्था रियासतों के विलयन के साथ साथ खड़ी नहीं हुई। तो लोगों को कठिनाई हुई और उसके कारण तनाव पैदा हुआ।

राउरकेला भिलाई दुर्गापुर जैसे नये नये उद्योग नगरों में रोजी के लिए दूर दूर से लोग आकर बसे। वहाँ सब कुछ नया था। पड़ोस के लोग भी अपरिचित विभिन्न बोली बोलनेवाले। किसी समस्या का हल करना हो डॉक्टर बुलाना हो बरसात में पानी चूने के कारण छत की दुरुस्ती करनी हो या लड़की के लिए वर ढूँढना हो तो इन सबका अपने पुश्तैनी निवास स्थान में जाना माना एक निश्चित तरीका था। परन्तु यहाँ तो सब नया। कैसे क्या करें! आसानी से समझ में नहीं आता और तनाव पैदा होता है।

इस प्रकार आज के त्वरित परिवर्तन से पैदा होनेवाले असमंजस और तनाव के सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं। जहाँ हजारों या लाखों लोग उसके शिकार बनते हैं वहाँ उसका असर व्यापक पैमाने पर प्रकट हो सकता है।

हमने 'विरोध और उसका निरसन' नामक अध्याय में देखा है कि कुछ लोगों का व्यक्तित्व इस प्रकार का बन जाता है कि उनमें असहिष्णुता, कटुता तथा द्वेष की मात्रा बहुत अधिक होती है। बचपन के अनुभव, परिवार की स्थिति तथा संस्कार आदि से इस प्रकार का व्यक्तित्व बनता है। ऐसे लोग असहिष्णुता तथा द्वेष पर आधारित आन्दोलनों में आगे आते हैं और हंगामों में इनको अपनी तीव्र भावनाएँ प्रकट करने का विशेष अवसर मिलता है।

इन दिनों भारत में विद्यार्थियों में काफी चहल पहल है और कई आन्दोलन तथा हंगामों में विद्यार्थियों का विशेष स्थान रहा है। इनके अलावा कलकत्ता तथा और जगह इन दिनों जो दंगे होते हैं, उनमें पाया जाता है कि बारह-पन्द्रह साल की उम्र के लड़के तोड़-फोड़, आगजनी आदि में आगे रहते हैं। दूसरे देशों में, खास करके अमेरिका, इंग्लैण्ड आदि समृद्ध देशों में भी किशोर या 'टीनएजर्स' का सवाल खड़ा हुआ है। ऐसे किशोरों की टोलियाँ आपस में दंगे करती हैं। सामान्य नागरिकों पर बिना कारण आक्रमण कर बैठती हैं। मारपीट, लूट, आगजनी आदि करती हैं। इस तनाव के कारण ढूँढने के प्रयत्न चल रहे हैं। लगता है कि उसके कई कारण हैं। एक मुख्य कारण तो यह है कि परिवार का बन्धन ढीला होने के कारण कई बालकों को बचपन में आवश्यक सही परवरिश और संस्कार मिलता नहीं। माँ-बाप तलाक देकर अलग हो जाते हैं, तो बीच में छोटे बच्चों पर मुसीबत आ पड़ती है। माँ-बाप दोनों मजदूरी करते हैं, तो बच्चों के प्रति पर्याप्त ध्यान नहीं दे पाते। फिर कई माँ-बाप बच्चों में बिलकुल पुराने ढंग का संस्कार डालने की कोशिश करते हैं, तो असफल होते हैं, क्योंकि पुराना ढंग चलता नहीं और नया ढंग सूझता नहीं। तो कोई संस्कार ही नहीं दे पाते।

इस प्रकार तनाव के जो मूल कारण परिवार, अर्थ रचना, राजनैतिक परिस्थिति या सामाजिक सन्दर्भ में निहित हैं, उनको हटाने के प्रयत्नों से ही तनाव दूर होंगे। इन सबके उपायों की चर्चा इस अध्याय या इस पुस्तक की मर्यादा से बाहर है। लेकिन यहाँ तो इतना कह सकते हैं कि समस्याओं के हल के लिए भी शान्ति की जरूरत होती है। उनमें उलझे हुए लोगों का सहकार भी उनके हल के लिए आवश्यक होता है। इन लोगों को आवेश का शिकार बनने से बचाया जा सकेगा, तो ही वे शान्तिपूर्ण तरीका से समस्या के हल में मदद कर सकेंगे। इसलिए एक तरफ उनको विधायक शान्तिपूर्ण मार्ग बताने के साथ साथ दूसरी ओर अशान्ति की व्यर्थता समझाने की जरूरत होगी।

अपनी परिस्थिति के कारण लोगों में तनाव होते हैं और कुछ कर बैठने की तैयारी होती है। अक्सर कोई-न-कोई पक्ष या गुट अपना राजनैतिक या अन्य प्रकार का उद्देश्य साधने के लिए उसका फायदा उठाते हैं। लोगों को इस तथ्य का भान कराना चाहिए। इसका भान होने पर बहकावे में आने की संभावना कम होगी।

यह स्पष्ट है कि जिन उपायों से गलत विचारों का प्रचार होता है, उन तरीकों से

सत्य तथा शान्ति की स्थापना कदापि नहीं हो सकती। उपाय को स्थूल साधन हम न समझें। रेडियो, सिनेमा, अखबार, किताब, माइक आदि के उपयोग से यहाँ मतलब नहीं है। प्रापेगेण्डा या प्रचार का सर्वप्रथम उपाय यह है कि बुद्धि के विरुद्ध भावना को उत्तेजित किया जाय। भावना के आवेश से बुद्धि को दबाया जाय। सत्य तथा शान्ति क्षोभ-रहित बुद्धि के उत्कर्ष से ही पनप सकती है, इसलिए हमें विचारों की बुद्धिग्राह्यता पर जोर देना पड़ेगा। किसी प्रश्न के दोनों पहलुओं को लोग समझें, तौल तथा उसम से अपने निर्णय पर पहुँचे, इस पर हम जोर देना पड़ेगा। अपने सर्वोदय विचार के प्रचार में भी हम मताग्रह न बनें। दूसरे विचारों का अध्ययन तथा विवेचन करने के लिए भी लोगों को हम उत्साहित करें तथा हम खुद भी वैसा करें।

प्रोपेगेण्डा किस तरह से किया जाता है, यह हम अच्छी तरह समझ लें तथा लोगों को भी इसका भेद बतायें। संकीर्ण मतवादों की ओर से जो प्रचार होता है, उसका विश्लेषण लोगों के सामने रखें।

बुद्धि पर भार देने के साथ साथ भावना को भी हाथ में लेना चाहिए। मनुष्य भावना के बिना जी ही नहीं सकता। इसलिए जो भावनाओं या वृत्तियों के उत्कर्ष की अवहेलना करके सिर्फ बुद्धि (इन्टेलेक्ट) के उत्कर्ष के पीछे पड़ते हैं, उनकी भावनाएँ लुप्त होती हैं, ऐसा नहीं। वे तो अक्सर तुच्छ विषयों में चिपक जाती हैं, असामाजिक स्वरूप ले लेती हैं। प्रो॰ हडसन मरगान' ने एक जगह कहा है कि भावना मनुष्य की प्रेरक शक्ति तथा बुद्धि मार्ग दर्शक होती है। जैसे नाव को पाल की हवा चलाती है और सुकान से उसे मोड़ा जाता है या मोटर का इंजन और स्टीयरिंग जैसे काम करते हैं वैसे ही मनुष्य की ये दोनों शक्तियाँ हैं। इसलिए भावना तथा बुद्धि का विरोध नहीं, सामञ्जस्य होना चाहिए। यदि हम बुद्धि के खिलाफ चलनेवाली निषेधात्मक (निगेटिव) भावनाओं को दूर करना चाहते हैं तो बुद्धि का साथ देनेवाली विधायक (पॉजिटिव) भावनाओं के उत्कर्ष के लिए प्रयत्न करना होगा।

इस प्रकार की विधायक (पॉजिटिव) भावनाएँ मुख्यतः ये हैं—प्रेम, करुणा तथा पराक्रम। हमने पहले ही देखा है कि मनुष्य के हृदय में अपने भाई, बहन, पत्नी तथा बाल-बच्चों के लिए जो प्रेम होता है उसका जीवन में कितना बड़ा स्थान है। सन्त महात्माओं का विश्व प्रेम इससे कहीं अधिक व्यापक और विशाल चीज है। पर मूल स्वभाव में इस मानवीय प्रेम से वह कोई अलग वस्तु नहीं है। इसीका व्यापक तथा उदात्त स्वरूप वह है। इसलिए आवश्यकता उस स्वाभाविक प्रेम को मोह कहकर उखाड़ने की नहीं वरन् उसे अधिक व्यापक बनाने की है।

करुणा प्रेम के साथ जुड़ी हुई वृत्ति है। उसमें अपार प्रेरक शक्ति है। उससे प्रेम को गति मिलती है।

हमारे देश में पराक्रम का निषेध बहुत हुआ है और आज की अव्यवस्थित अर्थ व्यवस्था में करोड़ों लोगों को अपनी रोजी कमाने के लिए पराक्रम करने का अवसर भी नहीं मिल रहा है। अपराध निराकरण के सिलसिले में पराक्रम पर हमने कुछ विवेचन

किया है। इसके लिए समाजोपयोगी मार्ग मिलते हैं, तो फिर दंगा, फसाद आदि में कुछ नये पराक्रम करने की जो उत्तेजना होती है, वह घट जाती है या मिट जाती है।

भीड़ में तादात्म्य का जो अनुभव होता है, वह बहुत ही महत्त्व का है। मनुष्य में अपने से बाहर निकलकर एक विराट् अस्तित्व में मिलने के लिए जो भूख है, वह इसमें शान्त होती है। यह तो साहित्यिक या दार्शनिक भाषा हुई मनोविज्ञान के अनुसार उसमें 'ग्रीगेरियसनेस' यानी दूसरों के साथ इकट्ठा रहने की वृत्ति होती है। इसके लिए बुद्धियुक्त तथा हितकर मार्ग अपनाना चाहिए। जहाँ समाज का जीवन छिन्न भिन्न हो गया हो, जैसे आधुनिक शहरों में वहीं भीड़ की वृत्ति तेजी से भटकती दीखती है। लोग साथ मिलकर काम करें, खेलें, इस प्रकार के समूह जीवन की रचना की जा सकेगी, तो लोगों को उसमें सार्थकता का अनुभव होगा। फिर संगीत, नृत्य, वाद्य, कवायद आदि का उपयोग भी विधायक (पॉजिटिव) भावनाओं के उत्कर्ष के लिए किया जाना चाहिए। मनुष्यों में इनकी भूख होती है और भावनात्मक जीवन के उत्कर्ष के लिए इनकी आवश्यकता भी है, पर शहरों में तथा आज के दरिद्र जीवन में इनके लिए कम गुंजाइश होती है। फिर कई प्रकार के नीतिवादी लोग इनका निषेध भी करते हैं। इनका ठीक-ठीक अवसर तथा उपयोग जीवन में हो, तो दुरुपयोग का विरोध करना आसान होगा।

जैसा मैंने शुरू में ही कहा था और बार बार कहता आया हूँ, विज्ञान कोई सम्पूर्ण और बना-बनाया शास्त्र नहीं है। अपूर्णता में ही उसकी महानता है। मनोविज्ञान के लिए भी यही बात लागू है। भीड़ के बारे में हमने जो कुछ विवेचन किया, वह अत्यन्त अधूरा है और उसमें जगह-जगह ज्ञान की कमी के गड्ढे दिखाई देते हैं। हम काम करते-करते नये ज्ञान प्राप्त करने का भी प्रयत्न करेंगे और इस तरह इन गड्ढों को भरने में मदद करेंगे। इसके लिए हमें उत्साह मिले, इस आशा से मैंने यह आपके सामने प्रस्तुत किया है।

o

अपराध क्यों ? : २५ :

पुराने जमाने में अपराधी तथा पागल आदि अस्वाभाविक मनुष्यों के प्रति एक तरह के अत्यधिक भय की भावना थी। लोगों को लगता था कि इनके कारण समाज की सारी व्यवस्था टूट जायगी। इसलिए इनसे बहुत सख्ती से बरता जाता था। बीमारों के प्रति भी उसी प्रकार की दृष्टि थी। इन पर कोई भूत चढ़ गया है और मार-पीट आदि से उसे भगाना चाहिए, ऐसी लोगों की धारणा थी।

पुराने जमाने में कई प्रकार के क्रूर दण्ड की व्यवस्था थी, यह हमारे शास्त्रों में भी पाया जाता है। चोर का हाथ काट डालना, ब्राह्मण को गाली देनेवाले की जीभ काट लेना, कान में गर्म सीसा डालना, सूली पर चढ़ाना आदि विभिन्न प्रकार के

दण्ड उनमें पाये जाते हैं। काफी आधुनिक जमाने तक, कहीं कहीं ये चलते थे। सौ साल पहले भी इंग्लैण्ड में छोटी छोटी चोरियों के लिए भी फाँसी की सजा दी जाती थी। डेढ सौ साल पहले वहाँ एक सात साल के लड़के को फाँसी की सजा हुई, यह सरकारी कागजों में पाया जाता है। इसका अपराध यह था कि उसने एक मकान में आग लगा दी थी।

धीरे धीरे मानवता की दृष्टि से क्रूरता का विरोध होने लगा। सजा की कठोरता कम करने की कोशिश हुई। फिर इसमें विज्ञान की दृष्टि भी आयी। यह धारणा ढीली हुई कि 'मानव समाज को भगवान् ने बनाया है और उसमें राजा रंक का जो प्रभेद है वह कभी मिट नहीं सकता। मनुष्य की करनी उसके भाग्य के अनुसार होती है,' —और तब अपराध के सामाजिक कारणों की ओर दृष्टि गयी। सामाजिक परिस्थिति किस प्रकार मनुष्यों के आचरण को नियन्त्रित करती है, यह मार्क्स आदि ने दिखाया। फिर अपराध किसको कहें, यह भी विचार का एक विषय बना। क्रान्तिकारियों ने समाज व्यवस्था का विश्लेषण करके बताया कि कई प्रकार के कामों को तो समाज के विशेष वर्ग के हितों की रक्षा के लिए ही अपराध करार दिया जाता है।

अब तो हम मानते हैं कि दारिद्र्य के कारण मनुष्य कई अपराध करता है। सिर्फ चोरी या डाका नहीं, दारिद्र्य के कारण मन में जो तनाव होता है, उससे भी ये झगड़ालू बनते हैं, नशा करते हैं और फिर उससे दूसरे अपराधों की ओर प्रेरित होते हैं। लेकिन सिर्फ दारिद्र्य से अपराध बढ़ता है, ऐसा नहीं है। कई समाज ऐसे हैं, जहाँ दारिद्र्य के होते हुए भी दूसरे अधिक सम्पन्न समाजों से कम अपराध होते हैं। इसीलिए दारिद्र्य अपराध का एक कारण भले हो, पर प्रधान कारण नहीं कहा जा सकता।

मनोविज्ञान की दृष्टि से पहले माना जाता था कि अपराध वृत्ति आनुवंशिक होती है। 'लोम्ब्रोसो' इस मत का प्रधान प्रवक्ता था। उसने चेहरे से अपराध वृत्ति पहचानने का एक शास्त्र भी रचा था। पर यह गलत साबित हुआ। जीव विज्ञान की खोजों से प्रतिपादित हुआ कि अपराध जैसे दोष या संगीत, कला, साहित्यिक शक्ति जैसे गुण आनुवंशिक नहीं होते।

फिर मनोविज्ञान में अचेतन मन का आविष्कार हुआ और मानसिक विकृतियों का उपचार किया जाने लगा। उसके साथ साथ अपराधों पर भी दृष्टि गयी और उनके बारे में भी मनोवैज्ञानिक खोज होने लगी। इन खोजों से साबित हुआ कि कई प्रकार के अपराध मानसिक विकार के कारण ही किये जाते हैं। सारे यौन अपराध तो *मानसिक विकृति के ही परिणाम होते हैं, ऐसा कहा जा सकता है।* कुछ अपराधी ऐसे होते हैं जो किसी स्त्री पर अत्याचार करने के बाद उसे मार डालते हैं। कुछ लोग एक प्रकार के आनन्द के लिए ही हत्याएँ करते हैं। ये सारे मानसिक विकार के स्पष्ट परिणाम हैं। पर दूसरे अपराध भी मानसिक विकार के कारण किये जाते हैं। चोरी, आग लगाना आदि कुछ अपराध मानसिक कारणों से ही

है। सामान्यतया यह कहा जाता है कि मनुष्य को बचपन में परिवार में या बाद में समाज में कुछ ऐसी चोट लगी होती है, जिसके कारण वह बागी बन जाता है। उसे लगता है कि ठीक है, मेरे साथ समाज ने अन्याय किया है, तो मैं उसकी परवाह क्या करूँ ? इन सब खोजों के कारण अपराध के बारे में सभ्य समाज की दृष्टि धीरे-धीरे बदली है। अब ख्याल में आने लगा है कि अपराधी को दुष्ट समझने तथा उससे भयभीत होने के बदले उस पर दया आनी चाहिए।

पहले दण्ड पर जो जोर था, वह अब कम हुआ है। और यह दृष्टि स्वीकृत हो रही है कि जेल अब दण्ड का स्थान नहीं, अपराधी को समाज से अलग रखने का तथा सुधारने का स्थान है, इसलिए जेलखानों के अमानवीय तथा कड़े नियमों को कम किया गया है। उनमें शिक्षण की व्यवस्था हुई है। शारीरिक दण्ड प्रायः बन्द हुआ है। फाँसी की सजा के खिलाफ भी आन्दोलन होकर वह अब २५ या २६ देशों से उठ गयी है। अभी मालूम हुआ है कि इसके कारण हत्याएँ नहीं बढ़ी हैं। यानी कठोर दण्ड के भय से मनुष्य अपराध से अलग रहता है, यह अप्रमाणित हो गया है।

बाल अपराधियों के लिए भी आजकल सभ्य देशों में अलग व्यवस्था है। उनके लिए अलग कोर्ट हैं, जहाँ कानून की नुक्ताचीनी नहीं, पर परिस्थिति को खयाल में लेकर विचार होता है। फिर इनके लिए अलग जेल भी हैं, जहाँ शिक्षण आदि की व्यवस्था होती है। कहीं कहीं तो इस प्रकार जेल के बदले इनको शिक्षण-संस्थाओं में भेजते हैं। फिर उनकी निगरानी या देखभाल के लिए कर्मचारी भी नियुक्त किये जाते हैं। इस तरह कानून तथा दण्ड की परम्परा में परिवर्तन हो रहे हैं।

इधर सुधार की दृष्टि से भी दुनिया में काफी महत्त्वपूर्ण प्रयोग हुए हैं। एक प्रयोग रूस में 'मकरेंको' (Makarenko) नाम के शिक्षक ने किया। वहाँ सन् १९१७ की क्रांति के बाद बहुत लोग लड़ाई में तथा अकाल से मरे। घर उजड़े, तो हजारों लड़के-लड़कियाँ अनाथ होकर आवारा घूमते थे। ये टोलियाँ बनाकर लूटमार, डाका और हत्याएँ करते थे। रूसी सरकार ने इन्हें सुधारने के लिए संस्थाएँ शुरू कीं। एक संस्था का जिम्मा 'मेकरेंको' को दिया गया। उसने छह लड़के लेकर काम शुरू किया। वे ऐसे लड़के थे कि एक ने तो पहले ही दिन शहर में जाकर एक हत्या कर डाली। फिर भी 'मेकरेंको' ने तथा उसके साथियों ने श्रद्धा से काम किया। ऐसे सैकड़ों लड़के-लड़कियों को सुधारकर अच्छे नागरिकों में परिणत किया। इनकी अपनी कहानी 'द रोड टु लाइफ' पढ़ने लायक है। इनके काम का मूल मंत्र था—प्रेम, विश्वास तथा सामूहिक जीवन का असर। उन्होंने इन जवान लड़के-लड़कियों पर भरपूर प्रेम वर्षा की तथा उनके हृदय में सुप्त सद्भावना पर श्रद्धा रखी। सामूहिक जीवन भी उन्होंने वहाँ ऐसा रखा, जिसका असर हुए बिना नहीं रहता था।

दूसरे एक व्यक्ति ने अमेरिका में एक प्रयोग किया। उसका नाम था 'फ्लोइड स्टार' (Floyd Starr)। वे भी बाल अपराधियों के कोर्ट से उनको लेकर अपने आश्रम

जैसी संस्था में रखते थे। उनका भी सिद्धान्त प्रेम तथा विश्वास था। वे चोर लड़कों को कैश-बाक्स (तिजोरी) का जिम्मा दे देते थे। उन्होंने भी असामान्य सफलता प्राप्त की। इस प्रकार के और भी कई छोटे मोटे प्रयोग कई देशों में हुए तथा हो रहे हैं।

अभी दूसरे महायुद्ध के बाद इटली में एक ईसाई पादरी ने अनाथ लड़कों से समरस होने तथा उनका विश्वास प्राप्त करने के लिए खुद फटे कपड़े पहनकर उनके साथ स्टेशन पर कुलीगिरी करने लगा। वे कहाँ से कुछ भोजन की वस्तु चोरी करके लाते थे तथा आपस में बाँटते थे। तो यह भी कुछ चीज लाता था और चोरी करके लाया है, इस प्रकार की धारणा लड़कों को होती थी। उसने इन्हें एक टूटे गिरजे में इकट्ठा रहने के लिए प्रेरित किया। गिरजे की मरम्मत करवायी, फुटबाल क्लब बनाया, फिर लिखना-पढ़ना भी शुरू किया। बाद में वहाँ एक अच्छी संस्था खड़ी हो गयी।

हमारे देश में गुजरात में, रविशंकर महाराज ने पाटणवाड़िया नाम की जरायम पेशा जाति को सुधारने का काम सन् १९२२ से १९३६ या '३७ तक किया और हजारों अपराधियों को सद्‌जीवन में प्रवेश कराया। इनकी कहानी 'गुजरात के महाराज'* में रोचक ढंग से दी गयी है। उनका पुलिस के साथ सम्बन्ध था और पुलिस उनके काम में काफी मदद करती थी।

वे किस तरह अकेले हिम्मत के साथ डाकुओं की टोली में पहुँचे उसका वर्णन उसमें दिया हुआ है। रात को अकेले चल रहे थे। एक आदमी ने रोका, कहा, कौन? वापस चले जाइए। उसे महाराज पहचानते थे। पूछा 'कौन पूँजा?' उत्तर मिला 'हाँ, वापस जाइए। निकम्मे लोग खड़े हैं।' महाराज ने पूछा 'डाकू?' 'हाँ।'

लेकिन वे आगे बढ़े और टोली के पास पहुँचे। उनसे पूछा गया तो बताया 'मैं भी डाकू हूँ।' डाकुओं को आश्चर्य हुआ। यह कैसा डाकू? फिर महाराज ने समझाया 'हमारी भी एक डकैती है। पर वह अंग्रेज सरकार पर है। वह हमारे गरीब भाइयों को लूटकर खाती है। हम उसे निकाल बाहर करना चाहते हैं। गांधी हमारा सरदार है।' इत्यादि। इस तरह उन्होंने उनसे समरसता स्थापित की।

चोरी करना, डाका डालना कैसे किसी किसी समाज का प्रतिष्ठित रीति रिवाज बना हुआ होता है उसका भी रोचक वर्णन उसमें है। एक डाकू के साथ उनका अच्छा सम्बन्ध था। महाराज ने उसे समझाया कि 'तुम्हारी जमीन जायदाद सब तो है। अब क्या बुरा काम करते हो?' वह जवाब देता है 'महाराज! मैंने आज तक किसीकी माँ बहन की ओर कुदृष्टि नहीं डाली। किसीसे विश्वासघात नहीं किया या किसीको धोखा नहीं दिया, फिर मुझ पर भगवान् प्रसन्न क्यों न होंगे?' महाराज 'पर तुमने अनेक चोरियाँ की हैं न?' 'हाँ, पर क्या हुआ? यह तो हमारी

---

* सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन से प्रकाशित।

खेती है। जितना कष्ट करते हैं, उतना मिलता है। महाराज, जरा विचार कीजिए, मैं कभी जिस मुहल्ले में नहीं गया, वहाँ जाऊँ, पेटी पिटोरा पड़ा हो, वहीं पहुँचूँ हाथ में साँप बिच्छू न आकर धन ही आ जाय, यह किसने कराया ?—इस प्रकार लक्ष्मी हमारे हाथ स्वयं आ जाती है। लक्ष्मी तो धनवानों के घरों में बन्दी होकर आकुल होकर पुकारती है कि मुझे यहाँ से छुड़ाओ, छुड़ाओ। हम उसे मुक्त कर देते हैं। हम तो मजदूर हैं हम जो लाते हैं, वह सब पसीने का तो नहीं, पर हमारे हाथ में तो परिश्रम के अनुरूप लक्ष्मी रहती है। बाकी तो पुलिस, अधिकारी, मुखिया तथा माल रखनेवाले के पास चली जाती है। जो रहती है, वह तो हमारे भाग्य की ही होती है।' एक दूसरे का प्रसंग है, जो कहता है कि 'यह तो हमारे कुल का धन्धा है। इसे छोड़ेंगे तो पाप होगा।'

विनोबाजी ने चम्बल घाटी में जो महान प्रयोग किया, वह भी हमारे सामने है ही। आधुनिक सभ्यता में, औद्योगिक समाज में, शहरों में, जिस प्रकार के अपराधी होते हैं, चम्बल की समस्या इससे भिन्न है। वहाँ तो इस अपराध-प्रवणता के पीछे एक तरफ परम्परा तथा दूसरी तरफ आर्थिक कठिनाई है।

पुराने जमाने में कई समाजों में तथा राजपूतों में भी वीरता की जो परम्परा थी, उसमें जरा सी बेइज्जती का बदला हत्या से लेना, खून का बदला खून से लेना इत्यादि बातों की बड़ी इज्जत थी। बाहर की दुनिया तो बदल चुकी है, पर चम्बल एक तरह से पुराने मध्य युग में रह गया है। फिर वहाँ जमीन नदी से कट जाने के कारण बहुत कम है। खेती से गुजारा मुश्किल से होता है। दूसरे धन्धे हैं नहीं। इसलिए गरीब लोग गाय बैल चुराते हैं और ऊपरी वर्ग के लोग डाके आदि डालते हैं।

आर्थिक स्थिति के कारण कई स्थानों पर डाका डालना, चोरी करना एक तरह से पूरक धन्धा बन गया है। जैसे अरबस्तान में और राजस्थान में भी रेगिस्तान के कारण खेती तो नहीं होती—वहाँ हमेशा रेगिस्तान तो नहीं था, जमीन के गलत उपयोग तथा आबोहवा में परिवर्तन के कारण वहाँ रेगिस्तान बने—वहाँ के आदिवासियों का पेट पालना था, तो सहज लूटमार करना भी एक धन्धा बन गया। व्यापारी तथा तीर्थ यात्रियों को लूटना उनका धन्धा हो गया। वे तो अपने समाज तथा परिवार में हमारे-आपके जैसे ही अच्छे सज्जन, पड़ोसी, पिता या पति होते हैं। पर अजनबी मनुष्यों को मारने में उनको वैसे ही हिचक नहीं होती, जैसे दूसरों को बकरा काटने में।

एक भाई ने राजस्थान के एक खादी-ग्रामोद्योग केन्द्र का वर्णन किया था, जहाँ धन्धे मिलने के कारण अपराध बहुत कम हो गये थे और इसके लिए वहाँ की पुलिस ही केन्द्र का आभार मानती थी। बाद में केन्द्र का उत्पादित माल बिक न सकने के कारण केन्द्र का काम समेट लिया गया और अपराध भी फिर बढ़ गये।

कुछ काम तो मूल्य में परिवर्तन होने के कारण अपराध माने जाते हैं। कुछ दिन पहले कोरापुट के एक गाँव में हैजा या चेचक फैली, तो वहाँ के लोगों की धारणा हुई कि एक बुढ़िया के मन्त्र तन्त्र के कारण यह हो रहा है, तो एक जवान ने उस

बुढ़िया को मार डाला। उसे यकीन था कि वह समाज की उत्तम सेवा का काम कर रहा है। पुलिस ने उसे पकड़ा और जेल भेजा तो उसे अचरज हुआ। उस समाज में तो यह काम अपराध नहीं था।

इस प्रकार अपराध के मुख्य कारण निम्न प्रकार हैं

१ परम्परा के कारण गलत मूल्य बोध, २ आर्थिक परिस्थिति, ३ पारिवारिक तथा सामाजिक परिस्थिति के कारण मानसिक विकृति, ४ एक चौथा कारण है जो विशेष रूप से शहरों में है और वह है पराक्रम वृत्ति के लिए किसी सन्मार्ग का अभाव। मनुष्यों में खास करके जवानों में, कुछ पराक्रम करने की मूलभूत वृत्ति होती है यह हमने देखा है। खतरा मोल लेने में एक सार्थकता का अनुभव उन्हें होता है। जुआ खेलने में भी यही पराक्रम, खतरा मोल लेने की भावना होती है। शहर के जवानों को, खासकर गरीबों को इस प्रकार पराक्रम का अवसर शायद ही मिलता है। इस तरह उनमें से जो तेजस्वी या साहसी होते हैं वे अपराध की ओर खींचे जाते हैं।

इनके लिए पराक्रम का मार्ग निकालना भी अपराध निवारण के लिए आवश्यक है। इसलिए क्लब आदि का संगठन तथा उनके जरिये खेलकूद, एक्सकर्शन, पहाड़ पर चढ़ना, समाज-सेवा आदि की व्यवस्था की जा सकती है। इस प्रकार के प्रयत्न पश्चिमी देशों में हो भी रहे हैं। ●

काम कैसे करायें ? २६

मनुष्य की विविध मौलिक प्रेरणाएँ या हाजतों (Need) के बारे में हम चर्चा कर चुके हैं। भूख, प्यास, यौनता, पराक्रम, भय, प्रेम आदि से प्रेरित होकर वह तरह तरह से बर्ताव करता है। उसे औरों के साथ समाज में रहना पड़ता है, इसलिए लोगों की एक दूसरों की प्रेरणाओं में टकराहट की सम्भावना रहती है। भूख लगी, दूकान में रोटी देखी और दौड़कर उठा ली, ऐसा तो नहीं चलता। सभ्यता तो यहाँ तक कहती है कि खाना परोसा गया हो तो भी औरों की राह देखनी चाहिए, भोजन पर टूट पड़ना नहीं चाहिए। इस तरह अपनी मौलिक प्रेरणाओं का संयमन सभ्यता और तालीम का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग रहा है।

संभवतः यौन प्रेरणा के संयमन का महत्त्व सबसे अधिक रहा है। समाज के बहुत सारे रीति रिवाज और कानून यौन प्रेरणा के संयमन से सम्बद्ध हैं। उसके बाद का दूसरा स्थान है क्रोध और आक्रमण वृत्ति का। मनुष्य की एक दूसरे की इच्छाओं और हरकतों में टकराहट होती है तो गुस्सा आता है, दूसरे को अपने मार्ग से हटाकर अपनी इच्छा पूरी करने को मनुष्य प्रेरित होता है। पर सामाजिक सुव्यवस्था और अमन चैन की दृष्टि से इस प्रकार स्वैर आचरण पर रोक लगायी जाती है।

सामाजिक रीति-रिवाज और राज्य का अधिकांश तन्त्र इसीके लिए होता है। यह सही है कि मौजूदा समाज मे ऊँचे स्तर के लोगो के लिए स्वैर आचरण की अधिक सहूलियतें होती हैं और अमन-चैन—सामाजिक सुव्यवस्था—'ला एण्ड आर्डर'—का मतलब होता है नीचे के तबके के अधिक बहुसख्यक जनता को सयम में रखना, जिससे ऊपरवालों की सम्पत्ति, सत्ता और स्वैर आचरण मे वह खलल डाल न सके। पर यह पहलू यहाँ चर्चा का विषय नहीं है। यहाँ तो हम इसी बात की ओर ध्यान दिलाना चाहते हैं कि 'सयमन' यानी लोगों को अपनी स्वैर प्रेरणाओ के अनुसार बर्ताव करने से रोकना सभ्यता, समाज-व्यवस्था तथा तालीम का महत्त्वपूर्ण काम रहा है।

किसी-किसी समाज मे, जैसे अपने देश में हिन्दू धर्म मे, इस सयमन के प्रयत्न का फैलाव यहाँ तक बढ गया था कि मनुष्य मनुष्य ही नहीं रह गया, उसका सारा पराक्रम मारा गया और वह विधि-निषेधों के बन्धन में जन्म से मृत्यु तक बँधा हुआ एक कठपुतला बन गया। 'इसको मत छुओ', 'उसका छूआ हुआ पानी मत पिओ' से लेकर 'जहाज से समुद्र यात्रा न करो', तक हजारों प्रकार के निषेध अपने देश मे थे और कमो-बेश इसी प्रकार के विधि-निषेध दूसरे देशों और समाजों मे भी थे।

हमारे देश मे अंग्रेज आये और दूसरे देशों में वे तथा अन्य साम्राज्यवादी गये, तो अपना-अपना राज मजबूत करने के लिहाज से उन्होंने और भी नये-नये कडे प्रतिबन्ध लगाये। पहले के विधि-निषेध मुख्यतया धार्मिक थे, विदेशी राज के विधि-निषेध कानूनी हुए। पर दोनों में समानता थी। दोनो का साधन भय था। एक मे किसी अदृश्य शक्ति का भय, परलोक का भय, सामाजिक बहिष्कार का भय, दूसरे मे पुलिस, कोर्ट, जेल और फाँसी का। इन सारे भयों की तालीम बचपन से ही शुरू होती है और उसके साथ माता-पिता के डराने-धमकाने का भी समावेश होता है। व्यक्तित्व पर भय का किस प्रकार बुरा असर होता है, बाहर से लादे जानेवाले प्रतिबन्ध और दबावों का क्या असर होता है, इसका कुछ विवेचन हमने पिछले अध्यायों मे किया है। उसका एक सामाजिक परिणाम यह होता है कि समाज निश्चल, जड बन जाता है। उसमें कोई महत्त्व का परिवर्तन होता नहीं।

हमारे देश के गाँवों में जो कारीगर होते है—तेली, बुनकर, कुम्हार आदि—उनके पास घानी, करघा, चाक, भट्ठी आदि उनके अपने कुछ औजार होते है। पहले उन पर यह सामाजिक बन्धन था कि कोई अपना औजार या साधन बदल नहीं सकता। आज भी यह प्रतिबन्ध कई जगह काम कर रहा होगा। कोई तेली एक बैल की घानी इस्तेमाल करता हो तो दो बैलवाला नहीं ले सकता, उससे उसकी आमदनी बढने की गुञ्जाइश हो तो भी। बुनकर अमुक प्रकार का करघा या ताना बनाने का अमुक तरीका काम मे लाता हो, तो वह उसे बदल नहीं सकता। इसी प्रकार हर मामले मे चलता है।

पुराने जमाने मे, यानी आज से दो ढाई सौ साल पहले तक, वैज्ञानिक ज्ञान बहुत ही सीमित था और इसीलिए तकनीकी विकास की सभावनाएँ अत्यन्त सीमित थीं। उसी

तरह सामाजिक आदर्शों का स्तर भी नीचा था। छुआछूत, गरीबी अमीरी आदि के भेद सर्वमान्य थे। इसलिए किसी प्रकार के परिवर्तन की माँग नहीं क बराबर थी और खास परिवर्तन भी होता नही था इसलिए लोगों की दृष्टि भी स्थिरतावादी बन गयी थी। ऐसी स्थिति मे रोकथामो की और निषेधों की भरमार से अधिकतर लोगो को कोई खास दिक्कत महसूस नही होती थी।

लेकिन पुराने जमाने मे रोकथाम की भरमार होते हुए भी उसका उल्टा सवाल यानी लोगो को समाज की दृष्टि से आवश्यक और सराहनीय कामो के लिए प्रेरित करने का सवाल भी था। फौज बहादुरी से लड़े मजदूर ठीक ठीक मेहनत करे विद्यार्थी अच्छी पढाई करे—ये सारे सवाल हमेशा समाज के सामने रहे हैं। परिवार, ज्ञाति तथा गाँव मे परस्पर सद्भाव और भाईचारा बना रहे तथा बढे, यह भी सामाजिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण समझा जाता रहा है। दु ख निवारण के लिए करुणा और दान वृत्ति को प्रोत्साहित किया गया है।

लोगो को अमुक प्रकार से प्रेरित करने के लिए तरह तरह के तरीके आज तक अपनाये जाते रहे। फौज क सिपाहियो को पराक्रम के साथ लडने के लिए जोशील गानो और बाजो का उपयोग होता है। उनकी वीरता की सराहना की जाती है। तमगे दिये जाते हैं नकद इनाम दिये जाते हैं। विजित प्रदेश म लूटमार करने की तथा वहाँ की स्त्रिया पर बलात्कार करने की भी छूट दी जाती है। फिर फौज के पीछे मिलिटरी पुलिस भी रहती है, जो पीछे हटनेवाले या भागनेवाले सिपाही को पकडती है और उसको मौत की सजा दी जा सकती है। इस तरह कई प्रकार के उपायो का इसम उपयोग होता है।

मजदूरो से काम करवाने क लिए भी अलग अलग उपाय काम म लाये गये ह। एक जमाने म गुलामी की प्रथा थी। उसके पीछे मान्यता यह थी कि मजदूरो पर पूरा नियत्रण रखा जाय उनको जरा भी आजादी न दी जाय, तो ही उनसे काम लिया जा सकेगा। चाबुक और कोडो का उपयोग उन पर खुलकर होता था। गुलामो की जान ले लेना आम बात थी। अपने गुलाम की हत्या कानूनी अपराध नहीं समझा जाता था।

अफ्रीका म गोरे लोग पहुँचे और वहाँ कोको काफी आदि क बगीचे, सोना, हीरा चाँदी ताँबा कोयला आदि की खान तथा तरह तरह के दूसरे उद्योग उन्होने शुरु किये तो उनम वहाँ क स्थानीय आदिवासियो को काम पर लगाने का सवाल उठा। तब वे लोग खेती, शिकार आदि से अपना गुजारा करते थे उसी परिवेश क अनुरूप उनका जीवन चलता था। बगीचे या खान मे आकर काम करने पर मजदूरी तो मिलनेवाली थी पर पैसे से खरीदी नेव [illegible] की उनको जरूरत महसूस नही होती थी। उस स्थिति म उनको [illegible] क [illegible] प्रश्न था।

गोरो ने इसके लिए

सालाना चालीस पचास

के लिए पैसा कमाना जरूरी हुआ और तब उन्हें कारखानों में मजदूरी करने के लिए मजबूर होना पड़ा। नहीं तो इतना पैसा कहाँ से लाते ?

गुलामी और जबरदस्ती के अलावा तीसरा एक अच्छा आकर्षण मजदूरी है। काम करने पर मजदूरी मिलेगी, इसलिए लोग काम करने को प्रेरित होते हैं। ज्यादा काम करने पर ज्यादा मजदूरी मिलेगी, तो ज्यादा करेगा। इस उद्देश्य से कई धन्धों में तथा कारखानों में 'पीस रेट सिस्टम (ठीके की प्रथा) होता है। जैसे कोई एक चरखा बनाने पर दो रुपये दिये, दिनभर में एक बनाया तो दो रुपये, चार बनाये तो आठ रुपये।

आज के जमाने में सिपाही, मजदूर, विद्यार्थी आदि को प्रेरित करने का सवाल तो है ही तथा दूसरे सवाल भी खड़े हुए हैं। पूँजीवादी राष्ट्रों में व्यापारियों के सामने लोगों को नये नये सामान तथा अधिक सामान खरीदने के लिए प्रेरित करने का सवाल होता है। लोकतान्त्रिक देशों में चुनावों के अवसर पर मतदाताओं को अपने अपने पक्ष का मत देने के लिए प्रेरित करने का सवाल होता है। एकतन्त्रवादी (अधिनायकवादी) राष्ट्रों में तथा कुछ हद तक लोकतान्त्रिक राष्ट्रों में भी लोगों को सरकार का समर्थन करने तथा उसकी योजनाओं के अनुकूल बरतने के लिए प्रेरित करने का सवाल आता है।

इन दिनों मनोविज्ञान की विविध शाखाओं के विकास के साथ साथ उससे उपलब्ध ज्ञान का उपयोग उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए करने का सिलसिला चल पड़ा है। 'भीड़ का मनोविज्ञान' के अध्याय में हमने इन तरीकों की कुछ छानबीन की है। इन सबमें थोड़े लोग अधिक लोगों को अपनी इच्छा के अनुसार मोड़ने का, उनसे अपना मतलब निकालने का प्रयत्न करते हैं। इसलिए इन सबको शंका की दृष्टि से देखा जाता है और इन तरीकों की नैतिकता का सवाल पैदा होता है। ये शंकाएँ यथार्थ भी हैं। आज समाज के सामने लोगों में सत्-प्रेरणा जगाने का महत्त्व पहले से कई गुना बढ़ गया है।

आजकल हम एक ऐसे जमाने में जी रहे हैं, जिसमें परिवर्तन एक बहुत बड़ा मान्य (तत्त्व) है। विज्ञान की कल्पनातीत प्रगति के कारण उत्पादन, आवागमन, उपचार आदि की तकनीकों में भी अनहोनी प्रगति हुई है और हो रही है। इससे दुनिया में गरीबी मिटाना और हर इन्सान के लिए सुसंस्कृत और समृद्ध जीवन के साधन मुहैया करना संभव हो गया है। सामाजिक मूल्यों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं, जिससे हर प्रकार के भेदभाव को मिटाना सर्वसामान्य ध्येय बनता जा रहा है। हर व्यक्ति को समाज में पूर्ण आदर और सम्मान का स्थान प्राप्त होना तथा अपने अन्दरूनी विकास के लिए पूरी वैयक्तिक स्वतन्त्रता मिलना जरूरी हो गया है। इसलिए एक तरफ इन नये मानवीय मूल्यों के अनुरूप समाज की रचना बदलने की माँग पैदा हुई है और सारी दुनिया में उसके कारण उथल-पुथल मची हुई है। समाज रचना में तरह-तरह के परिवर्तन हो रहे हैं, तरह-तरह के प्रयोग इस दिशा में जगह जगह चल रहे हैं।

तरह सामाजिक आदर्शों का स्तर भी नीचा था। छुआछूत, गरीबी अमीरी आदि के भेद सर्वमान्य थे। इसलिए किसी प्रकार के परिवर्तन की माँग नहीं के बराबर थी और खास परिवर्तन भी होता नहीं था इसलिए लोगों की दृष्टि भी स्थिरतावादी बन गयी थी। ऐसी स्थिति में रोकथामों की और नियंत्रणों की भरमार से अधिकतर लोगों को कोई खास दिक्कत महसूस नहीं होती थी।

लेकिन पुराने जमाने में रोकथाम की भरमार होते हुए भी उसका उल्टा सवाल यानी लोगों को समाज की दृष्टि से आवश्यक और सराहनीय कामों के लिए प्रेरित करने का सवाल भी था। फौज बहादुरी से लड़े, मजदूर ठीक ठीक मेहनत करे, विद्यार्थी अच्छी पढ़ाई करें—ये सारे सवाल हमेशा समाज के सामने रहे हैं। परिवार, जाति तथा गाँव में परस्पर सद्भाव और भाईचारा बना रहे तथा बढ़े, यह भी सामाजिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण समझा जाता रहा है। दुःख निवारण के लिए करुणा और दान वृत्ति को प्रोत्साहित किया गया है।

लोगों को अमुक प्रकार से प्रेरित करने के लिए तरह तरह के तरीके आज तक अपनाये जाते रहे। फौज के सिपाहियों को पराक्रम के साथ लड़ने के लिए जोशीले गानों और बाजों का उपयोग होता है। उनकी वीरता की सराहना की जाती है। तमगे दिये जाते हैं, नकद इनाम दिये जाते हैं। विजित प्रदेश में लूटमार करने की तथा वहाँ की स्त्रियों पर बलात्कार करने की भी छूट दी जाती है। फिर फौज के पीछे मिलिटरी पुलिस भी रहती है, जो पीछे हटनेवाले या भागनेवाले सिपाही को पकड़ती है और उसको मौत की सजा दी जा सकती है। इस तरह कई प्रकार के उपायों का इसमें उपयोग होता है।

मजदूरों से काम करवाने के लिए भी अलग अलग उपाय काम में लाये गये हैं। एक जमाने में गुलामी की प्रथा थी। उसके पीछे मान्यता यह थी कि मजदूरों पर पूरा नियंत्रण रखा जाय, उनको जरा भी आजादी न दी जाय तो ही उनसे काम लिया जा सकेगा। चाबुक और कोड़ों का उपयोग उन पर खुलकर होता था। गुलामों की जान ले लेना आम बात थी। अपने गुलाम की हत्या कानूनी अपराध नहीं समझा जाता था।

अफ्रीका में गोरे लोग पहुँचे और वहाँ कोको, काफी आदि के बगीचे, सोना हीरा चाँदी ताँबा, कोयला आदि की खान तथा तरह तरह के दूसरे उद्योग उन्होंने शुरू किये तो उनमें वहाँ के स्थानीय आदिवासियों को काम पर लगाने का सवाल उठा। तब वे लोग खेती, शिकार आदि से अपना गुजारा करते थे। उसी परिवेश के अनुरूप उनका जीवन चलता था। बगीचे या खान में जाकर काम करने पर मजदूरी तो मिलनेवाली थी पर पैसे से खरीदी जानेवाली चीजों की उनको जरूरत महसूस नहीं होती थी। उस स्थिति में उनको काम में कैसे लगाया जाय यह प्रश्न था।

गोरों ने इसके लिए उन पर 'पोल टैक्स' लगाया। उसके अनुसार हरएक को सालाना चालीस पचास रुपये का टैक्स सरकार को देना होता था। यह टैक्स चुकाने

के लिए पैसा कमाना जरूरी हुआ और तब उन्हें गोरों के उद्योगों में मजदूरी करने के लिए मजबूर होना पड़ा। नहीं तो इतना पैसा कहाँ से लाते ?

गुलामी और जबरदस्ती के अलावा तीसरा एक अच्छा आकर्षण मजदूरी है। काम करने पर मजदूरी मिलेगी, इसलिए लोग काम करने को प्रेरित होते हैं। ज्यादा काम करने पर ज्यादा मजदूरी मिलेगी, तो वैसा करेंगे। इस उद्देश्य से कई धन्धों में तथा कारखानों में 'पीस-रेट सिस्टम' (ठीके की प्रथा) होता है। बढ़ई को एक चरखा बनाने पर दो रुपये दिये, दिनभर में एक बनाया तो दो रुपये, चार बनाये तो आठ रुपये।

आज के जमाने में सिपाही, मजदूर, विद्यार्थी आदि को प्रेरित करने का सवाल तो है ही तथा दूसरे सवाल भी खड़े हुए हैं। पूँजीवादी राष्ट्रों में व्यापारियों के सामने लोगों को नये-नये सामान तथा अधिक सामान खरीदने के लिए प्रेरित करने का सवाल होता है। लोकतान्त्रिक देशों में चुनावों के अवसर पर मतदाताओं को अपने-अपने पक्ष को मत देने के लिए प्रेरित करने का सवाल होता है। एकच्छत्रवादी (अधिनायकवादी) राष्ट्रों में तथा कुछ हद तक लोकतान्त्रिक राष्ट्रों में भी लोगों को सरकार का समर्थन करने तथा उसकी योजनाओं के अनुकूल बरतने के लिए प्रेरित करने का सवाल आता है।

इन दिनों मनोविज्ञान की विविध शाखाओं के विकास के साथ-साथ उससे उपलब्ध ज्ञान का उपयोग उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए करने का सिलसिला चल पड़ा है। 'भीड़ का मनोविज्ञान' के अध्याय में हमने इन तरीकों की कुछ छानबीन की है। इन सबमें थोड़े लोग अधिक लोगों को अपनी इच्छा के अनुसार मोड़ने का, उनसे अपना मतलब निकालने का प्रयत्न करते हैं। इसलिए इन सबको शंका की दृष्टि से देखा जाता है और इन तरीकों की नैतिकता का सवाल पैदा होता है। ये शंकाएँ यथार्थ भी हैं। आज समाज के सामने लोगों में सत्-प्रेरणा जगाने का महत्त्व पहले से कई गुना बढ़ गया है।

आजकल हम एक ऐसे जमाने में जी रहे हैं, जिसमें परिवर्तन एक बहुत बड़ा माद्दा (तत्त्व) है। विज्ञान की कल्पनातीत प्रगति के कारण उत्पादन, आवागमन, उपचार आदि की तकनीकों में भी अनहोनी प्रगति हुई है और हो रही है। इससे दुनिया से गरीबी मिटाना और हर इन्सान के लिए सुसंस्कृत और समृद्ध जीवन के साधन मुहय्या करना सम्भव हो गया है। सामाजिक मूल्यों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं, जिससे हर प्रकार के भेदभाव को मिटाना सर्वसामान्य ध्येय बनता जा रहा है। हर व्यक्ति को समाज में पूर्ण आदर और सम्मान का स्थान प्राप्त होना तथा अपने अन्दरूनी विकास के लिए पूरी वैयक्तिक स्वतन्त्रता मिलना जरूरी हो गया है। इसलिए एक तरफ इन नये मानवीय मूल्यों के अनुरूप समाज की रचना बदलने की माँग पैदा हुई है और सारी दुनिया में उसके कारण उथल-पुथल मची हुई है। समाज रचना में तरह-तरह के परिवर्तन हो रहे हैं, तरह-तरह के प्रयोग इस दिशा में जगह जगह चल रहे हैं।

दूसरी तरफ नयी नयी तकनीकों के कारण उद्योग धन्धों के साधन तथा संगठन में तेजी से परिवर्तन हो रहे हैं। समाज रचना में भी परिवर्तन हो रहे हैं। इन तकनीकों के मार्फत उत्पादन बढ़ाने तथा इसका अधिक समतापूर्ण बँटवारे द्वारा गरीबी व विषमता मिटाने का सवाल आज दुनिया के, खासकर पिछड़े देशों के सामने है। इन सबके सन्दर्भ में आज लोगों में प्रेरणा जगाने के कई सवाल उठते हैं।

जैसे, हमारे देश में जगह जगह आदिवासी 'झूम' या 'पोडु' खेती करते हैं। जंगल काटकर जला देते हैं और वहाँ खेती करते हैं। फिर दो तीन साल के बाद उस खेत को छोड़कर दूसरी जगह जंगल जलाकर नया खेत बनाते हैं। इससे जंगल बहुत नष्ट होता है और इससे अनाज का उत्पादन भी कम ही होता है।

जंगल की बर्बादी रोकने के लिए कानूनी प्रतिबन्ध और सजा का तरीका अपना कर देखा गया है लेकिन वह पूरा सफल नहीं होता। उनको उत्पादन का दूसरा जरिया न देकर यह बन्द करना भी अमानवता होती है। इसलिए उनसे स्थायी और व्यवस्थित खेती करवाने के लिए उनको जमीन तथा बैल आदि सारे साधन देकर बसाने की कोशिशें हुई हैं। पर ये कोशिश भी अधिकतर असफल रही हैं। व्यवस्थित खेती से उपज अधिक होने पर भी उसमें उनका दिल नहीं मानता तो यह एक सवाल है कि इन लोगों में योग्य प्रेरणा कैसे पैदा की जाय और यह एक ऐसा पेचीदा मामला है जिसमें सिर्फ अधिक उत्पादन की संभावना उनको पूरी पूरी प्रेरणा दे नहीं पाती।

हमारे देश में तथा दूसरे देशों में अनुभव आया है कि गरीब और गरजमन्द लोगों को उत्पादन के बेहतरीन साधन मुहय्या कर देने मात्र से वे उसको स्वीकार नहीं कर लेते। पुराना तरीका उनके जीवन में इस कदर चिपका होता है कि उसको छोड़ कर—आर्थिक लाभ के होते हुए भी—नये जीवन को स्वीकार करने की प्रेरणा उन्हें आसानी से नहीं होती।

हिन्दुस्तान में हम देखते हैं कि पढ़े लिखे नौजवानों को यह प्रेरणा बहुत कम होती है कि पैसे कमाने के लिए किसी व्यापार धन्धे में लगें। इस मामले में प्रान्त प्रान्त के बीच भी फरक दिखाई देता है। पंजाब या गुजरात के नौजवान में इस प्रकार का कुछ तो पराक्रम होता है, असम, बिहार या उड़ीसा में उनके मुकाबले में यह नहीं के बराबर होता है।

भारत में लाखों सरकारी कर्मचारी हैं जो विकास योजना की जिम्मेवारियाँ सँभाले हुए हैं। अमेरिका, रूस या इंग्लैण्ड के साथ तुलना करने पर दीखता है कि इनके द्वारा आज जितना काम हो रहा है उससे कहीं अधिक काम हो सकता था। यहाँ वैज्ञानिक शोधों की बड़ी जरूरत है। देश के आर्थिक और सांस्कृतिक विकास के लिए यह जरूरी है। इसके लिए यह आवश्यक है कि हजारों नौजवान ऊँची अभिलाषा रखकर लगन से ऐसे कामों में लगें। परन्तु अन्य देशों के—चीन के भी—विद्यार्थियों और वैज्ञानिकों की तुलना में यहाँ इस दिशा में हम बहुत पिछड़े हुए हैं

इंजीनियर आदि में इस प्रेरणा की जरूरत है और मजदूरों में भी। हमारे देश में कल-कारखानों में समान प्रकार के साधनों से फी-मजदूर उत्पादन की मात्रा दूसरे उन्नत देशों की तुलना में कम है। यह कैसे बढ़े, यह सवाल है।

इस तरह गाँववाले, व्यापारी, मजदूर, सरकारी कर्मचारी, विद्यार्थी आदि देश के हर तबके के अन्दर अधिक पराक्रम करके उत्पादन बढ़ाने तथा हर प्रकार के विकास के काम को आगे बढ़ाने की जरूरत है। साथ-साथ इस बात की भी जरूरत है कि सह-कार की भावना, सहयोग की आदत तथा एक-दूसरे की मदद करने की वृत्ति भी बढ़े। पुरानी समाज व्यवस्था को बदलकर नये मूल्यों के अनुसार आपस में समानता, भाई-चारा, परस्पर आदर से पूर्ण नये सम्बन्ध कायम करने के लिए लोग प्रेरित हों, समृद्ध तथा सुसंस्कृत जीवन के अनुकूल सफाई, श्रम, शिक्षण आदि की नयी आदतें डालें।

इस तरह आज हमारे सामने परिवर्तन के संदर्भ में नये सवाल प्रस्तुत हुए हैं। एक जमाने में लोगों को रोकना समाज का मुख्य काम था, प्रेरित करना गौण, अब प्रेरित करने की आवश्यकता बहुत अधिक बढ़ गयी है। यह स्पष्ट है कि इसमें भय और सजा के तरीके काम नहीं देंगे। सजा या भय से व्यापारी में उत्पादन बढ़ाने की प्रेरणा कैसे पैदा होगी ? विद्यार्थी को अनुशासन के द्वारा भले ही आज्ञाकारी बना सकते हों, परन्तु उसमें विद्वत्ता और शोध की प्रेरणा कैसे जगायी जाय ? क्या मजदूरों को दबाये रखने से, उनके संगठनों को कमजोर रखने से वे काबू में रहेंगे और अधिक उत्पादन करेंगे ?

स्पष्ट है कि लोगों में स्वयं प्रेरणा पैदा करने की आज आवश्यकता है। उत्पादन बढ़ाने के लिए, अपना काम सुचारु रूप से करने के लिए, नये-नये शोध के लिए, सहयोग और सहभोग के लिए, आपस में अधिक समाधानकारक संबंध कायम करने के लिए तथा संस्कारों में परिवर्तन लाने के लिए लोगों को खुद-ब-खुद प्रेरित होना होगा।

इस प्रकार का आवाहन देकर भाषण बहुत दिये जाते हैं, पर उनका खास असर होता दीखता नहीं है। पैसे का आकर्षण भी पूरा काम नहीं देता। अधिक तनख्वाह पानेवाले सरकारी कर्मचारी अधिक काम नहीं करते। फायदे की संभावना होने पर भी पढ़ा-लिखा नौजवान व्यापार में नहीं पड़ता।

इस प्रश्न के बारे में मनोविज्ञान के शोधों से थोड़ा-थोड़ा प्रकाश पड़ा है। उन मनोवैज्ञानिक उपायों से यद्यपि समस्याओं का पूरा हल तो निकलता नहीं, फिर भी इतना भरोसा पैदा होता है कि अधिक शोध और प्रयोग करने पर पूरा हल निकल आता है।

हमने पिछले एक अध्याय में 'समूहों की गति विधि' पर चर्चा करते हुए लोगों की प्रेरणाओं के कुछ ऐसे बातों का नमूना देखा है, जो नये-से लगते हैं। हमने देखा कि

कारखानों के मजदूरों को अधिक उत्पादन करने की प्रेरणा सिर्फ मजदूरी से नहीं मिलती, बल्कि यह प्रेरणा कारखाने का वातावरण, परस्पर भाईचारा, महत्त्व के निर्णय करने में मजदूरों के भाग लेने का अधिकार और अवसर आदि पर आधारित होती है। फौजों के अनुभव का भी कुछ विवेचन करते हुए हमने देखा कि भाईचारा अधिकारियों के साथ सम्पर्क आदि बातों का कितना महत्त्वपूर्ण असर उनके आचरण पर होता है। उसी प्रकार विद्यार्थियों के मामले में भी यह स्पष्ट हुआ कि आलोचना के बदले प्रोत्साहन और एकतरफा प्रवचन के बदले आपसी चर्चा आदि का कितना महत्त्व है।

भारत के तथा दूसरे पिछड़े हुए देशों के व्यापारियों का कुछ अध्ययन अमेरिका के वैज्ञानिकों ने किया है। उनका कहना है कि ये लोग अपने अपने धन्धों को बढ़ाने के लिए जितना कर सकते हैं उतना नहीं करते, उनमें वैसी प्रेरणा नहीं होती। पूँजीवादी दृष्टि से इन वैज्ञानिकों ने माना है कि व्यापारी अपने-अपने धन्धे के अधिक से अधिक विकास में लगेंगे तो उत्पादन बढ़ेगा और अपने आप देश की तरक्की होगी। हम पूँजीवाद के इस विचार को नहीं मानते कि हरएक को अधिक से अधिक पैसा कमाने में लगना चाहिए। पर इन अमेरिकियों ने भी क्या पाया? यही कि सिर्फ अधिक मुनाफे की लालच व्यापार का फैलाव करने के लिए पर्याप्त नहीं है उसके लिए एक वृत्ति चाहिए, जिसे इन लोगों ने 'एन ऐचीवमन्ट' नाम दिया है। हमने पिछले अध्यायों में जिसे पराक्रम वृत्ति या श्रेष्ठत्व लाभ की वृत्ति कहा है यह वही है। और इन वैज्ञानिकों में से एक 'मैक्लेलण्ड' ने प्रयोग के आधार पर यह दावा किया है कि मन्द मनुष्यों में इस पराक्रम वृत्ति को तालीम के द्वारा बढ़ाया जा सकता है। उसके लिए दो तीन हफ्ते का समय वे पर्याप्त मानते हैं।

इस तालीम के सिलसिले में जिन मुद्दों पर वे जोर देते हैं वे संक्षेप में इस प्रकार हैं :

१ उस व्यक्ति में वे इस श्रद्धा को जाग्रत और दृढ़ करने की कोशिश करते हैं कि वह नया पराक्रम कर सकता है और उसको वैसा करना चाहिए। कोई सम्माननीय व्यक्ति इस प्रकार का भरोसा दिलाता है तो उसका बड़ा असर होता है। माता पिता अपने बच्चों के सामने बड़ा ध्येय रखते है और उनकी क्षमता में श्रद्धा रखते हैं तो बच्चे पराक्रमी होते हैं। इस तथ्य के आधार पर वे भरोसा पैदा करते हैं।

२ उसके ध्यान में यह बात लाते है कि नया पराक्रम वस्तुस्थिति से मेल खाता है यह कोई अवास्तविक ध्येय नहीं है इसके प्रत्यक्ष उदाहरण इक्ट्ठा करते।

३ मनुष्यों के मन में अक्सर मनुष्य या परिस्थितियों के बारे में ऐसे विचार जुड़े होते हैं जिनके कारण वह सरल रूप से सोच नहीं पाता काम कर नहीं पाता। मान लीजिए, किसीके मन में अपने पिता के प्रति भय या द्वेष है तो इससे उसके सही चिन्तन में बाधा आती है। इसकी तह में जाकर अगर वह अपने उस मनोभाव —

कारण का पता लगा लेगा और पिता के साथ अपने सम्बन्ध को नयी दृष्टि से देखना सीखेगा, तो ही वह इस मानसिक प्रतिबन्ध से मुक्त हो सकेगा।

मान लीजिए कि कोई हरिजन है। वह ऊँची जाति के लोगों से अपने को हीन समझने का बचपन से आदी है, तो ऊँची जाति के मनुष्य के साथ बर्ताव करते समय उसके मन में न्यूनता, द्वेष आदि तरह-तरह की भावनाएँ उठेंगी, वह उनके साथ एक सक्षम मनुष्य के नाते बर्ताव कर नहीं सकेगा। उसका मन ऊँची जाति के बारे में जिन विचारों व भावनाओं के पुराने जाल में फँसा हुआ है, उसे बदलकर अगर नयी दृष्टि दाखिल की जा सकेगी, तो ही वह दूसरे प्रकार से बर्ताव कर सकेगा।

इस प्रकार मनुष्य के मन में अपने अनुभवों के साथ ऐसी धारणाएँ और भावनाएँ जुड़ी हुई होती हैं, जो सफलता या पराक्रम में बाधक होती हैं। मिसाल के तौर पर कोई किसी बड़े अफसर से मिलने जाता है, तो दब्बू बन जाता है, खुलकर बहस कर नहीं पाता, कोई अफसर मजदूरों पर ऐसा चिढ़ जाता है कि समस्या पहले से अधिक उलझ जाती है, तब वह अपने प्रयासों में ऐसी परिस्थितियों की मात्र कल्पना से हार मान बैठता है। इन धारणाओं और भावनाओं के जाल को बदलकर सफलता से जुड़ा हुआ नया जाल पैदा करने की कोशिश इस तालीम में होती है।

४ इस नये जाल को प्रत्यक्ष काम से जुड़ने का प्रयत्न होता है। सफल मनुष्यों के जीवन और कृतियों की चर्चा करके इस नयी दृष्टि का व्यावहारिक स्वरूप समझाया जाता है।

५ अपने जीवन की दैनन्दिन घटनाओं से इस नयी दृष्टि को जोड़ना उसे सिखाया जाता है, जिससे अपने जीवन में उसका महत्त्व वह समझ सके।

६ मनुष्य के मन में अपना जो चित्र, अपने बारे में जो धारणा होती है, उसका बहुत असर उसके आचरण पर होता है। यह हमने नवें अध्याय में देखा है। इसलिए अगर मनुष्यों को लगे कि नये ध्येय अपनाने से उसकी प्रतिष्ठा उसकी अपनी आँखों में बढ़ती है, तो वे उसे अपनाने को प्रेरित होंगे। इसलिए तालीम में यह प्रयत्न किया जाता है।

७ नये ध्येय अपनाने से प्रचलित सांस्कृतिक या सामाजिक मूल्यों में कुछ तरक्की होगी, यह अनुभव भी उन नये ध्येयों को अपनाने में मदद करता है। इसलिए ऐसा अनुभव कराने का प्रयत्न होता है।

८ नये ध्येय के अनुसार कुछ निश्चित काम करने का निश्चय करने पर वह ध्येय उसके जीवन में अधिक प्रभावशाली होता है। इसलिए ऐसा निश्चय करने के लिए उसे प्रेरित किया जाता है।

९ अपनी प्रगति का लेखा-जोखा रखने की आदत उसमें डाली जाती है, क्योंकि इससे आगे बढ़ने में मदद होती है।

१० तालीम के वातावरण में व्यक्तियों के प्रति सच्चा आदर होता है और यह

कारखानों के मजदूरों को अधिक उत्पादन करने की प्रेरणा सिर्फ मजदूरी से नहीं मिलती, बल्कि वह प्रेरणा कारखाने का वातावरण, परस्पर भाईचारा, महत्त्व के निर्णय लेने में मजदूरों के भाग लेने का अधिकार और अवसर आदि पर आधारित होती है। फौजों के अनुभव का भी कुछ विवेचन करते हुए हमने देखा कि भाईचारा, अधिकारियों के साथ सम्बन्ध आदि बातों का कितना महत्त्वपूर्ण असर उनके आचरण पर होता है। उसी प्रकार विद्यार्थियों के मामले में भी यह स्पष्ट हुआ कि आलोचना के बदले प्रोत्साहन और एकतरफा प्रवचन के बदले आपसी चर्चा आदि का कितना महत्त्व है।

भारत के तथा दूसरे पिछड़े हुए देशों के व्यापारियों का कुछ अध्ययन अमेरिका के वैज्ञानिकों ने किया है। उनका कहना है कि ये लोग अपने-अपने धन्धों को बढ़ाने के लिए जितना कर सकते हैं उतना नहीं करते, उनमें वैसी प्रेरणा नहीं होती। पूँजीवादी दृष्टि से इन वैज्ञानिकों ने माना है कि व्यापारी अपने-अपने धन्धे के अधिक से अधिक विकास में लगेंगे तो उत्पादन बढ़ेगा और अपने आप देश की तरक्की होगी। हम पूँजीवाद के इस विचार को नहीं मानते कि हरएक को अधिक से अधिक पैसा कमाने में लगना चाहिए। पर इन अमेरिकियों ने भी क्या पाया? यही कि सिर्फ अधिक मुनाफे की लालच व्यापार का फैलाव बढ़ाने के लिए पर्याप्त नहीं है, उसके लिए एक वृत्ति चाहिए, जिसे इन लोगों ने 'एन ऐचीवमेंट' नाम दिया है। हमने पिछले अध्यायों में जिसे पराक्रम वृत्ति या श्रेष्ठत्व-काम की वृत्ति कहा है, वह यही है। और इन वैज्ञानिकों में से एक 'मैक्लेलैण्ड' ने प्रयोग के आधार पर यह दावा किया है कि प्रौढ़ मनुष्यों में इस पराक्रम वृत्ति को तालीम के द्वारा बढ़ाया जा सकता है। उसके लिए दो तीन हफ्ते का समय वे पर्याप्त मानते हैं।

इस तालीम के सिलसिले में जिन मुद्दों पर ये भार देते हैं, वे संक्षेप में इस प्रकार हैं :

१. उस व्यक्ति में वे इस श्रद्धा को जाग्रत और दृढ़ करने की कोशिश करते हैं कि वह नया पराक्रम कर सकता है और उसको वैसा करना चाहिए। कोई सम्माननीय व्यक्ति इस प्रकार का भरोसा दिलाता है तो उसका बड़ा असर होता है। माता पिता अपने बच्चों के सामने बड़ा ध्येय रखते हैं और उनकी क्षमता में श्रद्धा रखते हैं तो बच्चे पराक्रमी होते हैं। इस तथ्य के आधार पर वे भरोसा पैदा करते हैं।

२. उसके ध्यान में यह बात लाते हैं कि 'नया पराक्रम' वस्तुस्थिति से मेल खाता है, वह कोई अवास्तविक ध्येय नहीं है, इससे प्रत्यक्ष सवाल हल होंगे।

३. मनुष्यों के मन में अक्सर मनुष्य या परिस्थितियों के बारे में ऐसे विचार जुड़े होते हैं, जिनके कारण वह सफल रूप से सोच नहीं पाता, काम कर नहीं पाता। मान लीजिए, किसीके मन में अपने पिता के प्रति भय या द्वेष है तो इससे उसके सही चिन्तन में बाधा आती है। इसकी तह में जाकर अगर वह अपने उस मनोभाव के

कारण का पता लगा लेगा और पिता के साथ अपने सम्बन्ध को नयी दृष्टि से देखना सीखेगा, तो ही वह इस मानसिक प्रतिबन्ध से मुक्त हो सकेगा।

मान लीजिए कि कोई हरिजन है। वह ऊँची जाति के लोगों से अपने को हीन समझने का बचपन से आदी है, तो ऊँची जाति के मनुष्य के साथ बर्ताव करते समय उसके मन में न्यूनता, द्वेष आदि तरह तरह की भावनाएँ उठेंगी, वह उनके साथ एक सक्षम मनुष्य के नाते बर्ताव कर नहीं सकेगा। उसका मन ऊँची जाति के बारे में जिन विचारों व भावनाओं के पुराने जाल में फँसा हुआ है, उसे बदलकर अगर नयी दृष्टि दाखिल की जा सकेगी, तो ही वह दूसरे प्रकार से बर्ताव कर सकेगा।

इस प्रकार मनुष्य के मन में अपने अनुभवों के साथ ऐसी धारणाएँ और भावनाएँ जुड़ी हुई होती हैं, जो सफलता या पराक्रम में बाधक होती हैं। मिसाल के तौर पर कोई किसी बड़े अफसर से मिलने जाता है, तो दब्बू बन जाता है, खुलकर बहस कर नहीं पाता, कोई अफसर मजदूरों पर ऐसा चिढ़ जाता है कि समस्या पहले से अधिक उलझ जाती है, तब वह अपने प्रयासों में ऐसी परिस्थितियों की मात्र कल्पना से हार मान बैठता है। इन धारणाओं और भावनाओं के जाल को बदलकर सफलता से जुड़ा हुआ नया जाल पैदा करने की कोशिश इस तालीम में होती है।

४ इस नये जाल को प्रत्यक्ष काम से जुड़ने का प्रयत्न होता है। सफल मनुष्यों के जीवन और कृतियों की चर्चा करके इस नयी दृष्टि का व्यावहारिक स्वरूप समझाया जाता है।

५ अपने जीवन की दैनन्दिन घटनाओं से इस नयी दृष्टि को जोड़ना उसे सिखाया जाता है, जिससे अपने जीवन में उसका महत्त्व वह समझ सके।

६ मनुष्य के मन में अपना जो चित्र, अपने बारे में जो धारणा होती है, उसका बहुत असर उसके आचरण पर होता है। यह हमने नवें अध्याय में देखा है। इसलिए अगर मनुष्यों को लगे कि नये ध्येय अपनाने से उसकी प्रतिष्ठा उसकी अपनी आँखों में बढ़ती है, तो वे उसे अपनाने को प्रेरित होंगे। इसलिए तालीम में यह प्रयत्न किया जाता है।

७ नये ध्येय अपनाने से प्रचलित सांस्कृतिक या सामाजिक मूल्यों में कुछ तरक्की होगी, यह अनुभव भी उन नये ध्येयों को अपनाने में मदद करता है। इसलिए ऐसा अनुभव कराने का प्रयत्न होता है।

८ नये ध्येय के अनुसार कुछ निश्चित काम करने का निश्चय करने पर वह ध्येय उसके जीवन में अधिक प्रभावशाली होता है। इसलिए ऐसा निश्चय करने के लिए उसे प्रेरित किया जाता है।

९ अपनी प्रगति का लेखा-जोखा रखने की आदत उसमें डाली जाती है, क्योंकि इससे आगे बढ़ने में मदद होती है।

१० तालीम के वातावरण में व्यक्तियों के प्रति सच्चा आदर होता है और यह

श्रद्धा रखी जाती है कि ये मनुष्य अपनी बुद्धि से अपना आगे का जीवन ठीक ठीक चला सकेंगे। इस प्रकार के आदर और श्रद्धा का भी बड़ा अनुकूल असर होता है।

११ तालीम का वातावरण रोजमर्रे की समस्या और कामकाज से दूर होता है जिससे शान्ति से आत्म निरीक्षण और गहरे चिन्तन का अवसर मिले।

१२ तालीम के बाद इन विद्यार्थियों में परस्पर सम्बन्ध और भाईचारा कायम रखने को प्रोत्साहित किया जाता है क्योंकि मनुष्य नया ध्येय स्वीकार करने के साथ किसी नये समूह का सदस्य भी बनता है, तो उस ध्येय के अनुसार चलने में उसे शक्ति मिलती है।

इस तरह मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर व्यापारियों में नये प्रकार की वृत्ति विकसित करने का यह एक प्रयोग हुआ है। स्पष्ट है कि यह तरीका सरकारी कर्मचारी समाज सेवक, विद्यार्थी आदि सबके लिए उपयोग किया जा सकता है।

लोगों को नया विचार समझाने का काम जहाँ सफल होता है वहाँ छानबीन करने पर शायद पता चलेगा कि उपर्युक्त बातों का कुछ न कुछ उपयोग हुआ है। पर जैसे मैंने पहले कहा है इस समय मनोविज्ञान की खोजों से दिशा सूचन ही मिलता है आखिरी हल नहीं। उसके लिए अधिक ज्ञान की जरूरत है।

इससे आगे सवाल पैदा होता है कि समाज व्यवस्था तथा सामान्य शिक्षण व्यवस्था में ही क्यों न परिवर्तन और पराक्रम की प्रेरणा का समावेश हो। क्योंकि आखिर समाज-व्यवस्था सामाजिक मूल्यों की शृंखला और उस समाज के सदस्यों के प्रेरणा-स्रोतों में परस्पर गहरा सम्पर्क ही तो है। समाज-व्यवस्था के अनुसार समाज के मूल्यबोध बनते हैं मूल्यबोधों के आधार पर मनुष्यों का आचरण बनता है और उन आचरणों के आधार पर समाज का स्वरूप।

समाज-व्यवस्था

आचरण की प्रेरणा ←— मूल्यबोधों की शृंखला

इस अध्याय के आरम्भ में मैंने उल्लेख किया है कि भारतीय समाज में निषेधों की भरमार होने के कारण पराक्रम की वृत्ति दब गयी है। उसमें मैंने जाति भेद और जातिगत बंधनों के कुछ उदाहरण दिये हैं। इनके अलावा जातिभेद पराक्रम की प्रेरणा में एक बड़ी बाधा इसलिए भी है कि उसको माननेवाला उससे बाहर का कोई मार्ग अपनाने की बात सोच ही नहीं सकता।

फिर अपने समाज में अधिकारवाद (अथॉरिटेरियनिज्म) की भी भरमार है। इसके सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं। लड़के लड़कियों की शादी में उनकी राय का कोई सवाल नहीं होता। पढ़ाई में भी अक्सर पिता ही लड़के की पढ़ाई का विषय तय कर देते हैं। पिता के सामने बच्चे मुँह तक खोल नहीं सकते। इस अधिकारवादी स्थिति के कारण अभिक्रम और पराक्रम बचपन से ही दब जाते हैं। इसके कारण एक निर्भरशील वृत्ति पैदा होती है। अपने पाँवों पर खड़े होने की अपनी

जिम्मेदारी पर काम करने की हिम्मत नहीं होती। ऊँचे तथा मध्यम वर्गों में शारीरिक श्रम से बचने की एक परम्परा भी चल पडी है, जिसके साथ पराक्रमहीनता भी जुटी हुई है।

वैसे ही शिक्षण व्यवस्था में भी अधिकारवाद की भरमार के कारण विद्यार्थियों को अध्यापकों के साथ खुलकर चर्चा करने का अवसर नहीं मिलता है। अध्यापक के कथन की आलोचना करना गुस्ताखी समझी जाती है। इससे स्वतन्त्र विचार-शक्ति और निर्णय का विकास कैसे होगा? इसके अलावा ऊपरी अनुशासन पर बहुत अधिक भार दिया जाता है और पराक्रम के कामों को किसी प्रकार का प्रोत्साहन या मौका नहीं दिया जाता। अधिकारवाद के दुष्परिणामों की कुछ चर्चा हमने पिछले अध्याय में की है। समाजशास्त्री 'लिण्टन' ने समाज परिवर्तन की आवश्यकता के सन्दर्भ में अधिकारवाद से पैदा होनेवाली एक समस्या की ओर ध्यान खींचा है।

समाज परिवर्तन की दृष्टि से जनता में जाकर काम करने के लिए बहुत सारे गैरसरकारी तथा सरकारी सेवकों को आश्रमों में तथा अन्य सस्थाओं में तालीम दी जाती है। उसमें उनको नयी दृष्टि और नयी आदतें सिखायी जाती है। जैसे, छुआछूत न मानना, शरीर-श्रम, सफाई इत्यादि। परन्तु सस्था से निकलकर गाँव में काम करने जाते हैं, तो उनको अपेक्षित सफलता नहीं मिलती। ऐसा क्यों होता है?

'लिण्टन' ने इसका विश्लेषण इस प्रकार किया है। समाज में परिवर्तन लाने के लिए आवश्यकता इस बात की होती है कि लोग नये सिरे से सोचने के लिए प्रेरित हो और पुरानी परम्परा को छोडकर नयी को स्वीकार करने की हिम्मत कर। यानी अधिकारवाद के दायरे में फँसकर जिस लीक को उन्होंने पकड रखा था, उससे बाहर निकलें। परन्तु सस्थाओं में सेवकों को जो तालीम दी जाती है, उसमें अक्सर अपनी स्वतन्त्र-बुद्धि और निर्णय-शक्ति के उपयोग की तालीम नहीं दी जाती। सामान्यतया सेवक खुद एक अधिकारवादी वातावरण में पला हुआ होता है। उसे उस समाज में जो भी प्रचलित मूल्य होते हैं, उनको मान लेने की तथा सारे प्रचलित रीति-रिवाज और नियमों का पालन करने की आदत होती है। सस्था में उसको दूसरे प्रकार के नियम और रीति-रिवाज दिखाई देते है, तो वह वहाँ उन्हे मान लेता है। इस तरह समूह में प्रचलित रीति रिवाज, नियम और मूल्यों को मान लेने की उसकी आदत कायम रहती है। उनका मूल्याकन करके उनके खिलाफ जाने के लिए आवश्यक स्वतन्त्र विचार-शक्ति उसमें पनपती नहीं। तो फिर वह समाज में जाकर लोगों को परिवर्तन की प्रेरणा कैसे दे?

इसलिए 'लिण्टन' ने एक तालीम की योजना शुरू की थी, जो हिन्दुस्तान में चल रही थी, जिसमें अपनी स्वतन्त्र विचार-शक्ति और निर्णय शक्ति का विकास ही मुख्य उद्देश्य था। उस शिक्षा-केन्द्र के अनुभवों का वर्णन बहुत ही रोचक है। तालीम की प्रक्रिया उस केन्द्र में पहुँचने के क्षण से ही शुरू होती थी। जैसे, शिविरार्थी की अपेक्षा होती थी कि वहाँ पहुँचने पर उसके लिए कोई स्थान पहले से निश्चित करके रखा गया

होगा। परन्तु उससे कहा जाता था कि जितने घर खाली हैं, उनमें चाहे जिसमें आप रहें। तो इससे अधिकतर शिविरार्थियों को बड़ी झुँझलाहट होती थी। इसी तरह हर मामले में उन्हें स्वतः चिन्तन और निर्णय करने के लिए मजबूर किया जाता था।

फिर अधिकारवादी व्यक्तित्व में ऊँच नीच की दृष्टि मजबूत होती है। ये हमारे वरिष्ठ हैं, तो इनसे इस तरह पेश आना चाहिए, ये हमारे कनिष्ठ हैं तो इनसे दूसरे प्रकार से पेश आना चाहिए यह आदत पड़ी हुई होती है। वरिष्ठ वह है जो उस पर अधिकार चलाये और कनिष्ठ वह जिस पर वह अधिकार चला सके। इन दो के अलावा तीसरा बराबरी का सम्बन्ध उसके दिमाग में पैठ नहीं सकता। उसको यह अपेक्षा होती है कि उस पर कोई 'वरिष्ठ' हो, पर साथ साथ उस 'वरिष्ठ' के लिए उसके मन में द्वन्द्वात्मक (दोहरी) भावना होती है—आनुगत्य की और असन्तोष की। माता पिता के प्रति बचपन में इस प्रकार द्वन्द्वात्मक भावना कैसे पैदा होती है, उसका काफी विवेचन पहले हो चुका है। 'वरिष्ठ' यानी माता पिता के स्थान में रहनेवाला और इसलिए माता पिता के प्रति जो भावना होती है, उसका आरोप उस 'वरिष्ठ' के प्रति होता है। वरिष्ठ के साथ खुली चर्चा न करना उसकी आलोचना न कर सकना उसके सामने अपने भावों को खुले रूप से प्रकट न करना आदि सारे उसके अवरोध (इनहिबिशन) होते हैं। इन सबसे मुक्त करके सबके साथ बराबरी से बर्ताव करने की दृष्टि यहाँ दी जाती है। इसके लिए हर घटना और आपसी सम्बन्धों के हर प्रसंग का ब्योरेवार विश्लेषण होता है खुलकर चर्चा होती है चिन्तन चलता है जिससे सचमुच दृष्टि ही बदल सके। 'लिटन का कहना है कि इस प्रकार की तालीम का बहुत अच्छा परिणाम आया है।

हमने इस बात की चर्चा की कि लोगों में पराक्रम वृत्ति और कर्म प्रेरणा पैदा करने तथा परिवर्तन स्वीकार करने के लिए प्रेरित करने का महत्त्व क्या है। समाज व्यवस्था में तथा शिक्षण व्यवस्था में जिन त्रुटियों के कारण इन गुणों का अभाव होता है, वैसी कुछ मोटी मोटी त्रुटियों का उल्लेख किया और इस प्रकार की प्रेरणा पैदा करने की दृष्टि से किये गये कुछ शैक्षणिक प्रयोगों के उदाहरण दिये। इस समय हम इतना ही कह सकते हैं कि यह एक बहुत ही गहरा और महत्त्वपूर्ण विषय है। मनोविज्ञान के द्वारा इस पर जितना प्रकाश पड़ा है उससे इस सन्दर्भ में उठनेवाले बहुत ही थोड़े सवालों का स्पष्ट उत्तर मिल सका है परन्तु उससे यह आशा बँधती है कि इन दिशाओं में अधिक शोध और प्रयोगों से नये मार्ग खोजने में सहायता मिलेगी।